कुज्ञान से अनन्त सुज्ञान गीताञ्जली

(सूक्ष्म जीवों के ज्ञान से परमात्माओं के ज्ञान)

(गद्य-पद्यमय)

-आचार्य कनकनन्दी

स्वप्रेरित अर्थ सौजन्य (ज्ञानदानी)

1. **श्रीमती शिल्पा अभिषेक जी जैन ग.पु. का. सागवाड़ा**
2. **आजीवन गुप्तदानी। आप के गुप्तदान से प्रायः हर माह एकग्रन्थ प्रकाशन 2016 से हो रहे हैं। ऐसा ही जीवन भर गुप्तदान से ग्रन्थ प्रकाशित होते रहेंगे, ऐसी भावना व प्रतिज्ञा है गुप्तदानी महानुभाव की।**

ग्रन्थाङ्क-306 प्रतियाँ-500

संस्करण-प्रथम-2019 मूल्य- 151/- रु.

प्राप्ति स्थान एवं सम्पर्क सूत्र

आचार्य श्री कनकनन्दी जी गुरुदेव द्वारा आशीर्वाद प्राप्त

(1) धर्म-दर्शन सेवा संस्थान

द्वारा-श्री छोटूलाल जी चित्तौड़ा

चन्द्रप्रभ दि. जैन मन्दिर, आयड़, आयड़ बस स्टॉप के पास,

उदयपुर (राज.)-313001/मो. 082337-34502

(2) डॉ. नारायणलाल कछारा

सचिव-धर्म-दर्शन सेवा संस्थान

55, रवीन्द्रनगर, उदयपुर (राज.)-313001

फोन नं. 0294-2491422/मो. 092144-60622

E-mail:nlkachhara@yahoo.com

विश्व ज्ञान-विज्ञानमयी जिनवाणी

अहोभाग्य है जिनवाणी का पय जो पीये हैं!

(चाल : रात कली इक ख्वाब में आई....)

धन्य हमारे भाव जगे हैं, जिनवाणी का मनन करें।
अनन्त भवों में स्व को न जाना, दिव्यवाणी से अभी जाने।। (स्थायी)
विद्यालय की शिक्षा से क्या हो, जीवन निर्वाह पाठ रटे,
जिनवाणी से शिक्षा जो मिले है जीवन निर्माण करें।।
स्कूल की शिक्षा व सांसारिक जन, संसार चलाना सिखलाते,
पशु पक्षी व कीट वृक्ष तक, संसार वर्द्धक कार्य करे।। धन्य--- (1)

यह तो सहज संस्कार जनक, बहु भवों का कर्म वेग,
इसे क्या सिखाये आहार मैथुन, निद्रा परिग्रह तीव्र वेग।
दयालु जननी जिनेन्द्रवाणी, अमृतपय का पान कराये,
जिसे पानकर काम क्रोध मान, जन्म जरा मृत्यु-विनष्ट करे।। धन्य--- (2)

अज्ञान मोह अन्धेरा नाशे, उदारभाव का उदय,
भेद-भाव व संकीर्णता नाशे, आत्मज्योति का प्रकाश फैले।
विश्वबन्धुत्व व विश्वशान्ति का, सहज पाठ जो हमें मिले,
पर्यावरण की सुरक्षा उपाय, ज्ञान-विज्ञान सुशिक्षा मिले।। धन्य--- (3)

मनोविज्ञान व सापेक्ष सिद्धान्त, अणुशक्ति का ज्ञान मिले।
एकीकृत का सूत्र भी पढें, ब्रह्माण्ड का सच्चा ज्ञान करे,
न्याय या राजनीति वैश्विक सुनीति, प्रबन्धन का बोध मिले,
''कनकनन्दी'' तो बालछात्र सम, जिनवाणी पय पान करे।। धन्य--- (4)

जैन धर्म की सम्पूर्ण शिक्षायें(आत्मा, मैं) हेतु

(स्वहित हेतु परहित भी होता अतः परहित भी वर्णित है)

(चाल- आत्मशक्ति से....)

जैन धर्म की सम्पूर्ण शिक्षायें, स्व-हित हेतु ही वर्णित है।

स्व-हित हेतु ही परहित होता, अतः परहित भी वर्णित है।
जो दीपक पहले होता प्रकाशित, उससे होते अन्य भी प्रकाशित।
जो स्वयं का हित पहले करता, उससे अन्य का भी होता हित।। (1)

अतः आत्महित पूर्व करणीय, संभव हो तो परहित करणीय।
आत्महित व परहित के मध्य में, आत्महित श्रेष्ठ ही करणीय।
आदहिदं कादव्वं (करणीय) यदिचेत् परहिद कादव्वं।
आदहिदं परहिदादो आदहिदं सुट्ठु कादव्वं।। (आ. कुन्दकुन्द)
स्वयं को जानना-स्वयं को मानना, स्वयं को पाना है आत्महित।
स्व से भिन्न सभी राग-द्वेष-मोह-काम-क्रोधादि त्यागना आत्महित।। (2)

स्व-स्वरूप है अनन्तज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्यमय अमूर्तिक तत्त्व /(द्रव्य)।
सत्य-शिव-सुंदर व सच्चिदानंद, स्वयंभू सनातन आत्मतत्त्व।।
पर स्वरूप है तन-मन इन्द्रिय, सत्ता सम्पत्ति व प्रसिद्धि।
अपना-पराया भेदभाव व, अहंकार-ममकारादि प्रवृत्ति/(प्रभृति)।। (3)

लौकिक-पढ़ाई-नौकरी-व्यापार-विवाह-राजनीति कृषि आदि।
स्वार्थ प्रेरित व कषाय सहित, अतः इससे नहीं स्व-पर हितादि।
न्याय से उपार्जित धन से जब, करते दान-दया व परोपकार।
तब तो स्व-हित पहले होता अनुषंगिक होता परहितकर।। (4)

दान-दया-परोपकारादि से/(में) यदि होती संकीर्ण स्वार्थ सिद्धि।
ख्याति-पूजा-लाभ-प्रसिद्धि चाह तो, दानादि से भी न स्वहित सिद्धि।
ऐसे दानादि से क्योंकि न होती है आध्यात्मिक विशुद्धि।
सातिशय पुण्य व संवर-निर्जरा, तथाहि न मिलती परम सिद्धि।। (5)

परमेष्ठी के ज्ञान से मिलती है, स्व-आत्मविकास की शिक्षा।
उनकी भक्ति-पूजा-दानादि से, होती है स्व-हित की साधना।
चतुर्गति रूपी संसार के ज्ञान से, मिलती शिक्षा न करो आत्मअहित।
राग-द्वेष-मोह व ईर्ष्या घृणा (तृष्णादि)त्यागो,तब होगा स्व-आत्महित।। (6)

षट् द्रव्यमय लोकालोक ज्ञान से, विश्वव्यवस्था का होता परिज्ञान।
हर द्रव्य है स्वयं का ही कर्त्ता, अतः मुझे (भी) बनना स्वयं का कर्त्ता।।
अरिहंत-सिद्ध के ज्ञान से, स्व-परमात्मा का होता परिज्ञान।
उनके समान बनने हेतु मुझे भी, प्राप्त करना पूर्णवीतराग विज्ञान।। (7)

इस हेतु करना है ध्यान-अध्ययन व समता-शान्ति से आत्मविशुद्धि।
ऐसा ही 'कनक सूरी' भी शिक्षा लेते, मोक्ष प्राप्ति हेतु चाहिए आत्म-विशुद्धि।
आत्महित बिन धर्म करना तो, केवल होगा बाह्य आडम्बर।
आडम्बर से न मिलता है अनन्तसुख,अतःआत्महितसुख ही श्रेयस्कर।। (8)

ओबरी 07.02.2018 रात्रि 09:40

आत्मज्ञान को ही धारण करे शरीरादि को नहीं

यत्पश्यामीन्द्रियैस्तन्मे नास्ति-यन्नियतेन्द्रियः।
अतः पश्यामि सानन्द तदस्तु ज्योति-रुत्तमम्।। (51) स.तं

(पद्यानुवादः- आत्मशक्ति से....) - आचार्य कनकनन्दी

इन्द्रिय द्वारा जो देखता हूँ, वह नहीं है मेरा आत्म स्वरूप।
इन्द्रिय संयम से इन्द्रियातीत जो देखता हूँ, (वह) ज्ञानानन्द ज्योति आत्मा।।(1)

समीक्षा-

द्रव्य इन्द्रिय तो भौतिक मय है, अतः इससे न होता आत्मज्ञान।
भाव इन्द्रिय भी क्षायोपशमिक मतिज्ञान,अतः उससे भी न होता आत्मज्ञान(2)
इससे परे भाव श्रुत रूपी मानस ज्ञान से देखता हूँ स्व-स्वरूप।
आनन्दमय आध्यात्मिक ज्योति, वह ही है मेरा निज-स्वरूप।। (3)

''ज्ञान-ज्ञेय-ध्येय-हेय''

(आगमनिष्ठ कविता)

(चाल-1. आरती कीजे हनुमान लला की...2. चौपाई 3. शत-शत वन्दन 4. नरेन्द्र छन्द....)
विश्व के चतुर्विध तत्त्व को जानो, ज्ञान-ज्ञेय-ध्येय-हेय को मानो।।
ज्ञान स्वरूप है जीव स्वरूप, ज्ञेय स्वरूप है विश्व स्वरूप।।
ध्येय स्वरूप है मोक्ष स्वरूप, हेय स्वरूप है अनात्म रूप।

ज्ञेय को जानना ज्ञान-स्वभाव, ज्ञान होता है चेतना रूप।। (1)

सुज्ञान-कुज्ञान ज्ञान के भेद, पाँच व तीन क्रमशः प्रभेद।
सम्यक्त्व सहित होता सुज्ञान, मिथ्यात्व सहित होता कुज्ञान।।
ज्ञेय ध्येय हेय जाने सुज्ञान, अयथार्थ जाने-वह कुज्ञान।
ध्येय प्राप्ति में सुज्ञान हेतु, कुज्ञान संसार भ्रमण हेतु।। (2)

जीव-अजीव होता है ज्ञेय, ज्ञान भी होता है स्वयं भी ज्ञेय।
अजीव के होते पंच प्रभेद, जीव के संसारी मुक्त प्रभेद।।
ध्येय होता है मोक्ष स्वरूप, जीव द्रव्य का शुद्ध स्वभाव।
हेय से युक्त होता अशुद्ध, हेय रहित होता है शुद्ध।। (3)

राग-द्वेष मोह होते हैं हेय, पंच पाप सप्त व्यसन हेय।
भाव-द्रव्यकर्म होते हैं हेय, हेय त्याग से मिलता ध्येय।।
हेय त्याग हेतु उपाय करो, रत्नत्रय रूपी मार्ग स्वीकारो।
ध्यान अध्ययन समता धरो, ''कनक'' आत्मा में रमण करो।। (4)

''नय के भेद-प्रभेद''

(वैश्विक कथन पद्धति)

(आगम द्रव्य आध्यात्मिक एवं व्यवहार दृष्टि से जैन सिद्धान्त की वर्णमाला)

(चाल :- जय हनुमान ....) - आचार्य कनकनन्दी

निश्चय व्यवहार स्वरूप को जानो...अनेकान्त स्याद्वाद रूप पहचानो।
प्रमाण नयमय सत्य पहचानो...सत्यार्थ ज्ञान हेतु उपाय मानो।। (1)

सत्य है अनन्त द्रव्य गुणमय...केवलज्ञान का ज्ञेय विषय।
असर्वज्ञ का ज्ञान सीमित होता...नयज्ञान से वह सत्य को जानता।। (2)

अनन्त होते हैं नय प्रभेद...हर द्रव्य-गुण-पर्याय भेद।
ज्ञात अभिप्राय हैं नय...अतएव नय के तद्रूप भेद।। (3)

वर्णन हेतु नय संक्षेप कथन...निश्चय-व्यवहार आत्म कथन।
द्रव्य-पर्यायार्थिक विभिन्न नय...शुद्ध-अशुद्धमय अनेक भेद।। (4)

निश्चयनय अभेद कथन को करता...भेद कथन को व्यवहार करता।
आत्मा का कथन आध्यात्म करता...द्रव्यार्थिक नय द्रव्यों का करता।। (5)

पर्यायार्थिक नय पर्यायों को कहता...शुद्धनय शुद्ध भावों को कहता।
अशुद्ध भावों को अशुद्ध कहता...दृष्टि सापेक्ष कथन ही होता।। (6)

भेद-अभेद को नैगम कहता...अभेद रूप को संग्रह कहता।
व्यवहारनय भेद को बोलता...संग्रह ग्राह्य को भेद में कहता।। (7)

ऋजुसूत्रनय सरल को कहता...एक समयवर्ती पर्याय को मानता।
शब्दनय शुद्ध शब्द को कहता...समभिरूढ़ अभिरूढ़ को मानता।। (8)

वर्तमान क्रिया (को) एवंभूत कहता...उत्तरोत्तर सूक्ष्म ग्राहित होता।
सापेक्ष दृष्टि से सत्य भी होता...निरपेक्ष से मिथ्या भी होता।। (9)

यथा निश्चय से जीव है चेतन...व्यवहार से शुद्ध-अशुद्ध चेतन।
शुद्ध चेतन है मुक्त जीव...अशुद्ध चेतन संसारी जीव।। (10)

द्रव्यनय से जीव एक द्रव्य...पर्याय से संसारी मुक्त जीव।
उत्तरोत्तर भेद-प्रभेद होते...संख्यात असंख्य अनन्त होते।। (11)

नयों से सत्य का ज्ञान होता...आत्म-परमात्मा का भान होता।
नयज्ञान अतः करणीय होता...'कनकनन्दी' सत् प्रयास करता।। (12)

पर्याय का लक्षण

तद्भावःपरिणामः(42)

The becoming of that is modification parinama or modification of a substance is the change in the character of its attributes.

उसका होना अर्थात् प्रति समय बदलते रहना परिणाम है।

धर्मादिक द्रव्य जिस रूप से होते हैं वह तद्भाव या तत्त्व हैं। धर्मादि द्रव्यों का जो निज स्वरूप है वह उसका भाव तद्भाव कहलाता है। द्रव्यों के उस भाव को परिणाम कहते हैं अर्थात द्रव्य जिस रूप में होते है उसके उसी रूप रहने को परिणाम या पर्याय कहते हैं।

''सामान्य ज्ञान एवं नैतिक-व्यवहार से विकास''

(छोटे-छोटे कथन एवं छोटे-छोटे काम)

(चाल : दुनिया में रहना है तो...)

नहीं करो भाई नहीं करो...खोटे काम भी नही करो।
नहीं कहो भाई नहीं कहो...खोटी बातें नहीं कहो।। ध्रुव.।।
अनर्थ काम भी नहीं करो...योग्य काम को सही करो/(सदा करो)।
हित-मित-प्रिय वचन बोलो...देख-भाल-कर चाल चलो।।
अयोग्य/(अन्यथा) चिन्ता मत करो...योग्य चिन्तन सदा करो।
सनम्र सत्यग्राही (सदा) बनो...सरल-सहज व्यवहार करो।। (1)

निन्दा चुगली ईर्ष्या छोड़ो...दम्भ प्रपंच काम छोड़ो।
उदार-सहिष्णु भाव धरो...परोपकार के काम करो।।
पर की चिन्ता मत करो...परोपकार का भाव धरो।
परोपदेशी मत बनो...आत्म-सम्बोधन आद्य करो।। (2)

मर्यादापूर्ण काम करो...शान्त शालीन भाव धरो।
दोष होने पर क्षमा माँगो...दोषी से क्षमा भाव धरो।।
कृतज्ञ बनो उपकारी का...प्रत्युपकार भी करो उसका।
कृतघ्न कभी मत बनो...धन्यवाद करो उपकारी को।। (3)

परिशोधन तो किया करो...प्रतिशोध का न भाव धरो।
परोपकार यदि नहीं सम्भव...धरो नहीं अपकार भाव।।
छोटे भी दुर्गुण त्याग करो...छोटे भी सुगुण ग्रहण करो।
सभी से शिक्षा ग्रहण करो...अनुभव का पाठ पढ़ो।। (4)

सात्विक सादा भोजन करो...फैशन-व्यसन मद छोड़ो।
दिखावा आडम्बर नहीं करो...अपव्यय कभी न कुछ करो।।
महान् उदार लक्ष्य धरो...संकीर्ण स्वार्थ का भाव छोड़ो।
विकास भी होगा भरपूर...'कनकनन्दी' के यह विचार।। (5)

''विकास में बाधक अपूर्ण जानकारियाँ''

(प्रायः सामान्यजन में होती है सत्य-तथ्य रहित जानकारियाँ)

(चाल :- यमुना किनारे श्याम ...., छोटी-छोटी गैया...) - आचार्य कनकनन्दी

प्रायः सामान्यजन कम जानते...सत्य तथ्य बिना जानकारी रखते।
अमूर्तिक आकाश को नीला जानते...साक्षरी को वर्णमाला युक्त जानते।
रटन्त जानकारी को ज्ञान मानते...कूपमण्डूकसम भाव रखते।।
जन्मान्ध के सम सूर्य ज्ञान रखते...मृगमरीचिका को जल मानते।
दिग्वलय तक आकाश जानते...वर्षास्रोत आकाश सम मानते।
दूरस्थ वस्तु यथा छोटी दिखती...तथा जानकारी खोटी (छोटी) ही होती।।
भूख मिटाने हेतु खाना भी खाते...प्यास बुझाने हेतु पानी भी पीते।
कार्य-कारण सम्बन्ध नहीं जानते...भौतिक कर्मसिद्धान्त नहीं जानते।
तथापि स्वयं को महाज्ञानी मानते...स्वयं की कमियों को भी नहीं जानते।।
अन्य की महानता को नहीं जानते...उल्लू सम सूर्य को न देख पाते।
धर्म का मर्म नहीं जानते...क्रियाकाण्ड को ही धर्म मानते।
रटन्त शिक्षा को ज्ञान मानते...फैशन को आधुनिकता मानते।।
समता न्याय को नहीं जानते...वोटों को ही राजनीति जानते।
सत्ता-आधारित कानून होता... सत्य न्याय का ज्ञान न होता।
रूढ़ि परम्परा को ही जानते...देखा-सुना ही थोड़ा जानते।।
अन्धानुकरण ज्यादा करते...अनुभव ज्ञान को नहीं जानते।
ज्ञान-विज्ञान नहीं जानते...दर्शन तर्क से रहित होते।
कार्य-कारण भी नहीं जानते...क्रिया-प्रतिक्रिया कहाँ जानते।।
सब चलता है यह मानते...हमें क्या लेना है यह कहते।
प्रमाद आलस्य से जीवन जीते...अयोग्य काम खूब करते।।
अव्यवस्थित थोड़ा जानते...सूक्ष्म व्यापक नहीं जानते।
इससे वे संकीर्ण घमण्डी होते...ज्ञानी को अज्ञानी सम मानते।
उनके ज्ञान से वंचित होते...स्व-कमियों का फल भोगते।।

इसी से विकास न हो पाता...उन्नतमय न जीवन होता।
महानता न होती सम्भव...भावी सम्भावना न होती सम्भव।।
जिससे तुम्हारा होगा विकास...'कनक' का तुम्हें अतः आशीष।
अतः संकीर्णता त्यागो सज्जन! विकसित करो अपना ज्ञान।।
ज्ञान विकास के उपाय करो...जिज्ञासु व गुणग्राही भी बनो।
सनम्र सत्यग्राही भी बनो...ध्यान-अध्ययन सतत करो।।

''अनुभव ही सर्वोच्च शिक्षा व दीक्षा''

(चाल :- नाव तुझे घेता देवा ...., उड़ चला पंछी..., क्या मिलिए .....)

अनुभव लेता हूँ मैं हर विषयों से, अच्छे या बुरे या पुण्य पाप से।
जीव या अजीव या सुख-दुःख से, सज्जन या दुर्जन या सत्यासत्य से।।
अनुभव से शिक्षा लेता हूँ विशेष, अनुभव से काम करता हूँ विशेष।
अनुभव से ध्यान-अध्ययन करता, लेखन प्रवचन समता में रहता।। (1)

समस्या का समाधान लेन या देन, प्रश्नों के उत्तर भविष्य का ज्ञान।
धार्मिक प्रभावना शिविर संगोष्ठी, आहार-विहार-निवास पद्धति।।
इससे मुझे बहु लाभ ही होता, अनेक समस्या से मैं बच जाता।
वाद-विवाद व तनाव से बचता, लड़ाई-झगड़ा व दुःखों से बचता।। (2)

दौड़-धूप व रोग से बचता, अयोग्य विचार व काम से बचता।
मानवीय दुर्गुण कामों से बचता, संकीर्ण पंथ मत रूढ़ि से बचता।।
अन्यों को भी अनुभव सिखाना चाहता हूँ, स्व-पर-विश्व भी कल्याण चाहता हूँ।
अनेक सत्यग्राही शिक्षा भी लेते हैं, स्व-पर हित हेतु काम भी करते हैं।। (3)

अनेक अज्ञजन शिक्षा न लेते हैं, स्व-पर-हित से वंचित होते हैं।
उनसे भी मैं अनुभव ही लेता, अनुभव से मैं समता में रहता।।
अनुभव ही सही शिक्षा व दीक्षा, अनुभव ही सही मार्ग प्रदाता।
अनुभव बिना न मिलता मोक्ष, 'कनकनन्दी'सदा मोक्ष पथिक।। (4)

शिक्षा का विकृत-संस्कृत रूप

(विकृत शिक्षा का कुफल तथा सुशिक्षा का सुफल)

(चाल :- उड़ चला पंछी...., सावन का महीना..., यशोदा का नंदलाला..., मेरे गुरुदेव आये ..)

पढ़ाई करना ही शिक्षा नहीं है, स्कूल की पढ़ाई ही शिक्षा नहीं है।
रटन्त विद्या भी शिक्षा नहीं है, याद रखना भी शिक्षा नहीं है।। (1)

अच्छा नम्बर लाना ही शिक्षा नहीं है, प्रमाण-पत्र पाना ही शिक्षा नहीं है।
भाषण देना ही शिक्षा नहीं है, नौकरी पाना ही शिक्षा नहीं है।। (2)

पुस्तक लिखना ही शिक्षा नहीं है, कविता लिखना ही शिक्षा नहीं है।
कविता गाना ही शिक्षा नहीं है, नृत्याभिनय करना शिक्षा नहीं है।। (3)

लौकिक-धार्मिक शिक्षा यह नहीं है, शिक्षा का यह साधन होना सही है।
साधन यदि साध्य को न करे साधना, साधन न होकर होती है विराधना।। (4)

बाड़ ही यदि खेती को खा जायेगी, बाड़ की उपयोगिता नष्ट होयेगी।
प्रकाश यदि अन्धेरा को न मिटा सका, वह न प्रकाश इसी में नहीं है शंका।।(5)

पढ़ाई से अनुभव यदि न हुआ/(बढ़ा), पढ़ाई करने वाला कभी न हुआ।
जिज्ञासु सत्यग्राही गुणग्राहक, अनुभवी प्रज्ञाशील हितचिन्तक।।(6)

अहित परिहारी गुण में रत, हिताहित विवेकी चारित्रवन्त।
सरल सहज व सादा जीवन, क्षमावन्त धैर्यशील उच्च चिन्तन।। (7)

दयावन्त दानशील परोपकारी, वह ही शिक्षित /(है) केवल नहीं साक्षरी।
ऐसा ही तीर्थंकर बुद्ध ने कहा, विवेकानन्द कृष्णमूर्ति ने भी कहा।। (8)

महात्मा गाँधी विनोबा भावे ने कहा, लाफेन बर्ग कनकनन्दी ने कहा।
अभी की शिक्षा विपरीत हो गई, तोता रटन्त-नकलची हो गई।। (9)

फैशन-व्यसन की जन्मदात्री हो गई, उद्दण्ड उत्शृंखलता की दादी हो गई।
नौकर बनने की इच्छा पैदा करती, मानसिक दासता को जन्म भी देती।। (10)

आलस्य भ्रष्टाचार को पैदा करती, सदाचार संस्कार का लोप करती।
कामुकता तृष्णा को जन्म भी देती, अश्लीलता शोषण को पैदा करती।।(11)

सुख स्वास्थ्य नींद का नाश करती, सामाजिक समस्याओं की वृद्धि करती।
इन समस्याओं को दूर करने हेतु, ''सा विद्या या विमुक्तये'' यथार्थ हेतु।।(12)

''ज्ञानभार क्रियाहीन'' त्यागने योग्य, 'णाणं पयासणं'' ग्रहण योग्य।
इसी हेतु मानव करे प्रयास, जिससे होयेगा सही विकास।।(13)
''कनक' इसी हेतु सदा प्रयास, विश्वमानव करे मेरा आशीष।
ज्ञान ज्योति से भारत बने उद्योगत, स्व-उद्योत से करे विश्व उद्यत।।(14)

स्व-दोष परिज्ञान के उपाय व फल

(उत्तरोत्तर ज्ञान से योगियों के अनुभव व कर्त्तव्य)

(ज्ञानी की दृष्टि से मोही पागल व मोही की दृष्टि से ज्ञानी पागल)

(चाल :- छोटी-छोटी गैया....)

श्लोक- यद्यदाचरितं पूर्व तत्तदज्ञानचेष्टितम्।
उत्तरोत्तरविज्ञाद्योगिनः प्रतिभासते।। (151 आत्मानुशासन

हिन्दी- जो-जो आचरण हुआ है पूर्व, वह-वह सब अज्ञान चेष्टित।
उत्तर-उत्तर विज्ञान के द्वारा, योगियों को होता प्रतिभासित।।

श्लोक- भुक्तोज्झिता मुहुर्मोहान्मया सर्वेऽपि पुद्गलाः।
उच्छिष्टेष्विव तेष्वद्य मम विज्ञस्य का स्पृहा।। (30 इष्टोपदेश)

हिन्दी- ज्ञानी विरक्त होता भोगों से, मानकर यह सब मेरा उच्छिष्ट।
सभी भौतिक को भोगा मैं अनेक बार, अतएव न भोगूँ मेरा उच्छिष्ट।।

श्लोक- व्यवहारे सुषुप्तो यः स जागर्त्यात्मगोचरे।
जागर्ति व्यवहारेऽस्मिन् सुषुप्तश्चात्मगोचर।। (78 समाधितंत्र)

हिन्दी- जो संसारिक कार्य में सुप्त/(सुस्त), वह आध्यात्मिक कार्य में चुस्त/(मस्त)।
जो सांसारिक कार्य में चुस्त, वह आध्यात्मिक कार्य में सुप्त।

रहस्य- यथाहि अबोध बालक खेलता है, धूली मिट्टी व मल आदि से।

तथाहि मोही अज्ञानी जीव आसक्त, होता है कामभोग में।। (1)

प्रबुद्ध होने पर यथा बालक, विरक्त होता है धूलीमलमिट्टी से।
आध्यात्मिक ज्ञानी/(योगी) तथाहि होता, विरक्त समस्त कामभोग से।। (2)

यथा-यथा प्रकाश अधिक होता, तथा-तथा अंधेरा का होता नाश।
तथाहि आध्यात्मिक ज्ञान-ज्योति से, अज्ञानमोहतम का होता विनाश। (3)

अज्ञानी मोही जीव नहीं जानता, स्व-पर-उपकार के भाव व काम।
ईर्ष्या-घृणा-तृष्णा-द्वेष काम सह, काम करता है अयोग्यतम।। (4)

सत्ता-संपत्ति-प्रसिद्धि-डिग्री हेतु, करते अन्याय व अत्याचार।
फैशन-व्यसन शोषण करते, करते हिंसा-झूठ व व्यभिचार।।(5)

मिलावट-भ्रष्टाचार ठगबाजी करते, करते ढोंग-पाखण्ड व दंभ/(मद)।
आक्रमण-युद्ध-हत्या करते, करते बहुविध आतंकवाद।। (6)

इन सब में मोही-सजग रहता, मानता यह सब मेरा काम।
हित-अहित-परमार्थ न जानता, न करता स्व-पर-उपकार के काम।। (7)

आध्यात्मिक ज्ञानी जानते यह सब, पागलों के समान काम।
स्व-पर-अहितकारी आत्मपतनकारी, इहपरलोक हेतु दुःखद काम।। (8)

अतएव वे इनसे निवृत्त होकर, आत्मकल्याण में होते प्रवृत्त।
ज्ञान-ध्यान-तप-त्याग में लीन होते, आध्यात्मिक सुख में होते प्रवृत्त।। (9)

अज्ञानी मोही को सब गलत लगता, जो करते हैं आध्यात्मिक संत।
आध्यात्मिक योगी के भाव-व्यवहार को वह मानता है उन्मत्तवत्/
(पागलवत्)।। (10)

इसलिए मोही आध्यात्मिक संत का, अनादर व हत्या तक करता।
संत तो स्वर्ग-मोक्ष पधारते, अज्ञानी भोगता अनंत दुःख।। (11)

अतएव हे जीव! बनो आध्यात्मिक, पाओ हे! आत्मिक अनंत सुख।
'कनकनन्दी' को अतः भाया आध्यात्मिक, प्राप्त करने हेतु आत्मिक सुख।।(12)

स्व-रहस्य ज्ञाता मैं बनूँ

(चालः- मन रे...! सायोनारा....,मोक्ष पद मिलता धीरे-धीरे....) - आचार्य कनकनन्दी

जिया रे! स्व-रहस्य जान ले तूऽऽऽ
स्व को जानो तो सर्वज्ञ बनोगेऽऽऽ ज्ञात होगा विश्व-रहस्यऽऽऽ...(ध्रुव)...
सूर्य यथा स्वयं होता प्रकाशितऽऽऽ अन्य भी होते प्रकाशितऽऽऽ
तू तो सूर्य से भी अधिक तेजस्वीऽऽऽ ब्रह्माण्ड होगा प्रकाशितऽऽऽ
स्व-प्रकाशी बन रेऽऽऽ जिया रे...(1)...

कोई भी वैज्ञानिक-दार्शनिक-कविऽऽऽ न जानते विश्व (सर्व) रहस्यऽऽऽ
आत्मज्ञ-सर्वज्ञ-केवली होतेऽऽऽ जानते स्व-पर/(विश्व) रहस्यऽऽऽ
तथाहि तू सर्वज्ञ बनऽऽऽ जिया रे...(2)...

तेरे अंदर है अनंत गुण-गणऽऽऽ तथाहि अनंत पर्यायऽऽऽ
चित्-चमत्कार पूर्ण सच्चिदानंदऽऽऽ अनंत शक्ति सुखवान्ऽऽऽ
स्वयं को करो उद्घाटनऽऽऽ जिया रे...(3)...

अन्य के रहस्य जानने हेतुऽऽऽ अनेक पाते हैं मरणऽऽऽ
जो मरण वरता स्व-ज्ञान हेतुऽऽऽ वह (तो) पाता अमृत धामऽऽऽ
स्वयं को पूर्ण जानऽऽऽ जिया रे...(4)...

स्व-ज्ञान हेतु भले पर को जानोऽऽऽ जिससे करो भेद-विज्ञानऽऽऽ
भेद-विज्ञान से सर्वज्ञ बनकरऽऽऽ विश्व का करो तू दर्शनऽऽऽ
'कनक' अनन्तदर्शी बनऽऽऽ जिया रे...(5)...

आत्मा तेरी अनन्त शक्ति

(चालः- गंगा तेरा पानी अमृत....) - आचार्य कनकनन्दी

आत्मा! तेरी अनंत शक्ति गणधर भी न जान पाय/(कह न पाये)
सर्वज्ञ (देव ही) द्वारा ही तेरी शक्ति पूर्णतः ज्ञात होय...आत्मा... (ध्रुव)...
इन शक्ति के कारण से ही तू अनादि से विद्यमान होयऽऽऽ
अनंत तक विद्यमान रहेगा संसारी या मुक्त होयऽऽऽ
तू तो स्वयंभू-स्वयंपूर्ण हो उत्पाद व्यय ध्रौव्य होय...आत्मा...(1)

अस्तित्व-वस्तुत्व-प्रमेयत्व व अगुरुलघु अवगाहनत्वऽऽऽ
सूक्ष्मत्व-अव्याबाधत्व-अमूर्तित्व व विभुत्व प्रभुत्वऽऽऽ
ज्ञानदर्शन सुखवीर्यादि अनंत शक्तियाँ तुझमें होय...आत्म...(2)

अनादि कर्मबंध के कारण (तेरी) शक्तियाँ गुप्त-सुप्त होयऽऽऽ
राग द्वेष-मोह क्रोधादि कर्मबंध के कारण होयऽऽऽ
जिसके कारण तेरा संसार में पंच परिवर्तन होय...आत्मा...(3)

पंचलब्धियों को पाकर जब तू सम्यक्त्वी होयऽऽऽ
तब तुझमें आत्मविश्वास जगे ज्ञान चारित्र सम्यक् होयऽऽऽ
जिससे राग द्वेषादि क्षीण होते शक्तियाँ प्रकट होय...आत्मा...(4)

जिससे तुझमें उत्पन्न होते उत्तम क्षमादि दश धर्मऽऽऽ
समता शांति धैर्य सहिष्णुता पवित्रतादि धर्मऽऽऽ
अहिंसा सत्य अचौर्य ब्रह्मचर्यादि तेरे निज धर्म...आत्मा...(5)

इससे तेरी शुद्धि बढ़ती जिससे बढ़ती तेरी शक्तिऽऽऽ
जिससे कर्मों को नाश करके पाते हो अनंत शक्तिऽऽऽ
शुद्ध-बुद्ध आनंद पाकर भोगते हो शाश्वत मुक्ति...आत्मा(6)

इस हेतु ही राजा-महाराजा-चक्रवर्ती भी बनते श्रमणऽऽऽ
निस्पृह-निराडम्बर बनकर शोध-बोध व ध्यानऽऽऽ
तुम्हारी ही उपलब्धि हेतु 'कनक' बना है श्रमण...आत्मा...(7)

तेरी शक्ति की जागृति हेतु अन्य उपाय न संभवऽऽऽ
सत्ता-संपत्ति व प्रसिद्धि द्वारा यह न कभी संभवऽऽऽ
रीति-रिवाज व ढोंग-पाखण्ड द्वारा यह न कभी संभव...आत्मा...(8)

सन्दर्भ

परमात्मा की मोक्षावस्था

नित्यमपि निरूपलेपः स्वरूप समवस्थितो निरुपघातः।
गगनमिव परम पुरुषः परम पदे स्फुरति विशदतमः।। (223)

Eveer free from (karmik) contact,free from obstruction, fully absorbed in own's own self, the highest supremely pure soul is effulgent, like the sky, in the highest stage.

व्याख्या-भावानुवाद- समस्त पुरुषार्थ सिद्धि को प्राप्त करने वाला परम पुरुष पद रूप सिद्ध पर में स्फुरायमान होता है। वह परम पुरुष सदा कर्मादि लेप से रहित, स्वस्थ रूप में स्थित, समस्त घात-प्रतिघात बाधाओं से रहित गगन के समान लेप से रहति चिज्ज्योति रूप से सिद्ध पद में अतिशय रूप से स्फुरायमान होता है।

परमात्मा का स्वरूप

कृतकृत्यः परमपदे, परमात्म सकल-विषय विरतात्मा।
परमानन्द-निमग्नो, ज्ञानमयो नन्दति सदैव।। (224)

Quiyr contentted, all knowables being reflcted in him immersed in supreme blise, the emodiment of knowlege, the Paramatma is eternally happy in the highest stage.

आत्मबोधवाला मैं हूँ अतः मेरा कोई शत्रु मित्र नहीं!

क्षीयन्तेऽत्रैव रागाद्यास्तत्त्वतो मां प्रपश्यतः।
बोधात्मानं ततः कश्चिन्न मे शत्रुर्न च प्रियः।। (25) स.तं.

पद्यभावानुवाद- (चालः आत्मशक्ति...)
तत्त्वस्वरूप से आत्म बोध से, रागदिक्षय होते (हैं) वर्तमान में।
ज्ञान स्वरूप मेरे लिए कोई न शत्रु व मित्र इस जन्म में।। (1)

समीक्षा- आत्म-स्वरूप का वेदन करने वाला का रागादि क्षय होते सम्प्रति।
जिससे उसमें समता-शान्ति क्षमादि गुण उत्पन्न आत्मा में।। (2)

जिससे अन्तरात्मा भेद विज्ञान से, वस्तु स्वरूप करता अनुभव।
मैं तो अमूर्तिक चैतन्यमय मेरा न कोई हो सकता शत्रु-मित्र।। (3)

शत्रु-मित्र व अपना-पराया भेदभाव होते राग-द्वेष-मोह से।
राग-द्वेष-मोह तो कर्मज विकार भाव, मैं तो पृथक् हूँ राग-द्वेष-मोह से।। (4)

मैं तो राग-द्वेष मोह से रहित हूँ, अतः मेरा नहीं कोई शत्रु-मित्र।
ऐसी श्रद्धा-प्रज्ञा व चर्या के कारण, अन्तरात्मा के कोई न होते शत्रु-मित्र।। (5)

जिसके शत्रु-मित्रादि भाव होते, वे न स्व-सम्वेदनज्ञानी अन्तरात्मा।
अन्तरात्मा मुमुक्षु का परम लक्ष्य होता, अन्तरात्मा से बनना परमात्मा।। (6)

मुझे जानने वाले या न जानने वाले मेरे न शत्रु न मित्र

(चाल :- छोटी-छोटी गैया....) - आचार्य कनकनन्दी

मामपश्यन्नय लोको न मे शत्रुर्न च प्रियः।।
मां प्रपश्यन्नयं लोको न मे शत्रुर्न च प्रियः।। (26)

हिन्दी- मुझे जानने वाले कोई मेरे न होते हैं शत्रु न या प्रिय/(मित्र)।
मुझे न जानने वाले कोई मेरे, न होते है शत्रु या प्रिय/(मित्र)।। (1)

समीक्षा- मुझे जानने वाले कोई होते हैं, आत्मज्ञ या सर्वज्ञ।
रागद्वेष से परे होने से वे, न करते (मुझसे) राग या द्वेष।। (2)

मैं हूँ सच्चिदानंद स्वरूप, अमूर्तिक व शुद्धात्मा रूप।
मुझे जानने वाले मुझ से, नहीं करते अतःराग-द्वेष।। (3)

राग द्वेष से रहित होने से, शत्रु मित्रता नहीं करते।
अतएव मुझे जो जानते वे, शत्रु-मित्रता भी न करते।। (4)

अज्ञानी-मोही अल्पज्ञजन, आत्म तत्त्व को भी नहीं जानते।
आत्म तत्त्वमय मेरा स्वरूप, वे अज्ञानी मोही नहीं जानते।। (5)

अतएव जो मुझे न जाने मेरे, शत्रु-मित्र भी नहीं बनते।
अतएव अज्ञ या विज्ञ मेरे, शत्रु भी नहीं बनते।। (6)

अतएव शत्रुता या मित्रता परे, मेरा स्वरूप है अजातशत्रु।
आकाश के सम मैं भी हूँ, भेद-भाव शून्य निर्बाध वस्तु।। (7)

राग-द्वेष यदि कोई (भी) करे, उससे मेरा क्या लेना-देना।
मेरा कर्त्ता-धर्त्ता मैं ही हूँ, अन्य से मेरा क्या लेना-देना।। (8)

हर द्रव्य है स्वतंत्र-स्वतंत्र, द्रव्य-गुण व पर्यायों से युक्त।।
मैं मुझ में ही परिणमन करूँ, 'कनक' पर से होकर मुक्त।। (9)

(मेरे आत्मविश्लेषण-आत्मसुधार हेतु)

मेरी तीव्र प्रज्ञा बढ़ने व शिक्षा लेने के कारण

(चाल :- छोटी-छोटी गेया..) - आचार्य कनकनन्दी

मेरी प्रज्ञा तीव्र बढ़ती है, जब कोई सत्य को असत्य माने (कहे, लिखे)।
सुगुण को कुगुण, सुगुणी को कुगुणी भी माने व कहे, लिखे।।
तथाहि समस्या होने पर, समाधान हेतु तीव्र बढ़े।
शिष्यों के सुधार हेतु जब मैं, उनके दोष कहूँ प्रायश्चित दूँ।। (1)

पढ़ने से अधिक पढ़ाने पर, उससे अधिक लिखने पर।
मेरी तीव्र प्रज्ञा बढ़ती है तथा, शिक्षा मिलती अन्य के दोष पर।।
यथा घर्षण से उष्णता बढ़ती, अधिक उत्पन्न होती अग्नि।
तथाहि उक्त कारणों से मेरे, चिन्तनादि बढ़े प्रज्ञा मेरी।। (2)

तीर्थंकर बुद्ध आदि यथा पर दोष, दुःख से लेते हैं शिक्षा।
तथाहि मैं भी स्व-पर-दोष व दुःख से भावित हो लेता हूँ शिक्षा।।
इससे मुझे व अन्य के भी होते हैं बहुविध उपकार।
श्रद्धा-प्रज्ञा व अनुभव बढ़े, दोष दूर से होता उपकार।। (3)

इसमें होते हैं अनेक कारण, अन्तरंग तथा बाह्य में।
इसमें मेरे अन्तरंग कारण है, सनम्रसत्यग्राही स्वभाव में।।
स्व-पर-विश्व हित हेतु भावना, समता-शान्ति-संवेदना।
गुणग्राही व गुणेषु प्रमोद, दुःखी/(दोषी) जीव प्रति कृपाभावना।। (4)

हर जीव प्रति मैत्री भावना, विरोधी प्रति भी साम्य भावना।
उदार-सहिष्णुता-क्षमा-मृदुता-सरल-सहजता भावना।। (5)

इन सब में मेरी आध्यात्मिक भावना, ''मैं हूँ निश्चय से शुद्ध-बुद्ध'।
अनन्त ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्यमय, तन-मन-इन्द्रियों से रहित।।

ऐसा ही हर संसारी जीव भी, तथाहि कर्मबन्ध से दोषी।
कर्म के कारण होते विभिन्न भाव-व्यवहार यह विभाव परिणति।।

यदि मैं भी अभी स्व-पर दोषों के कारण से करूंगा विभाव परिणति।
मेरे दोष तो और बढते जायेंगे, नहीं बनेगी शुद्ध परिणति।। (6)

इत्यादि अनेक चिन्तन-मनन, ध्यान-अध्ययन व शोध-बोध से।
स्वयं को ही मैं पवित्र बनाता हूँ, जिससे बढ़ती प्रज्ञा मेरी।।
इससे समस्याओं के भी होते समाधान, जिससे होता आत्मविकास।
इन सब से मुझे मिलती अनेक शिक्षायें, 'कनक' का होता आत्मविकास (7)

मेरे अधिकांश ज्ञान से ले शिक्षा-अनुभव-लेखन-प्रवचन।
उपरोक्त कारणों से होते हैं और भी बढ़ा रहा हूँ सतत।। (8)
नन्दौड़ 18.08.2018 प्रातः 09:31

सर्वोदय शिक्षा का स्वरूप एवं फल

(विश्वगुरु की वन्दना)

चरण कमल वन्दूँ जिनराई...
जाके ज्ञान में ब्रह्माण्ड झलके, हस्ते आमलक नाई।। (ध्रुव.)
आत्मध्यान से घाती नशाया, आत्म विभूति पाईऽऽऽ
अनन्तज्ञान-दर्श-सुख पाया, अनन्तशक्ति को पाईऽऽऽ।। (1) चरण ...

समवसरण की रचना हुई, दिव्यध्वनि निर्गत हुईऽऽऽ
तीन लोक के गुरु बने आप, समता शान्ति को सेईऽऽऽ।।(2) चरण ...

आपने बताया रत्नत्रय पथ/(धर्म), मुक्ति मिले जो सेई ऽऽऽ
सत्य विश्वास को श्रद्धा बताई,धर्म की प्रथम इकाईऽऽऽ।। (3)चरण ...

सम्यग्ज्ञान है सत्यविज्ञान, धर्म की द्वितीय इकाईऽऽऽ
समताचरण ही सदाचरण है, धर्म की तृतीय इकाईऽऽऽ ।। (4) चरण ...

पंचव्रत दशधर्म युक्त, समता वृति सो हुई ऽऽऽ
जिससे कर्म की निर्जरा होती, अन्त में मुक्तिदायीऽऽऽ।। (5) चरण ...

चारों गति जीव जो अपनाते, आपकी देशना जो होई/(हुई)ऽऽऽ
वे हैं सम्यगदृष्टि मोक्षपथगामी, आपके सच्चे भक्त वे हीऽऽऽ।। (6) चरण ...

शत इन्द्र सेवित आप परमेश्वर, विश्वगुरु पदवी तोहीऽऽऽ
'कनकनन्दी' तव मार्ग अनुगामी, स्वात्मोपलब्धि हेतु सेईऽऽऽ।। (7) चरण ...

सद्गुरु वन्दना

(चाल :- 1. आधा है चन्द्रमा...2. बहुत प्यार करते हैं...)
करता हूँ वन्दना...गुरु स्वामी! मोक्षमार्ग पथिक ज्ञानी ध्यानी।। टेक।।
आप (तो) राग द्वेष मोह त्यागा, शत्रु-मित्र में साम्य धारा/
(धनजन भोगासक्तत्यागा)।
विधर्मी की भी रक्षा करते, पिच्छी से परिमार्जन करते।
हाथों से केशलोंच करते, संक्लेश भावों को न धरते।। (1)...

नंगे पैर से विहार करते,मिथ्यादृष्टि की भी रक्षा करते।
पर्यावरण की रक्षा करते, तनमन स्वास्थ्य रक्षा करते।।
खड़े-खड़े ही आहार करते, प्रमाद भाव को परिहरते।। (2)...

करपात्र में भोजन करते, स्वावलम्बन का भाव धरते।
दिगम्बर वेश को धरते, सर्वपरिग्रह को त्यजते।
आत्मकल्याण का भाव धरते, विश्वशान्ति का पाठ पढ़ाते।। (3)...

सदा साम्यभाव को धरते, हित-मित-प्रिय ही बोलते।
भेद-भाव कभी न करते, भेदविज्ञान का भाव धरते।।
रत्नत्रय को धारण करते, दशधर्मों का पालन करते।। (4)...

सोलह भावनाओं को भाते, द्वादश अनुप्रेक्षा धारे चित्ते।
भावी भगवान् तेरा रूप, देहेस्थितोऽपिविदेही चित्त।
विमुक्ति भावे अनुरक्त, 'कनकनन्दी' तेरा परम भक्त।। (5)...

''घट रहा है सामान्य ज्ञान एवं नैतिकाचार''

(चाल :- कभी प्यासे को पानी पिलाया... 2. जब जीरो दिया मेरे भारत...)
क्या हो गया उस भारत को जो कभी विश्वगुरु कहलाता था।
शिक्षा/(कला) सभ्यता संस्कार संस्कृति, नैतिकता से जो परिपूर्ण था।।(1)

आज उस ही देश भारत में, नैतिकता भी लोप हो रही।
साक्षरता की तो बाढ़ आ रही, सदाचारिता लोप होती जा रही।।(2)

क्रिया-काण्ड धर्म होता जा रहा, परोपकार तो कम होता जा रहा।
विशेष ज्ञान तो कुछ कर रहे सामान्य ज्ञान से हीन होते जा रहे।।(3)

स्वास्थ्यकर भोजन छोड़ रहे, जो सात्विक पौष्टिक ताजा है।
रेडीमेड खाना खाते जा रहे, जो महंगा व रोग का घर है।।(4)

प्रातः जागरण प्रभु स्मरण, भ्रमणश्रम व्यायाम छोड़ते जा रहे।
देर रात तक टी.वी. सिनेमा मोबाइल, क्लब गप्प में समय बिता रहे।।(5)

हाय हैलो टाटा तो कर रहे, नमोऽस्तु प्रणाम को भूल रहे।
मम्मी डेड आंटी अंकल बोल रहे, माता-पिता चाचा-चाची भूल रहे।।(6)
कम्प्यूटर इन्टरनेट गाड़ी चला रहे, जीवन जीने की यात्रा भूल रहे।
मोबाईल से निरन्तर बोल रहे, सत्य मृदु बोलना भूल रहे।।(7)

फैशन व्यसन दिखावा खूब आता है, स्वास्थ्यकर ज्ञान बिल्कुल नहीं आता है।
आधुनिकता का ढोंग बहुत आता है, स्वच्छता ज्ञान भान नहीं आता है।।(8)

घड़ी का फैशन तो बढ़ता जा रहा, समय का नहीं मूल्य व भान रहा।
वेशभूषा का फैशन बढ़ा जा रहा, अश्लील अंग प्रदर्शन फूला फला।।(9)

विश्व ग्लोबल विलेइज होता जा रहा, पड़ोसी के दुःख दर्द का भान न रहा।
फेवरेट खिलाड़ी अभिनेता हुए, माता-पिता बन्धु जन पराए हुए।।(10)

सहज सरल मृदुता नैतिकाचार, सर्व मानव का होता (है) मूलाचार।
मछली का यथा है जलसञ्चार, पक्षी का यथा है गगनाचार।।(11)

नैतिकाचार बिना वह मानव, पशु से भी नीचा वह है दानव।
प्राकृतिक गुण पशु न त्याग करे, मनुष्य श्रेष्ठ क्या है जो त्याग करे।।(12)

धार्मिक साधु साध्वी बन रहे, प्रवचन कार्यक्रम भी हो रहे हैं।
धन जन प्रदर्शन बढ़ रहे, ज्ञान वैराग्य आध्यात्म घट रहे।। 13।।

अन्तर्राष्ट्रीय चर्चा तो खूब होती, देशभक्ति की भावना घट रही।
पुस्तकीय ज्ञान तो कर रहे, व्यवहार/(सामान्य) ज्ञान से अज्ञ हो रहे।। 14।।

जड़रहित वृक्ष की स्थिति सम, पंख रहित पक्षी की गति सम।
नैतिकाचार सामान्य ज्ञान बिना, मानव सुखी न होता सही सम।। 15।।

भोजन पानी वस्त्र से भी प्राणवायु, अधिक उपयोगी जैसे आयु।
तथाहि सदाचार सामान्य ज्ञान, अधिक उपयोगी यह है जान।। 16।।

इसीलिए प्रयत्न अधिक करो, इसकी उपेक्षा कभी भी न करो।
'कनकनन्दी' का भाव जानो मानो, सर्वोदय हेतु इसे स्वीकार करो।। 17।।

''सदाचार बिना ज्ञान कुज्ञान''

(सदाचार बिना साक्षर होता है राक्षस)

(चाल :- आत्मशक्ति से...., तुम दिल की धड़कन....) - आचार्य कनकनन्दी

'हिताहित प्राप्ति परिहार समर्थ' जो होता सो सुज्ञान है।
हित ग्रहण व अहित परिहार, जिससे होता सो ज्ञान है।।
सम्यग्ज्ञानं प्रदीपवत् यथाद्वस्तु निर्णीतः होता है सो 'सुज्ञान'।
यथा दीपक से अन्धकार हटता, होता है सो हि सुज्ञान।।
'स्वापूर्वार्थ व्यवसायात्मकं ज्ञानं' होता है सो 'प्रमाणम्'।
स्वयं को तथा अज्ञात तत्त्व जो जानता है सो प्रमाणम्।।
'स्वोन्मुखतया प्रतिभासनं स्वस्य' होता है सो 'व्यवसाय'।
'णिज्जवगो य' होता हे 'णाण' खेवटिया सम होता है ज्ञान।
जो संसार रूपी दुःख सागर से पार उतारे होता सो ज्ञान।।
किन्तु शाब्दिक ज्ञान जो होता अथवा तोता रटन्त सो ज्ञान।
आत्मसात् बिना अपाचक ज्ञान नहीं होता है यथार्थ ज्ञान।।
ऐसा ज्ञान से न विवेक होता नहीं होता है तमहरण।
शब्द अर्थ में मूढ़जनों को नहीं होता है, परम ज्ञान।।
यथा अन्धा व्यक्ति दीपक से भी, नहीं देख पाता है वस्तु स्वरूप।
स्वानुभव बिना रटन्त ज्ञानी, नहीं जान पाता है सत्य स्वरूप।।

''बिना जानते दोष गुणन को कैसे त्यजिये गहीये'' ज्ञान।
प्रकाश में भी अन्धा व्यक्ति नहीं जान पाता रज्जु या नाग।।
अपच भोजन होता है रोगकारी, तथाहि होता है अपच ज्ञान।
ज्ञानमद से होता मदमस्त, अधिक करता है पापमय काम।।
यथा रावण कंस भस्मासुर हिटलर, जरासन्ध सद्दाम हुसैन।
आतंकवादी नेता अभिनेता, भ्रष्टाचारी पढ़े-लिखे जन।।
'हतं ज्ञानं क्रिया हीन' चारित्र बिना ज्ञान है कुज्ञान।
'चारित्र बिना साक्षरा एवं' होता है राक्षस दुष्ट दुर्जन।।
ज्ञान का फल होता चारित्र, यथाहि फूल से बनता फल।
ज्ञान से बनो गुणी सज्जन, 'कनकनन्दी' का यह आह्वान।।

वैज्ञानिक ज्ञान से मुझे प्राप्त लाभ/(शिक्षाएँ)
(वैज्ञानिक साहित्य, विदेशी वैज्ञानिक
T.V.चैनलों से मुझे प्राप्त लाभ)

(चालः- क्या मिलिये ऐसे लोगों से....2. छोटी-छोटी गैया....)

विज्ञान से मिल रही (है) मुझे अनेक शिक्षा, शोध-बोध-प्रयोग की विविध शिक्षा।
सत्यग्राही विनम्र व दृढ़ साहसी, धैर्यशील पुरुषार्थी व आत्मविश्वासी।। (1)
उदार प्रगतिशील व वैश्विक दृष्टि, विश्लेषण सहित समन्वय की दृष्टि।
संकीर्ण रूढ़ि परम्परा परे प्रवृत्ति, सत्य-तथ्य जानने की जिज्ञासु वृत्ति।। (2)
एकला चलने की दृढ़ भावना शक्ति, प्रसिद्धि व भीड़ से परे साधना-वृत्ति।
शक्ति-संरक्षण व नियोजन की वृत्ति, तन-मन-भावना की प्रबल शक्ति।। (3)
सापेक्ष सिद्धान्त व अणु सिद्धान्त, जिनोम सिद्धान्त तथा मनोविज्ञान।
पर्यावरण रक्षा व अन्तरिक्ष ज्ञान से, जैन धर्म का मुझे मिले प्रयोगज्ञान।। (4)
अहिंसा शाकाहार व पर्यावरण सुरक्षा, परस्पर उपग्रहों जीवों/(द्रव्यों) की शिक्षा।
भौतिक शक्ति का होता प्रायोगिक विज्ञान, जिससे ज्ञात होता अन्य द्रव्य विज्ञान।। (5)

इसी से होता है कर्मशक्ति का ज्ञान, जिससे ज्ञात होता जीव विज्ञान।
क्रम व्यवस्थित शोध-पूर्ण होता ज्ञान, आगम ज्ञान का होता (है) समीक्षा ज्ञान।। (6)

जैन धर्म की श्रेष्ठता का होता सुज्ञान, भारतीय संस्कृति का होता विशद ज्ञान।
जिससे गौरव बोध विशेष होता, आत्मविश्वास मेरा दृढ़तर (भी) होता।। (7)

दीन-हीन-अहंकार भाव न होते, आधुनिक दिखावा व ढोंग न होते।
भारतीयों के दोषों का होता सुज्ञान, दोष परिहार हेतु होता भी है ज्ञान।। (8)

शोध ग्रन्थ लिख रहा हूँ अनेक विध, जिनका सदुपयोग हो रहा है बहुविध।
अध्ययन-अध्यापन (व) हो रहा है शोध (Ph.D.), विभिन्न देशों में हो रहा प्रचार विविध।। (9)

पूर्व आचार्य श्री करते थे ज्ञान, स्व-पर मत विभावना पटु मतिभ्यः।
स्व-पर मत व तात्कालीन ज्ञान युत, होते थे अकलंक वीरसेन समन्तभद्र।। (10)

भारत में विज्ञान का ज्ञान नहीं विशेष, जिससें समस्याएँ होती यहाँ विशेष।
मिलावट भ्रष्टाचार व गन्दगी रोग, फैशन-व्यसन-ढोंग-दिखावा के रोग।। (11)

संकीर्ण रूढ़िवादिता भेद-भाव-विद्वेष, ईर्ष्या द्वेष घृणा बलात्कार संक्लेश।
पाश्चात्य अन्धानुकरण स्व-संस्कृति त्याग,वेशभूषा भाषा शिक्षा भोगोपभोग।। (12)

संस्कृति हमारी पाश्चात्य अपना रहे, वैज्ञानिक शोध से वे स्वीकार रहे।
भारतीयों में नहीं है स्व-संस्कृति ज्ञान, जिससे समझ न पाते वैज्ञानिक ज्ञान।। (13)

रटन्त स्वार्थपूर्ण तो पढ़ाई करते, अयोग्य अश्लील हिंसक टी.वी. देखते।
रूढ़िवादी स्वार्थनिष्ठ धर्म पालते, अस्त-व्यस्त-संत्रस्त जीवन जीते।। (14)

भो! भारतीय तुम अभी तो जागो, राग द्वेष मोह रूढ़ि स्वार्थ को त्यागो।
स्व-पर उपकारी व पावन बनो, 'कनक' का आशीष आदर्श बनो।। (15)

विषयानुक्रमणिका

अं.क्र.	विषय	पृ.क्र.
(1)	अहोभाग्य है जिनवाणी का पय जो पीये है (कविता)	2
(2)	जैन धर्म की सम्पूर्ण शिक्षायें (आत्मा, मैं) हेतु (कविता)	2
(3)	आत्मज्ञान को ही धारण करे शरीरादि को नहीं(कविता)	4
(4)	ज्ञान-ज्ञेय-ध्येय-हेय (कविता)	4
(5)	नय के भेद-प्रभेद(कविता)	5
(6)	सामान्य ज्ञान एवं नैतिक-व्यवहार से विकास (कविता)	7
(7)	विकास में बाधक अपूर्ण जानकारियाँ (कविता)	8
(8)	अनुभव ही सर्वोच्च शिक्षा व दीक्षा (कविता)	9
(9)	शिक्षा का विकृत-संस्कृत रूप (कविता)	10
(10)	स्व-दोष परिज्ञान के उपाय व फल (कविता)	11
(11)	स्व-रहस्य ज्ञाता मैं बनूँ (कविता)	13
(12)	आत्मा तेरी अनन्त शक्ति (कविता)	13
(13)	आत्मबोधवाला मैं हूँ अतः मेरा कोई शत्रु मित्र नहीं! (कविता)	15
(14)	मुझे जानने वाले या न जानने वाले मेरे न शत्रु न मित्र (कविता)	16
(15)	मेरी तीव्र प्रज्ञा बढ़ने व शिक्षा लेने के कारण (कविता)	17
(16)	सर्वोदय शिक्षा का स्वरूप एवं फल (कविता)	18
(17)	सद्गुरु वन्दना (कविता)	19
(18)	घट रहा है सामान्य ज्ञान एवं नैतिकाचार (कविता)	19
(19)	सदाचार बिना ज्ञान कुज्ञान (कविता)	21
(20)	वैज्ञानिक ज्ञान से मुझे प्राप्त लाभ/(शिक्षाएँ)(कविता)	22

कुज्ञान से अनन्त सुज्ञान गीताञ्जली

अध्याय-I

(1)	आत्मविश्वास युक्त ज्ञान सुज्ञान अन्यथा मिथ्याज्ञान (कविता)	30
(2)	हर सुज्ञान की उपयोगिता (कविता)	30
(3)	कल्पना शक्ति से रचनात्मकता प्रगतिशीलता-सफलता (कविता)	32

(4) सकारात्मक-वर्णन : धर्म ग्रंथों में सर्वाधिक (कविता) 34
(5) परम विकास हेतु नई महत्वाकांक्षा (कविता) 35
(6) रागी-द्वेषी-मोही-अज्ञानी के विपरीत भाव व काम (कविता) 36
(7) अज्ञानी-मोही के विपरीत भाव व व्यवहार (कविता) 37
(8) विपरीत ज्ञान से विपरीत मान्यता (कविता) 38
(9) बुद्धि को ही अधिकांश जन महत्त्व क्यों देते (कविता) 39
(10) केवल बुद्धि नहीं है सम्पूर्ण व्यक्तित्व (कविता) 40
(11) हितकारी व अहितकारी ज्ञान (कविता) 41
(12) स्व-पर-विश्व हितकारी (कविता) 42
(13) यथार्थ ज्ञान=अज्ञान-निवृत्ति, हित-प्राप्ति, अहित परिहार (कविता) 43
(14) विज्ञान के असत्य मत तथा उससे हानियाँ (कविता) 44
(15) उपेक्षित जिनवाणी का अमृत संदेश (कविता) 46
(16) ज्ञान सामान्य का लक्षण 47
(17) ज्ञान के भेद 47
(18) मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में ज्ञान का स्वरूप 49
(19) मिथ्याज्ञानों का विशेष लक्षण 49

अध्याय II

(20) ज्ञानार्जन की पद्धति (कविता) 51
(21) मेरी परम शिक्षाएँ (कविता) 52
(22) स्वाध्याय इह-परलोक व मोक्ष प्रदाता, न कि पढ़ाई (कविता) 53
(23) जैन सिद्धान्त समझना क्यों होता है क्लिष्ट ? (कविता) 54
(24) जैनागम समझने में क्यों होता कठिन! ? (कविता) 55
(25) बुद्धि (मतिज्ञान) एवं अनुभूति (श्रुतज्ञान) प्राप्ति के उपाय (कविता) 56
(26) आधुनिक इमेज के कुफल (कविता) 58
(27) ''मेरी भावना-परम ज्ञान हेतु मुझे चाहिए स्व-ज्ञान'(कविता) 59
(28) प्राचीन गौरव-आधुनिक बोध से हे भारतीय!
पुनः विश्वगुरु बनो (कविता) 59
(29) सुविद्या एवं कुविद्या का स्वरूप एवं फल (कविता) 60

(30) श्रुतपञ्चमी महोत्सव (साहित्य पर्व) कविता 61
(31) स्वाध्याय का स्वरूप व फल (कविता) 62
(32) स्वरूप, उत्पत्ति, कारण, भेद और विषय को लेकर मतिज्ञान का कथन 63

अध्याय III

(33) हे माँ! जिनवाणी हमारी रक्षा करो सबको शिक्षा दो (कविता) 87
(34) विश्व के हर कण से ज्ञान मिलता (ज्ञान, ज्ञेय मीमांसा) (कविता) 87
(35) जिनवाणी सेवन की महिमा/(फल (कविता) 89
(36) असम्यक्-सम्यक् एवं सम्पूर्ण ज्ञान के उपाय (कविता) 90
(37) सर्वोदय के विभिन्न ज्ञाता-प्रवक्ता एवं कार्यकर्त्ता (कविता) 91
(38) अनेकान्त-स्याद्वाद का स्वरूप (कविता) 93
(39) बुद्धि बढ़ाने के सरल उपाय (कविता) 94
(40) ''शिक्षा तेरी धारा है अजस्र''(कविता) 96
(41) कुज्ञान-सुज्ञान-बहुज्ञान-अनन्तज्ञान (कविता) 97
(42) सप्त तत्त्व चिन्तन (कविता) 98
(43) माता जिनवाणी के निश्चय-व्यवहार प्रतीक स्वरूप (कविता) 98
(44) विभिन्न-विषय ज्ञान से विविध लाभ (कविता) 99
(45) स्वात्माभिमुख संवित्ति है श्रुतज्ञान (कविता) 100
(46) स्वाध्याय का स्वरूप एवं फल (कविता) 101
(47) स्वाध्याय का स्वरूप-विषय एवं फल.कविता) 101
(48) ''पढ़ाई अध्ययन स्वाध्याय '' (कविता) 103
(49) आचरण व अनुभव बिना पुस्तकीय ज्ञान से हानि (कविता) 104
(50) शिक्षा की गाथा-व्यथा-आत्मकथा (कविता) 104
(51) छोटा भोला छात्र हूँ!(कविता) 105
(52) भावश्रुतज्ञानी परोक्ष केवलज्ञानी (कविता) 106
(53) स्वाध्याय से बहु आयामी लाभ (कविता) 108
(54) परमागम से स्व-शुद्धात्मा का वेदन=सम्यग्ज्ञान(कविता) 109
(55) ब्रह्माण्ड एवं शान्ति का रहस्य (कविता) 111
(56) अनुभव ही सच्चा ज्ञान (कविता) 112

(57) मेरा भाव ज्ञानमय/(ज्ञानानन्दमय) होय (कविता) 113
(58) मेरा भाव धर्ममय (कविता) 114
(59) आत्म-रमण ही आत्म-भजन (कविता) 115
(60) जिसके लिए ज्ञानार्जन होता (कविता) 116
(61) आध्यात्मिक दृष्टि के होने पर (कविता) 117
(62) अनेकान्त वन्दन (स्याद्वाद का स्वरूप) (कविता) 118
(63) प्रतिपक्ष (सापेक्ष-अनेकान्त) से पक्ष का अस्तित्व-ज्ञान एवं मूल्यांकन (कविता) 119
(64) श्रेष्ठ से श्रेष्ठतम सत्य (कविता) 120
(65) जैन धर्म में वर्णित महासत्ता एवं अवान्तर सत्ता (कविता) 121
(66) जैन धर्म में वर्णित एकीकृत सिद्धान्त (कविता) 122
(67) श्रुतज्ञान का सामान्य लक्षण 123
(68) श्रुतज्ञान के अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक भेद 124
(69) श्रुतज्ञान के भेद 124
(70) पर्याय नामक प्रथम श्रुतज्ञान का स्वरूप 125
(71) पर्याय ज्ञान के स्वामी की और भी विशेषता 126
(72) पर्याय समास ज्ञान का निरूपण 126
(73) प्रथम षट्स्थान में अष्टांकवृद्धि क्यों नहीं होती ? 128
(74) सम्पूर्ण षड्वृद्धियों का जोड़ 129
(75) श्रुतनिबद्ध विषय का प्रमाण 130
(76) एक पद के अक्षरों का प्रमाण 131
(77) संघात श्रुतज्ञान 131
(78) प्रतिपत्तिक श्रुतज्ञान का स्वरूप 131
(79) अनुयोग श्रुतज्ञान का स्वरूप 132
(80) प्राभृतप्राभृत का स्वरूप 132
(81) प्राभृत का स्वरूप 133
(82) वस्तु श्रुतज्ञान स्वरूप 133
(83) पूर्व ज्ञान के भेदों की संख्या 134

(84) चौदह पूर्व के नाम 134
(85) चौदह पूर्व के समस्त वस्तु और उनके अधिकारभूत समस्त प्राभृतों के जोड़ का प्रमाण 135
(86) द्वादशाङ्ग के समस्त पदों की संख्या 135
(87) अंगबाह्य अक्षर कितने हैं उनका प्रमाण 136
(88) वे अक्षर कितने हैं उसका प्रमाण 136
(89) इन अक्षरों में अंगप्रविष्ट और अंग बाह्य श्रुत के अक्षरों का विभाग 137
(90) अंगों के और पूर्वों के पदों की संख्या 137
(91) सम्पूर्ण पदों का जोड़ 138
(92) बारहवें अंग के भेद और उनके पदों का प्रमाण 138
(93) चौदह पूर्वों में से प्रत्येक पूर्व के पदों का प्रमाण 140
(94) अंगबाह्य श्रुत के भेद 144
(95) श्रुतज्ञान का माहात्म्य 145

अध्याय-IV

(96) अवधिज्ञान का कथन 146
(97) देशावधिज्ञान के द्वितीय आदि विकल्पों के विषयभूत द्रव्यादि 151
(98) मनोवर्गणाके जघन्य और उत्कृष्ट भेद का प्रमाण 152
(99) देशावधिके द्रव्य की अपेक्षा विकल्प 153
(100) देशावधिके उन जघन्य और उत्कृष्ट क्षेत्र 154
(101) वर्गणा का प्रमाण 154
(102) परमावधिके भेद 155
(103) परमावधिज्ञान का कथन 160
(104) परमावधि के उत्कृष्ट द्रव्य का प्रमाण 160
(105) दो करणसूत्र 163
(106) तिर्यंचगति और मनुष्य गति में 165
(107) देवगति में 166

अध्याय-V

(108) गौतम गणधर स्वामी की जीवनी(कविता) 169
(109) मेरे आदर्शः गणधर (कविता) 171
(110) मनःपर्यय ज्ञान 172

अध्याय-VI

(111) क्या है भगवान् का स्वरूप ? (कविता) 178
(112) भगवान् का स्वरूप (कविता) 179
(113) भगवान् को पूर्णतः जानते हैं भगवान्, छद्मस्थ पूर्णतः नहीं (कविता) 180
(114) स्व-शुद्धात्मावन्दन (कविता) 181
(115) चक्रवर्ती तक क्यों बनते हैं निस्पृह समताधारी साधु!?(कविता) 182
(116) सर्वज्ञ वीतरागी होते हैं भगवान् (कविता) 182
(117) जीव का शुद्ध स्वरूप या परम विकास (कविता) 183
(118) दशविध-शक्ति की जागृति (कविता) 184
(119) तीर्थंकरों के ऊपर हुए उपसर्गों से प्राप्त मुझे शिक्षाएँ (कविता) 185
(120) असंक्लेशित भाव से विश्व-कल्याण की भावना भाऊँ (कविता) 186
(121) तीर्थंकर-सिद्ध से प्राप्त आत्मोपलब्धि की शिक्षाएँ (कविता) 187
(122) तीर्थंकर से प्राप्त महान् शिक्षाएँ(कविता) 187
(123) केवलज्ञान 189
(124) अब ज्ञानमार्गणा में जीवों की संख्या 251
(125) कुज्ञान-सुज्ञान-अज्ञान (अपूर्ण सुज्ञान) सम्पूर्ण ज्ञान 252
(126) स्व आत्म वैभव प्राप्ति हेतु.....!? 254
(127) श्रेष्ठ से श्रेष्ठतर व श्रेष्ठतम बनने हेतु.....!? 255

अध्याय I

आत्मविश्वास युक्त ज्ञान सुज्ञान अन्यथा मिथ्याज्ञान

(चाल :- छोटी-छोटी गैया....) - आचार्य कनकनन्दी

सम्यग्ज्ञान होता है आत्मविश्वास युक्त, मिथ्याज्ञान होता है आत्मविश्वास मुक्त।
श्रद्धा प्रज्ञा युक्त होता है सुज्ञान, श्रद्धा प्रज्ञा मुक्त होता है कुज्ञान।। (1)

इन्द्रिय मन से जो ज्ञान होता, श्रद्धायुक्त सो सुमतिज्ञान होता।
श्रद्धामुक्त से कुमतिज्ञान होता, श्रद्धा का नामान्तर आत्मविश्वास होता।। (2)

मतिज्ञान पुरस्सर होता श्रुतज्ञान, श्रवण अध्ययन से होता यह ज्ञान।
आत्म अभिमुख होता यह ज्ञान, आत्मानुभव रूप होता श्रुतज्ञान।। (3)

केवल सुनना या श्रुत (ग्रंथ) पढ़ने से, होता है मतिज्ञान अनुभव शून्य से।
श्रद्धा रहित यदि होता श्रुतज्ञान, वह है कुश्रुतज्ञान यह आगम वर्णन।। (4)

अवग्रह ईहा आवाय व धारणा, मति स्मृति संज्ञा चिंता अभिनिबोध।
जो ज्ञान होते इन्द्रिय मन से, वे सब मतिज्ञान जानो आगम से।। (5)

अनुभवपूर्ण सुश्रुतज्ञान से ही, होता है ज्ञात आत्मा परमात्मा भी।
मूर्तिक अमूर्तिक का भी होता ज्ञान, आंशिक रूप से ही परोक्ष ज्ञान।। (6)

अन्यथा मतिज्ञान या कुश्रुतज्ञान से, न होता यह ज्ञान अनुभव शून्य से।
अवधिज्ञान भी होता सु या कुज्ञान, श्रद्धा सहित सु अन्यथा कुज्ञान।। (7)

मनःपर्यय होता अवश्य सुज्ञान, अन्य के मनगत जानता यह ज्ञान।
केवलज्ञान तो अनंत सम्यग्ज्ञान, लोकालोकज्ञाता होता है यह ज्ञान।। (8)

संपूर्ण घातीकर्म क्षय होने से, संपूर्ण ज्ञानगुण प्रगट होने से।
युगपत् यह ज्ञान जानता सभी को, 'कनकनन्दी' चाहे केवलज्ञान को।। (9)

(शिक्षा-ज्ञान संबंधी शोधपूर्ण कविता)

हर सुज्ञान की उपयोगिता

(परस्पर उपकारी होते है ज्ञान)

(चालः- यमुना किनारे...., दुनिया में हम आये हैं तो....)

जीवन में हर ज्ञान भी काम (में) आते/ हैं)।

सदुपयोग करना यदि कोई जानते (है)।
दुरुपयोग से स्व-पर उपकार भी होता(है),
द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव अनुसार संभव होता (है)।। (1)

विविध ग्रंथों में पढ़ा व अनुभव किया,
आधुनिक विज्ञान से यह मैं पाया।
अज्ञान व दुरुपयोग से कुफल भी देखा,
सुज्ञान व सदुपयोग से सुफल भी देखा।। (2)

एक ज्ञान अन्य ज्ञान हेतु बने सहयोगी,
हर ज्ञान परस्पर भी बनते हैं उपयोगी।
एक ज्ञान से अन्य ज्ञानों में होती है वृद्धि,
एक ज्ञान की कमी में अन्य ज्ञान की हानि।। (3)

छद्मस्थों के ज्ञानों में यह होना संभव,
सर्वज्ञ तो युगपत् जानते सकल ज्ञेय।
मति-श्रुतज्ञान में होता है बहुपयोगी,
मतिपूर्वक होता श्रुतज्ञान सर्वज्ञवाणी।।(4)

गणित में यथा अंकों का होता प्रयोग,
शून्य(0) व नौ (1 से 9) में होता गणित प्रयोग/(गणित ज्ञान)।
स्वर व्यंजन मात्राओं से होता भाषा प्रयोग,
वस्त्र में होता ताना-बाना प्रयोग।। (5)

अनेकांत सिद्धांत भी सदा यही बताता,
स्याद्वाद कथन भी सदा यही कहता।
शरीर के अवयवों से इसका अनुभव भी होता,
लौकिक आध्यात्मिक में भी सही बैठता।। (6)

यंत्र उपकरणों से यह ज्ञात भी होता,
विश्व कार्य प्रणाली से भी सुज्ञान होता।

सुज्ञान हेतु हर ज्ञान सीखना विधेय,
दुरुपयोग हेतु कोई (भी) ज्ञान नहीं विधेय।। (7)

आगम में ज्ञान-ज्ञेय का होता वर्णन,
अशुभ शुभ-शुद्ध का होता वर्णन।
हेय-उपादेय का भी होता वर्णन,
पाप व पापियों का भी होता वर्णन।। (8)

हिताहित प्राप्ति परिहार समर्थ होता सुज्ञान,
हित प्राप्ति अहित त्याग होता सुज्ञान।
अज्ञाननिवृत्तिर्हानोपादान उपेक्षा फलम्,
अज्ञाननिवृत्तिहान उपादान उपेक्षा फलम्।। (9)

स्व-पर ज्ञान से ही होता है भेदविज्ञान,
मार्गणा गुणस्थानों में भी यह सभी वर्णन।
द्रव्य तत्त्व पदार्थों में यह वर्णन,
प्रमाण नय निक्षेप में यह वर्णन।। (10)

व्रत समिति अनुप्रेक्षा से होता यह ज्ञान,
सामान्य विशेष कथन से होता सुज्ञान।
जानना तो आत्म स्वभाव ज्ञान-ज्ञेय संबंध,
स्व-पर मत व तात्कालिक ज्ञान निबद्ध।। (11)

लोकज्ञता में आचार्य भी होते निष्णात,
सर्व विद्या में पारंगत होते पाठक।
ज्ञान तो आत्मा का स्वभाव स्व-पर ज्ञाता,
'कनक' को भी मान्य सुज्ञान की महत्ता।। (12)

कल्पना शक्ति से रचनात्मकता-प्रगतिशीलता-सफलता

(चालः- छोटी-छोटी गैया...., सायोनारा...., तुम दिल की....)

श्रद्धा-प्रज्ञा व अनुभव से....कल्पना शक्ति होती प्रबल...

ध्यान-अध्ययन-मनन-चिन्तन से...कल्पना शक्ति होती प्रबल...
अवग्रह ईहा आवाय धारणा से...कल्पना शक्ति होती प्रबल...
शोध-बोध व विश्लेषण से...कल्पना शक्ति होती प्रबल...(1)...

समता शांति आत्मविशुद्धि से..., कल्पना शक्ति होती प्रखर...
सनम्र सत्यग्राही उदारभाव से...कल्पना शक्ति होती प्रखर...
मनन-स्मरण-संज्ञा व तर्क से...कल्पना शक्ति होती प्रखर...
प्रतिभा-बुद्धि मेधा-प्रज्ञा से...कल्पना शक्ति होती प्रखर...(2)...

बिना कारण से भी प्रतिभा से...प्रतिभास होता है ज्ञान...
प्रज्ञा अतीत को परिज्ञान करती...मेधा त्रिकाल के परिज्ञान...
मतिज्ञान से परे होता श्रुतज्ञान...जो आत्मानुभव ज्ञान है...
इसी से होता है विशेष ज्ञान...जो मूर्तिक-अमूर्तिक भी ज्ञान है...(3)

ज्ञानावरणीय कर्म का जब...होता विशेष क्षयोपशम...
तब अनुभव ज्ञान होता है जो... होता अभूतपूर्व ज्ञान...
इन सब कारणों से व इनसे परे...जिससे होता विशेष काम..
अज्ञात विषयों के बारे में भी...विचार करता कल्पना ज्ञान...(4)...

रचनात्मकता या सृजनात्मकता...आती है इस कल्पना से...
नवीन कला व नृत्य संगीत...चित्र व मूर्ति भी बने इससे...
कविता रचना या साहित्य लिखना...कल्पना शक्ति से होता संभव...(5)...

कल्पना से ही भावी-प्रतिभास...जिससे होता आत्मविश्वास...
जिससे ज्ञान सही सुदृढ़ होता...कार्य करने का होता साहस...
इसी से ही मुमुक्षु सम्यग्दृष्टि...मोक्ष प्राप्ति हेतु करते प्रयत्न...
चक्रवर्ती का भी वैभव त्यागकर...आत्म साधना से पाते मोक्ष धाम...(6)

यह ही सर्वोत्तम उदाहरण...अन्य सभी तो होते हैं सामान्य...
अमूर्तिक व अपूर्व मोक्ष हेतु...कल्पना/(भावना) करते सुदृष्टि जीव...
ऐसी होती है सम्यक् कल्पना...जिससे होता है सर्वोदय...
त्यागकर के संकीर्ण कल्पना...कनक' करे कल्पना सर्वोदय...(7)...

परामनोवैज्ञानिक व आध्यात्मिक शोधपूर्ण कविता

सकारात्मक-वर्णनः धर्म ग्रंथों में सर्वाधिक

(भारतीय धर्मग्रंथों में वर्णित परम-सकरात्मकता)

(चालः तुम दिल की...., सायोनारा....)

धर्म में तो सकारात्मक वर्णन...ग्रंथों में सर्वाधिक पाया जाता है...
भले उसका सही परिज्ञान...सभी लोग नहीं कर पाते हैं...(स्थायी)...
आधुनिक विज्ञान से लेकर जो...मोटिवेशन/(मैनेजमेंट) में वर्णन है...
उससे भी अधिक वर्णन तो...धर्मग्रंथों में पाया जाता है...
धर्मग्रंथों में वर्णित है...सच्चिदानंदमय हर जीव है...
सत्य शिव सुंदर अनंत गुणमय...स्वयंभू स्वयंपूर्ण हर जीव है...(1)...

जो जीव स्वयं को ऐसा मानता...उसको होता है आत्मविश्वास...
उसका ज्ञान होता है सम्यग्ज्ञान...विचार होता है सकारात्मक...
ऐसा जीव नकारात्मक विचारों को ... मानता है अनात्मक रूप ...
जिससे वह नकारात्मक...विचारों को त्यागने का करे यत्न...(2)...

क्रोध मान माया लोभ ईर्ष्या...द्वेष घृणा वैरत्व अपमान...
अंधश्रद्धा व अंधानुकरण...चिन्ता निन्दा अभिमान...
हिंसा झूठ चोरी कुशील परिग्रह...शोषण मिलावट भ्रष्टाचार...
वाद-विवाद व कलह-झगड़ा...अवसाद व दुर्विचार...(3)

आलस्य प्रमाद किंकर्त्तव्यमूढ़ता...लक्ष्यहीन व निरुद्देश्य...
फैशन-व्यसन-विलासिता आदि को...त्यागे नकारात्मक मानकर...
इन सब नकारात्मक भावों को ...मानता है पाप स्वरूप...
जो आत्मा का पतन करे...वह है पाप स्वरूप...(4)...

जिससे आत्मा का होता विकास...उसे मानता है धर्म स्वरूप...
स्वर्ग से लेकर मोक्ष के...उपाय को मानता है धर्ममय...
आत्म विकास से विश्व कल्याण...तक मानता है धर्ममय...
आत्म शांति से विश्व शांति...तक मानता है धर्ममय...(5)

मोक्ष से ही जीव बनता है...पूर्ण सच्चिदानंद स्वरूप...
अनंत ज्ञान दर्शन सुख वीर्यमय...शुद्ध बुद्ध शाश्वत रूप...
केवल भौतिक उपलब्धि हेतुक... नहीं है सकरात्मकता...
आत्मोपलब्धि के कारणभूत...विचार है परम सकारात्मकता...(6)...

ऐसे परम विचार सहित ही...होते हैं सच्चे धार्मिक...
ऐसे ही परम विचार/(लक्ष्य) के कारण...'कनक' बना है धार्मिक...(7)...

परम विकास हेतु नई महत्वाकांक्षा

(चालः- छोड़ो कल की बातें....) - आचार्य कनकनन्दी

छोड़ो भूत की बातें...भूत की बातें अज्ञानी/(अनादि)...
अभी से हम जानेंगे...आत्मा की अमर/(उन्नति) कहानी...
हम आत्मिक ज्ञानीऽऽऽ हम मुमुक्षु प्राणीऽऽऽ छोड़ो भूत...(ध्रुवपद)...
/(हम आत्मकल्याणी... हम विवेकी प्राणी...)
अपने मोह-अज्ञान को...हमने छोड़ दिए हैं...
राग-द्वेष-ईर्ष्या व घृणा को...हेय माने हैं...
तन-मन व इन्द्रियों को...हम पर माने हैं...
सत्ता-संपत्ति-प्रसिद्धि से...तृष्णा छोड़े हैं...
नया जन्म है!...नया भाव है!...जो है आत्म प्रकाशी...
आध्यात्मिक प्रेमी...हम समता प्रेमी...
हम प्रगति प्रेमी...हम उत्सव प्रेमी...छोड़ो भूत...(1)...

अपना-पराया भेदभाव...हम छोड़ चुके हैं...
मैत्री प्रमोद कारुण्य...माध्यस्थ में जुड़ चुके हैं...
स्व-पर-विश्व कल्याण की...भावना भा रहे हैं...
अपाय विचय विपाक विचय...(आदि) ध्या रहे हैं...
नया जनम है!...नया भाव है!...जो है आत्म प्रकाशी...
हम धर्मध्यानी...हम धर्मप्रेमी...
हम आत्म कल्याणी...हम विवेकी प्राणी...छोड़ो भूत...(2)...
इससे परे हम भी आत्मा को...परमात्मा बनायेंगे...

''सत्य शिव सुन्दर'' व...'सच्चिदानन्द' बनेंगे
त्याग-तपस्या के द्वारा...आत्मा को शुद्ध करेंगे...
शुद्ध-बुद्ध-आनंदमय...निज आत्मा को पायेंगे...
नया जन्म है!...नया भाव है!...जो है आत्म प्रकाशी...
हम आत्मा के ध्यानी...हम 'सोऽहं' के कामी...
हम आत्मिक ज्ञानी...हम मुमुक्षु प्राणी...छोड़ो भूत...(3)...
लौकिक शिक्षा राजनीति व...विज्ञान से...
न्याय समाजनीति व...संविधान से...
संभव नहीं है परम विकास...भौतिक विकास से...
ख्याति पूजा प्रसिद्धि व...सत्ता-संपत्ति से...
नया जन्म है!...नया भाव है!...जो है आत्म प्रकाशी...
हम परमाकांक्षी...हम आत्माकांक्षी...
हम आत्म कल्याणी...हम विवेकी प्राणी...छोड़ो भूत...(4)...
आत्म उपलब्धि ही है हमारे...परम ध्येय...
ध्येय(की) प्राप्ति से ही हम...करेंगे पूर्ण विराम...
/(ध्येय प्राप्ति पूर्व तक हम...न करेंगे विश्राम)...
यह ही हमारे परम विकास...परम उपलब्धि...
अन्य सभी उपलब्धियाँ तो...तुच्छ उपलब्धि...
नया जन्म है!...नया भाव है!...जो है आत्म प्रकाशी...
हम महत्वाकांक्षी...'कनक' की आत्मिक दृष्टि...
हम आत्मिक ज्ञानी...हम मुमुक्षु प्राणी...छोड़ो भूत...(5)

राग-द्वेषी-मोही-अज्ञानी से विपरीत भाव व काम

(चालः- देहाची तिजोरी....(मराठी), दुनिया हँसे....छोटी-छोटी गैया.....,तुम दिल की धड़कन.....)

- आचार्य कनकनन्दी

विचित्र है कर्म विचित्र है भाव...विचित्र है कथन विचित्र है काम...
हिताहित ज्ञान के रिक्त अविवेकी काम...सत्यासत्य ज्ञान बिन भ्रमपूर्ण
ज्ञान...(स्थायी)...

आत्म-परमात्म ज्ञान बिन धार्मिक काम...शरीर को 'मैं' माने आत्मा का न भान...
अष्टमदमय भाव (व) काम में आसक्त...स्वाभिमान/
(स्व-गौरव) सोऽहंभाव को माने अनुचित...
अहंकार-ममकार में होते लवलीन...आत्म-हित को मानते नीच काम...
बाह्य ढोंग-पाखण्ड तो मानते धर्म...समता शांति पवित्रता का न करते
काम...(1)...

धन व मान हेतु करते नीच काम...शोषण-मिलावट व नौकरी काम...
सेवा दान परोपकार के काम को...नीच व नौकर का माने तुच्छ काम...
फैशन-व्यसन आदि को माने गौरव काम...आडम्बर दिखावा को महान् का
काम...
सादा जीवन उच्च विचार को हीन काम...आत्मविश्वास अनुभव को दंभ
काम...(2)...

भेड़-भेड़िया चाल में चलते-चलाते...देखादेखी अयोग्य काम भी करते...
स्वयं को पतित बनाते अन्य को सताते...स्वयं को महान् व महान् को नीच
मानते...
धन मान प्रसिद्धि को ही महान् मानते...इसी हेतु पढ़ाई व नौकरी करते...
शोषण-मिलावट-भ्रष्टाचार आदि करते...आध्यात्मिक विकास को नहीं
जानते...(3)...

चमड़ी-दमड़ी पढ़ाई को श्रेष्ठ मानते...महान लक्ष्य व भाव को नहीं जानते...
अज्ञानी मोही की होती अनंत कहानी...आध्यात्मिक की होती इससे विपरीत
कहानी...
परस्पर विरोधी होते ज्ञानी-अज्ञानी...अज्ञानी की दृष्टि से ज्ञानी-अज्ञानी...
अंधकार-प्रकाश सम होते विरोधी...'कनक' को मान्य आध्यात्मिक
सद्बुद्धि...(4)

अज्ञानी-मोही के विपरीत भाव व व्यवहार

(चालः- भातुकली...., छोटी-छोटी गैया....)

राग-द्वेष मोह-काम-क्रोध से, ईर्ष्या-तृष्णा-घृणा व अहंकार से।

जीव न जानते सत्य-तथ्य, हिताहित विवेक से होते रिक्त।।
सत्य को असत्य माने जाने जीव, हित को अहित माने वे जीव।
मद्यपी से भी होते अधिक मोहित, अंधे से भी अधिक विवेक रहित।।
सत्ता-संपत्ति को अपना मानते, भोगोपभोगों में होते आसक्त।
फैशन-व्यसनों में होते मस्त, पर अहित में लगाते चित्त।।
गुण व गुणी की न प्रशंसा करते, अन्य की प्रशंसा से घृणा करते।
अन्य की निन्दा से प्रसन्न वे होते, अन्य के दुःख से खुश वे होते।।
अन्य की प्रगति से जलते रहते, अन्य को छोटा कर बड़ा बनते।
अन्य की निन्दा से महान् बनते, अन्य के नाश से स्व-विकास मानते।।
विघ्नसंतोषी व छिद्रान्वेषी होते, परसुखकातर व कृतघ्नी होते।
स्व-दोष व कमी को नहीं जानते/(मानते), स्व-दोष कमी को सही मानते/(जानते)।।
संकीर्ण कट्टर जो धार्मिक होते, धन-जन-मान से संयुक्त होते।
ख्याति-पूजा-लाभ में(जो) आसक्त होते, बुद्धिजीवी में उक्त कुगुण (अधिक) होते।।
सरल-सहज भोला-भाला जो होते, श्रद्धा-प्रज्ञा से जो संयुक्त होते।
स्व-परहितकारी (जो) गुणज्ञ होते, उक्त कुगुण से वे बचते रहते।।
स्व-पर सुख हेतु सुगुण ग्राह्य, स्व-पर दुःख हेतु कुगुण त्याज्य।
सुगुणों से ही मिलता है मोक्ष, 'कनक' अतएव सुगुणों में आसक्त।।

विपरीत ज्ञान से विपरीत मान्यता

(चाल :- (म्हारी माँ जिनवाणी....)

हे विपरीत ज्ञानी! विपरीत मान्यता तेरीऽऽ...
सत्य को असत्य, असत्य को सत्य, माने है कुबुद्धि तेरी...2
अमूल्य को मूल्य, मूल्य को अमूल्य, बहुमूल्य को माने कोरी...2
हे विपरीत ज्ञानी!....(टेक)
मृगमरीचिका सम असत्य में भी, मान्यता तुमरी भारी...2
कस्तूरी मृग सम स्वनाभि कस्तूरी, बाहर ढूंढता कोरी...2 हे विपरीत...(1)

सोना चाँदी व मणि माणिक्य को, बहुमूल्य मान्यता तेरी...2
मिट्टी वायु व पानी के बिना, क्या काम आवे तेरे...2...हे विपरीत...(2)

सत्ता सम्पत्ति प्रसिद्धि बुद्धि को, बहुमूल्य मान्यता तेरी...2
सदाचार व शान्ति के बिना, ये क्या काम आवे तेरी...2 हे विपरीत...(3)

पढ़ाई डिग्री व नौकरी धन में, महत भाव है तेरा...2
संस्कार विवेक स्वास्थ कुटुम्ब बिना, इसका महत्त्व है कोरा...2
हे विपरीत...(4)

धन जन तन अभिमान में, स्वरूप भाव है तेरा...2
आत्मश्रद्धान आत्मज्ञान बिन, इनका महत्त्व है कोरा...2 हे विपरीत (5)

धार्मिक पंथ ग्रन्थ पर्व मे, आग्रह भाव है तेरा...2
शुचिता समता सत्यनिष्ठा बिन, महत्त्व शून्य है सारा...2 हे विपरीत...(6)

भोग-उपभोग वैभव को तू, सुख है मानता सारा....2
ज्ञानानन्द आत्म वैभव समक्ष, तुच्छ हैं ये सुख सारा...2 हे विपरीत...(7)

संसारवर्द्धक धन को तू, मानता सबसे प्यारा...2
आत्म संवर्धक गुरु ज्ञान तो, अनावश्यक सदा तेरा...2 हे विपरीत...(8)

प्रतिकूल त्यागो अनुकूल चलो, पाओगे सत्य व शान्ति...2
''कनकनन्दी'' तो भावना भाये, होवे है विश्व में शान्ति...2 हे विपरीत...(9)

बुद्धि को ही अधिकांश जन महत्त्व क्यों देते ?

(संकीर्ण स्वार्थसिद्धि कारक होती है बुद्धि)

(चालः- छोटी-छोटी गैया ....) - आचार्य कनकनन्दी

संवेदनाहीन जो बुद्धि होती...आध्यात्मिकता से रहित होती।
हिताहित विवेक से रहित होती...संकीर्ण स्वार्थनिष्ठ वह होती।।
परोपकार से रहित होती...स्वार्थ पोषण मे प्रवृत्त होती।
वर्तमान सर्वस्व को मानती/(जानती)...सत्ता सम्पत्ति प्रसिद्धि चाहती।। (1)

व्यक्ति परिवार समाज राष्ट्र में...अन्तर्राष्ट्रीय आदि हर क्षेत्र में।

शिक्षा राजनीति व्यापार न्याय में...नौकरी शिल्प धर्मादि क्षेत्र में।।
बुद्धि से अधिक स्वार्थ सिद्धि होती...अतएव बुद्धि की प्रसिद्धि होती।
अधिकांश लोग इसे चाहते...इसी के लिए पुरुषार्थ करते।। (2)

प्रशिक्षण इसी के लिए करते...विद्यालय इसी के लिए जाते।
समय शक्ति धन खर्च करते...डिग्री के लिए पुरुषार्थ करते।।
डिग्री से मान्यता व सेवा मिलती...सत्ता सम्पत्ति प्रसिद्धि मिलती।
पाप कार्य में दक्षता मिलती...पाप छिपाने की दक्षता आती।। (3)

अयोग्य कार्य भी वे करते...फैशन-व्यसन भी बहु करते।
भोले-भाले लोगों को भी ठगते...अन्याय व भ्रष्टाचार करते।।
रावण कंस हिटलर सम होते...संवेदना से रहित वे होते।
दया दान सेवा भी नहीं करते...आध्यात्मिकता से विमुख होते।। (4)

इनका पतन अवश्य होता...संतोषमय जीवन नहीं मिलता।
स्व-पर अपकारी वे बनते...इह परलोक में दुःखी बनते।।
बुद्धि से संवेदना श्रेष्ठ होती...दोनों से (भी) आध्यात्मिक श्रेष्ठ होती।
सम्यक् सेवनीय तीनों होते...'कनक' को सम्यक् तीनों भाते।। (5)

केवल बुद्धि नहीं है सम्पूर्ण व्यक्तित्व

(कुबुद्धि होती है विनाशकारी)

(जीव के गुण)

(चाल :- आत्मशक्ति से ओतप्रोत....) - आचार्य कनकनन्दी

बुद्धि तो है छोटा ज्ञान, बुद्धि नहीं विश्वास।
बुद्धि नहीं सुख रूप, बुद्धि नहीं है सर्वस्व।। (स्थायी)
मतिज्ञान अन्तर्गत, होता है बुद्धिज्ञान।
सम्यक्त्व बिना बुद्धि, होती भी है कुज्ञान।।
सबसे है छोटा ज्ञान, मिथ्या युक्त खोटा ज्ञान।
संख्यात जानती है बुद्धि, नहीं है अनन्तज्ञान।। (1)

कुबुद्धि यदि होती है, जानती है विपरीत।

सुबुद्धि यदि होती है, तथापि नहीं प्रत्यक्ष।।
मन-इन्द्रिय सहित, होता है मतिज्ञान।
अवग्रह ईहा आवाय, धारणा सह मतिज्ञान।। (2)

मतिज्ञानावरण क्षयोपशम से, होता है मतिज्ञान।
आत्माभिमुख न होने से, नहीं होता श्रुतज्ञान।।
वर्तमान काल पदार्थ का, होता है 'मति' ज्ञान।
पूर्व का ज्ञान स्मरण केवल होता है 'स्मृति' ज्ञान।। (3)

प्रत्यक्ष (व) स्मरण जोड़ से, होता हे 'संज्ञा' ज्ञान।
कार्य-कारण सम्बन्ध से, होता है, 'चिन्ता'/(तर्क) ज्ञान।
'अनुमान' ज्ञान भी होता (है) , मतिज्ञान के ही भेद।
'प्रतिभा' मेधा भी होते हैं, मति के भेद-प्रभेद।।(4)

कुमतिज्ञान से होता है, मारणास्त्र यंत्र निर्माण।
सुमतिज्ञान बनता है, सुश्रुत ज्ञान कारण।।
भेद विज्ञान इससे बनता, हिताहित विवेक ज्ञान।
स्व-पर विश्व हितकारक, उभयलोक हित ज्ञान।। (5)

संयम तप साधना सहित, बनता प्रत्यक्ष ज्ञान।
केवलज्ञान है प्रत्यक्ष ज्ञान, अनन्त अक्षय प्रमाण।।
अतएव बुद्धिज्ञान ही, नहीं है पूर्ण व्यक्तित्व।
अन्य सद्गुण रहित बुद्धि विनाशकारी है तत्त्व।। (6)

सुबुद्धि सह (सहित) अन्य गुण से, होता पूर्ण व्यक्तित्व।
विकास सर्वांगीण होता है, 'कनक' मान्य व्यक्तित्व।। (7)

हितकारी व अहितकारी ज्ञान

(चालः- छोटी-छोटी गेया...., तुम दिल की....)

उथली जानकारी खण्डित ज्ञान, अति भयंकर है विपरीत ज्ञान।
हिताहित विवेक सह अल्प सुज्ञान, हितकारी होता है अनुभव ज्ञान।।
हित की प्राप्ति (व) अहित परिहार, विवेक सहित ज्ञान होता सुज्ञान।

इसी से विपरीत होता कुज्ञान, संकीर्ण एकांगी अनुभव शून्य ज्ञान।।
सत्य को असत्य, असत्य को सत्य अहित को हित, हित को अहित।
अपूर्ण को पूर्ण, पूर्ण को अपूर्ण, हेय को उपादेय, उपादेय को हेय।। (1)

अनुभव रहित उथला जो ज्ञान, स्व-पर अपकारी विशाल ज्ञान।
आचरण रहित जो सब ज्ञान, नहीं होते हैं यथार्थ सुज्ञान।।
सुज्ञान होता है उपकारी ज्ञान, आचरण युक्त अनुभव ज्ञान।
समन्वय युक्त (व) सापेक्ष सहित, क्रमबद्ध (व) सूक्ष्मता सहित।। (2)

इसी हेतु चाहिये स्वाध्याय मनन, संकीर्णता व पूर्वाग्रह विसर्जन।
सनम्र सत्यग्राही जिज्ञासु मन, शोध-बोध व चिन्तन ध्यान।।
जिससे ज्ञान में होता विकास, पूर्व अपूर्ण ज्ञान का होता आभास।
अपूर्व ज्ञान हेतु होता प्रयास, जिससे ज्ञान में होता तीव्र विकास।।(3)

अन्यथा कुज्ञानी या अल्पज्ञानी, स्व-ज्ञान में ही होता अभिमानी।
नहीं बनता सुज्ञानी(या) महाज्ञानी, कूपमण्डुक सम संकीर्ण ज्ञानी।।
ज्ञान है आत्मा का निज स्वभाव ज्ञानानंदमय आत्मा का भाव।
आत्मज्ञान प्राप्त करना जीव का धर्म, 'कनकनन्दी' का शुद्ध स्वधर्म।। (4)

स्व-पर-विश्व-हितकारी

(द्रव्य-श्रुत एवं उसके रचयिता)

(चाल : धन्य गुरुवर धन्य हो...., सायोनारा....)

धन्य हे! लेखक धन्य हो तुम, कितना परिश्रम करते हो।
स्व-पर-विश्व-हित के हेतु,ज्ञान को लिपिबद्ध करते हो।। (स्थायी)...
तुम से ज्ञान लिपिबद्ध होकर, हो जाता चिरस्थायी है।
पीढ़ी दर पीढ़ी उस ज्ञान से, लाभान्वित होती जाती है।।
शत व सहस्र वर्षों तक, लाभान्वित होता मानव है।
अन्यथा मानव पूर्वज्ञान से, कैसे हो पाता लाभान्वित है।। (1)

सर्वज्ञ द्वारा उपदिष्ट ज्ञान को, गणधर देव ने लिखा।
उससे जो ज्ञान हुआ प्राप्त, उसे पूर्वाचार्यों ने लिखा।।

उसकी टीका वार्तिक वृत्ति, अन्य आचार्यों ने भी की।
ऐसा ही परंपरा की शृंखला, अन्य विधाओं में भी हुई।। (2)

अनुवाद-समीक्षा आदि के द्वारा आधुनिकीकरण भी होता।
जिसके द्वारा आधुनिक मानव, उससे लाभान्वित भी होता।।
अन्यथा हम तक सर्वज्ञ द्वारा उपदिष्ट ज्ञान नहीं पहुँचता।
आत्मा-परमात्मा बंध-मोक्ष का, ज्ञान हमें भी नहीं मिलता।। (3)

ऐसा भी अन्य ज्ञान में होता, जो उत्तरोत्तर बढ़ता भी।
अन्यथा हर ज्ञान के लिए स्वयं को/(से) ही प्रारंभ करना होता।।
इससे न ज्ञान का होता तीव्र विकास, जिससे न होता आत्मविकास।
आत्म-विकास हेतु 'कनक' अध्ययन करे सच्चे शास्त्र।। (4)

यथार्थ ज्ञान=अज्ञान-निवृत्ति, हित-प्राप्ति, अहित परिहार

(चालः- छोटी-छोटी गैया....तुम दिल की...., सायोनारा....)

हित की प्राप्ति अहित-परिहार, जिससे होता वह यथार्थ/(सम्यक्) ज्ञान।
अन्य सभी तो जानकारी मात्र है, लौकिक हो या धार्मिक/(आध्यात्मिक) ज्ञान।। (ध्रु.)

यथा प्रकाश से अंधेरा दूर होता, नवीन अंधेरा भी न होता प्रवेश।
दृश्यमान पदार्थ भी दिखायी देता, ग्राह्य प्राप्त, अग्राह्य होता परिहार।।
तथाहि जब होता यथार्थ ज्ञान, अज्ञान-अन्धकार भी होता दूर।
हित-अहित का होता परिज्ञान, हित ग्राह्य होता अहित परिहार।।(1)

यथार्थ ज्ञान होता आत्मश्रद्धा से, यथार्थ स्वरूपमय आत्मविश्वास से।
सच्चिदानंदमय होता आत्मा, इससे भिन्न सभी होते अनात्मा।।
राग द्वेष मोह काम क्रोधादि सभी, सत्ता-संपत्ति व प्रसिद्धि डिग्री।
शत्रु-मित्र अपना पराया आदि, तन-मन इन्द्रिय विकार बुद्धि।। (2)

ये सब अनात्मा (अतः) होते अहित, इसके परिहार से होता आत्महित।

सच्चिदानंदमय आत्महित, इसके ग्रहण में होता आत्महित।।
यह परम आध्यात्मिक ज्ञान स्वरूप, व्यवहार-गौण में होता प्रवृत्त।
हिंसा-झूठ-कुशील-चोरी परिग्रह, फैशन-व्यसनों से होता निवृत्त।। (3)

अन्याय-अत्याचार-शोषण-मिलावट, दूर होता भ्रष्टाचार आतंकवाद।
निन्दा-चुगली-अपमान-वैरत्व, त्याग होता ईर्ष्या घृणा तृष्णा विवाद।।
न्याय(नीति) सदाचारादि होता ग्रहण, सादा जीवन उच्च विचार उदारमन।
समता शांति का होता ग्रहण, ये सब (होते) यथार्थ से सम्यग्ज्ञान।। (4)

अन्यथा ज्ञान न होता यथार्थ ज्ञान, जानकारी मात्र या दिखावा ज्ञान।
ज्ञान का फल होता सदाचरण, 'कनक' का लक्ष्य पूर्ण आत्म-विज्ञान।।(5)

सन्दर्भ-

हिताहित प्राप्ति परिहार समर्थ हि प्रमाणं ततो ज्ञानमेव तत्।। 'परीक्षामुख'(2)

जिससे हित की प्राप्ति अहित का परिहार होता है वह प्रमाण है जो कि सम्यग्ज्ञान स्वरूप है।

अज्ञान निवृत्तिहानोपादानोपेक्षाश्च फलम्। (प.मुख सूत्र. अध्याय 5)

अज्ञान की निवृत्ति अहित का त्याग, हित की प्राप्ति, वीतराग स्वरूप निरपेक्षरूप समता भाव यह सम्यग्ज्ञान का फल है।

विज्ञान के असत्य मत तथा उससे हानियाँ

चाल :- (यमुना किनारे....)

नित्य विज्ञान में होता अनुसन्धान, नये-नये मतों का होता निर्माण/(वर्णन)।
पुराने मतों का कुछ होता शोधन, कुछ नेष्ट-श्रेष्ठ कुछ होता जनम।। (1)

अज्ञ पथिक यथा आगे-आगे बढ़ता, कुछ आता-जाता कुछ मार्ग भूलता।
तथाहि विज्ञान यथा आगे-आगे बढ़ता, कुछ आता-जाता कुछ सत्य भूलता।।

यथा अणु विखण्डन होता जा रहा, अणु का पूर्वमत क्षीण/(नष्ट,नेष्ट)हो रहा।
परमाणु प्रतिअणु बनता जा रहा, नया-नया मत भी बनता जा रहा।। (3)

तथा ही जीव विज्ञान विश्व ज्ञान, प्रकाश की गति व जिनोम ज्ञान।
मनोविज्ञान तथा स्वास्थ्य-विज्ञान, विज्ञानों में होता शुद्धिकरण।। (4)

विज्ञान भी नहीं है परम ज्ञान, अपरिवर्तनीय तथा सिद्धान्त ज्ञान।
विज्ञान तो अभी भी मार्ग पे चला,परम सत्य रूपी लक्ष्य न मिला/(पाया)।।(5)

प्रकाश की गति को परम माना, आइन्स्टीन ने इस मत को माना।
अभी तो विज्ञान इसे नकार रहा, न्यूट्रीनों की गति अधिक पाया।। (6)

इसी से भी अधिक गति होती अणु की, जैन धर्म में वर्णित परम/(शुद्ध)
अणु की।
यह अणु विज्ञान को नहीं है ज्ञात, सर्वज्ञ ज्ञात है, नहीं विज्ञान को ज्ञात।।(7)

विग्रह गति तथा सिद्धजीव की गति, न्यूट्रीनों से भी अति तीव्र गति।
विज्ञान को यह सब ज्ञात नहीं है, सर्वज्ञ ज्ञानगम्य परम गति है।। (8)

विज्ञान का अनुमान चल ही रहा, विश्व सृष्टि बारे में सोच ही रहा।
काल्पनिक जगत् में विचर रहा, शून्य से सृष्टि को ही ढूँढ रहा।। (9)

समय व आकाश का अभाव माना, हठात् सिंगुलरिटी जन्म को माना।
शुरू में आकर शून्य वस्तुओं को माना,वजन भी उसमें नहीं है माना।। (10)

बिग बैंग जब हुआ उस काल में, बोसोन हिग्स जन्मा क्षण मात्र में।
जिससे चीजों में वजन आया, आपस में तत्वों का सम्बन्ध हुआ।। (11)

जिससे सूर्यादि का जन्म भी हुआ, बोसोन विनाश क्षण में हुआ।
ब्रह्माण्ड का विस्तार हो ही रहा, चौदह अरब वर्ष प्रायः हो रहा।। (12)

असत्य से सत्य जन्म नहीं लेता है, शाश्वतिक यह सत्य भूला बैठा है।
मूल में ही विज्ञान की यह भूल है, वस्तु स्वरूप से यह प्रतिकूल है।। (13)

विश्व अनादि अनन्त तथा ही अणु, वजन से रहित है परम अणु।
स्कन्ध रूप में जब अणु बनता, चीजों(स्कन्धों) में वजन तब प्रगट होता।।(14)

आकाश व कालाणु होते शाश्वत, दोनों ही अमुर्तिक भार रहित।

आकाश का विस्तार अनन्तानन्त, आकाश/(उसके) मध्य में ब्रह्माण्ड स्थित।।

व्यवहार समय तो भौतिक कृत, अन्तरिक्ष व्यवहार दूर सापेक्ष।
यह तो व्यवहार में होता सम्भव, आकाश काल की सृष्टि नहीं सम्भव।। (16)

जड़ तत्त्व से जीवों की सृष्टि मानना, यह भी विज्ञान का अज्ञानपना।
जिनोम तक जड़ तत्त्व ही जानो, जीव तत्त्व को चैतन्य ही मानो।। (17)

इत्यादि विज्ञान के मतानुसार, समस्त ब्रह्माण्ड है शून्य विस्तार।
विश्व में नहीं सत्य शिव सुन्दर, सच्चिदानन्दमय आत्म विचार।। (18)

उपेक्षित जिनवाणी का अमृत संदेश

(चाल :- 1. होठों पे सच्चाई रहती है... 2. हाँ तुम बिल्कुल)

मैं जिनवाणी सर्वज्ञवाणी सबसे उपेक्षित मैं दिव्यवाणी।
सर्वज्ञसुता में सरस्वती मेरे(हैं) पुत्र गणधर ज्ञानी।। (टेक)
मेरी सन्तति आचार्य यती पाठक साधुसंत आर्यिका सती
मेरी कोख से जन्म लेते हैं ज्ञान-विज्ञान भाषा संस्कृति।।...2 ज्ञान---
तथापि मुझे कोई न जाने न माने हैं वे मंदमती
जो भव्य जाने जो भव्य माने सो ही बनें मोक्षपति।। सो--- (1)

पढ़ाई-बढ़ाई-चमड़ी-दमड़ी में लगे रहते हैं मूढ अज्ञानी
सत्ता सम्पत्ति प्रसिद्धि डिग्री को ही सब कुछ माने अज्ञानी।। को---
कोई मुझे पढ़े पर गुने नहीं अतः हैं वे पंथ मतगामी।
स्वार्थ में मेरा करे उपयोग स्व-पर घातक अन्धश्रद्धानी।। स्व-पर-(2)

अनेकान्त को एकान्तवाद रूप में वीतराग को वित्तराग में माने
परमार्थ को स्वार्थरूप में आत्मसिद्धि को प्रसिद्धि रूप माने।। आत्मसिद्धि---
मैं जो बताऊँ ज्ञान-विज्ञान आत्मिक ज्ञान में नहीं है रुचि
किंतु अढाई वर्ष आयु से पढ़ने-पढ़ाने में होती है रुचि।। पढ़ने--- (3)

मेरा ज्ञान तो अनंतज्ञान लौकिक अलौकिक आध्यात्मज्ञान

लौकिकज्ञान भौतिकज्ञान तथापि मेरा न लेता ज्ञान।। तथापि---
ऊँट को यथा नीम सुहाये मोही को लौकिकज्ञान ही भाये
इसलिए मैं होती उपेक्षित उल्लू को यथा सूर्य न भाये। उल्लू---(4)

''कनकनन्दी'' का सुनो आह्वान स्वाध्याय से तुम नाश करो अज्ञान
अमृत समान मेरा है ज्ञान समस्त दुःखों के नाशक ज्ञान।। समस्त---
मैं जिनवाणी सर्वज्ञवाणी सबसे उपेक्षित मैं दिव्यवाणी
सर्वज्ञसुता मैं सरस्वती मेरे हैं पुत्र गणधर ज्ञानी।।--- (5)

ज्ञान सामान्य का लक्षण

जाणइ तिकालविसए दव्वगुणे पज्जरए य बहुभेदे।
पच्चक्खं च परोक्खं अणेण णाणेत्ति णं वेंति।। 299 गो.जीव.

त्रिकाल अर्थात् अतीत, अनागत और वर्तमान कलावर्ती बहुत भेदों को अर्थात जीव आदि, स्थावर आदि नाना प्रकारों को, जीव-पुद्गल-धर्म-अधर्म-आकाश-काल नामक द्रव्यों को, ज्ञान-दर्शन-सम्यक्त्व-सुख-वीर्य आदि और स्पर्श-रस-गन्ध वर्ण आदि गुणों को, तथा गतिहेतुत्व, स्थितिहेतुत्व, अवगाहनहेतुत्व, वर्तनाहेतुत्व आदि पर्यायों को, स्थावर-त्रस आदि को, परमाणु-स्कन्ध आदि को अर्थपर्याय और व्यंजनपर्यायों को इसके द्वारा प्रत्यक्ष अर्थात् स्पष्ट और परोक्ष अर्थात् अस्पष्ट रूप से जानता है, इसलिए अर्हन्त आदि इसे ज्ञान कहते हैं, यह जीव का व्यवसायात्मक गुण है। यह ज्ञान ही प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से दो प्रकार का प्रमाण होता है। प्रमाण का स्वरूप, संख्या, विषय, फल तथा तत्सम्बन्धी विवादों का निराकरण करके स्याद्वादसम्मत प्रमाण का, स्थापन विस्तारपूर्वक प्रमेयकमलमार्तण्ड आदि तर्कशास्त्र के ग्रन्थों में देखना चाहिएँ इस अहेतुवाद रूप आगम ग्रन्थ में हेतु वाद का अधिकार नहीं हैं।। 299।।

ज्ञान के भेद

पंचेव होति णाणा मदिसुदओहीमणं च केवलयं।
खयउवसमिया चउरो केवलणाणं हवे खइयं।। 300।।

मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल नामक सम्यग्ज्ञान पाँच ही हैं, न कम हैं, न अधिक हैं। यद्यपि सामान्य की अपेक्षा संग्रह रूप द्रव्यार्थिक नय के आश्रय से

ज्ञान एक ही कहा है, तथापि विशेष की अपेक्षा, पर्यायार्थिक नय के आश्रय से ज्ञान पाँच ही कहे हैं; यह उक्त कथन का अभिप्राय है। उनमें से मति,श्रुत, अवधि, मनःपर्यय नामक चार ज्ञान क्षायोपशमिक होते हैं। मतिज्ञान आदि आवरण और वीर्यान्तराय कर्म द्रव्य के अनुभाग के सर्वघाती स्पर्धकों के उदय का अभाव रूप क्षय और जो उदय अवस्था को प्राप्त न होकर सत्ता में स्थित हैं, उनका वही हुआ सदवस्थारूप उपशम। क्षय और उपशम को क्षयोपशम कहते हैं। जो क्षयोपशम से होते हैं अथवा क्षयोपशम जिनका प्रयोजन हैं, वे क्षायोपशमिक हैं। क्षायोपशमिक ज्ञानों में यद्यपि उस-उस आवरण सम्बन्धी देशघाती स्पर्धकों का उदय विद्यमान रहता है तथापि वे ज्ञान की उत्पत्ति के प्रतिघाती नहीं हैं, इसलिए यहाँ उनकी विवक्षा नहीं है। किन्तु केवलज्ञान क्षायिक ही होता है; क्योंकि वह केवल ज्ञानावरण तथा वीर्यान्तराय के सम्पूर्ण क्षय से प्रकट होता है। जो क्षय से होता है या क्षय जिसका प्रयोजन है, वह क्षायिक है। यद्यपि आत्मा में केवलज्ञान प्रतिबन्धक अवस्था में शक्ति रूप से विद्यमान है, तथापि प्रतिबन्धकके क्षय से ही वह प्रकट होता है, इसलिए व्यक्ति की अपेक्षा कार्य होने से उसे क्षायिक कहा है। आवरण का क्षय होने पर प्रकट होता है, ऐसी निरुक्ति होने से उसकी व्यक्ति की अपेक्षा है।।

मिथ्याज्ञान की उत्पत्ति के कारण, स्वरूप और स्वामी भेद

अण्णाणतियं होदि हु सण्णाणतियं खु मिच्छ अणउदए।
णवरि विभंगं णाणं पंचिंदियसण्णिपुण्णेव।। 301

जो सम्यग्दृष्टि जीव के मति, श्रुत और अवधि नामक तीन सम्यग्ज्ञान हैं, संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीव के विशेष ग्रहणरूप आकार सहित उपयोग जिनका लक्षण है, वे ही तीनों मिथ्यादर्शन और (मिथ्यात्व विषयक) अनन्तानुबन्धी कषाय में-से किसी एक कषाय का उदय होने पर अतत्त्वार्थश्रद्धानरूप परिणत मिथ्यादृष्टि जीव के मिथ्याज्ञान होते हैं। किन्तु इतना विशेष है कि जो अवधिज्ञान के विपरीत रूप विभंग नामक मिथ्याज्ञान है, वह संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त के ही होता है, अन्य जीव के नहीं होता। इससे यह व्यक्त होता है कि अन्य मतिअज्ञान और श्रुतअज्ञान ये दोनों एकेन्द्रिय आदि पर्याप्त और अपर्याप्त सब मिथ्यादृष्टि और सासादन गुणस्थानवर्ती जीवों के होते हैं।।

सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में ज्ञान का स्वरूप

मिस्सुदए संमिस्सं अण्णाणतिएण णाणतियमेव।
संजमविसेससहिए मणपज्जवणाणमुद्दिट्ठं।। 302।।

मिश्र अर्थात् सम्यक् मिथ्यात्व कर्म का उदय होने पर तीन अज्ञानों के साथ तीनों सम्यग्ज्ञान मिले हुए होते हैं। अलग-अलग करना शक्य न होने से उन्हें सम्यग्मिथ्या मति ज्ञान, सम्यग्मिथ्या श्रुतज्ञान और सम्यग्मिथ्या अवधिज्ञान नाम से कहते हैं। सम्यमिथ्यादृष्टि में वर्तमान तीनों ज्ञान न केवल सम्यग्ज्ञान होते हैं और न केवल मिथ्याज्ञान होते हैं किन्तु जैसे उनके सम्यग्रूप और मिथ्यारूप मिला हुआ श्रद्धान होता है, वैसे ही मिथ्याज्ञान और सम्यग्ज्ञान मिला हुआ होता है, यह आचार्य का कथन जानना। किन्तु मनःपर्ययज्ञान विशेष संयम से सहित प्रमत्तसंयत नामक छठे गुणस्थान से लेकर क्षीणकषाय नामक बारहवें गुणस्थानपर्यन्त सात गुणस्थानों में तपविशेष से वृद्धि को प्राप्त विशुद्धि रूप परिणामों से विशिष्ट महामुनियों के होता है, अन्य देशसंयत आदि गुणस्थान में नहीं होता; क्योंकि वहाँ उस प्रकार का तपविशेष नहीं है।।

मिथ्याज्ञानों का विशेष लक्षण

विसजंतकूडपंजरबंधादिसु विणुवएसकरणेण।
जा खलु पवट्टइ मई मइअण्णाणेत्ति णं वेंति।। 303।।

जीवों को मारने और बन्धन में हेतु विष, यन्त्र, कूट, पंजर, बन्ध आदि में बिना परोपदेश के मति प्रवर्तित होती है, वह मतिअज्ञान है; ऐसा अर्हन्त भगवान् आदि कहते हैं। परस्पर वस्तु के संयोग से उत्पन्न हुई मारने की शक्ति से युक्त तैल, रसकपूर आदि द्रव्य विष हैं। सिंह, व्याघ्र आदि क्रूर जीवों को पकड़ने के लिए, अन्दर में बकरा आदि रखकर लकड़ी आदि से बनाया गया, जिसमें पैर रखते ही द्वार बन्द हो जाता हो, ऐसा सूत्र से कीलित यन्त्र होता है। मच्छ, कछुआ, चूहा आदि पकड़ने के लिए काष्ठ आदि से रचे गये को कूट कहते हैं। तीतर, लावक, हरिण आदि पकड़ने के लिये रस्सी में अमुक प्रकार की गाँठ देकर बनाये गये जाल को पंजर कहते हैं। हाथी, ऊँट आदि पकड़ने के लिए गढ़ा खोदकर और उसका मुख ढाँककर या रस्सी आदि का फन्दा लगाकर जो विशेष रचना की जाती है, उसे बन्ध कहते हैं। आदि शब्द से

पक्षियों के पंख चिपकाने के लिए लम्बे बाँस आदि के अग्रभाग में पीपल आदि का चिकना रस गोंद वगैरह लगाना और हरिण आदि के सींग के अग्रभाग में फन्दा आदि डालना लिया जाता है। इस प्रकार के कार्यों में जो बिना परोपदेश के स्वयं ही बुद्धि लगती है, वह कुमति ज्ञान है। उपदेशपूर्वक होने पर उसे कुश्रुत ज्ञान का प्रसंग आता है। अतः उपदेश के बिना जो इस प्रकार का ऊहापोह विकल्परूप हिंसा, असत्य, चोरी विषय सेवन और परिग्रह का कारण, आर्त तथा रौद्रध्यान का कारण, शल्य, दण्ड, गारव, संज्ञा आदि अप्रशस्त परिणामों का कारण, जो इन्द्रिय और मन से उत्पन्न हुआ विशेष ग्रहणरूप मिथ्या-ज्ञान है, वह कुमतिज्ञान है, यह निश्चय करना चाहिए।।

तुच्छ अर्थात् परमार्थ से शून्य और इसी कारण से सज्जनों के द्वारा अनादरणीय

आभीयमासुरक्खं भारहरामायणादि उवएसा।
तुच्छा असाहणीया सुयअण्णाणेत्ति णं बेंति।। 304।।

आभीत तथा असुरक्षा शास्त्र, भारत-रामायण आदि के उपदेश, उनकी रचनाएँ, उनकी सुनना तथा उनके सुनने से उत्पन्न हुआ ज्ञान, उसे आचार्य श्रुतअज्ञान कहते हैं। आभीत चोर को कहते हैं, क्योंकि उसे सब ओर से भय सताता है। उनके शास्त्र को आभीत शास्त्र कहते हैं। असु अर्थात् प्राणों की रक्षा जिनसे होती है, वे असुरक्षा अर्थात् कोतवाल आदि उनके शास्त्र को असुरक्षा कहते हैं। कौरव पाण्डवों के युद्ध, पंचभर्ता, द्रौपदी का वृत्तान्त, युद्ध की कथा आदि की चर्चा से भरा महाभारत ग्रन्थ है, सीताहरण, रामकी उत्पत्ति, रावण की जाति, वानरों और राक्षसों के युद्ध की यथेच्छ कल्पना को लेकर रची गयी रामायाण है। आदि शब्द से जो-जो मिथ्यादर्शन से दुषित एकान्तवादी यथेच्छ कथाप्रबन्ध, भुवनकोश हिंसामय यज्ञादि गृहस्थ कर्म, त्रिदण्ड तथा जटा धारण आदि तपस्वियों का कर्म, नैयायिकों का षोडश पदार्थ वाद, वैशेषिकों का षटपदार्थवाद, मीमांसकों का भावनाविधिनियोग, चार्वाक का भूत चतुष्टयवाद, सांख्यों के पच्चीस तत्त्व, बौद्धों का चार आर्यसत्य, विज्ञानाद्वैत, सर्वशून्यवाद जानना। क्योंकि प्रत्यक्ष और अनुमान से विरुद्ध अर्थ को विषय करता है।।

विवरीयमोहिणाणं खओवसमियं च कम्मबीजं च।
वेभंगोत्ति पउच्चइ समत्तणाणीण समयम्मि।। 305।।

मिथ्यादृष्टि जीव के अवधिज्ञानावरण और वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से उत्पन्न हआ, द्रव्य क्षेत्र काल-भाव की मर्यादा को लिये हुए रूपी द्रव्य को विषय करने वाला, किन्तु देव शास्त्र और पदार्थों को विपरीत रूप से ग्रहण करने वाला अवधिज्ञान केवलज्ञानियों के द्वारा प्रतिपादित आगम में विभंग कहा जाता है। यह विभंग ज्ञान तिर्यंचगति और मनुष्यगति में तीव्र कायक्लेश रूप द्रव्य संयम से उत्पन्न होता है, इसलिए गुणप्रत्यय है। 'च' शब्द से देवगति और नरकगति में भवप्रत्यय है तथा मिथ्यात्व आदि कर्मों केबन्ध का बीज है। 'च' शब्द से कदाचित् नरकगति आदि में पूर्वजन्म में किये गये दुराचार में- से संचित खोटे कर्मों के फल तीव्र दुःख वेदना के भोगने से होने वाले सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान रूप धर्म का भी बीज है। क्योंकि नारकियों के विभंग ज्ञान के द्वारा वेदनाभिभव और उसके कारणों के दर्शन, स्मरण आदि रूप ज्ञान के बल से सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति होती है। 'वि' अर्थात् विशिष्ट अवधिज्ञान का भंग अर्थात् विपर्यय विभंग होता है, इस निरुक्ति सिद्ध अर्थ को ही यहाँ कहा है।।

अध्याय II

ज्ञानार्जन की पद्धति

(विद्यार्थी/शिष्य के कर्त्तव्य)

(रागः शत-शत वंदन...., भातुकली...., सुनो-सुनो हे....)

सुनो हे! शिष्य तुम्हें बताऊँ, ज्ञानार्जन की सही पद्धति।
जिससे तुम्हें ज्ञान मिलेगा, पाओगे सर्वांगीण उन्नति।। (1)
विनय-शुद्धि से सहित होकर, ज्ञानार्जन करो श्रेष्ठ गुरु से।
महान उद्देश्य पवित्र भाव युत, प्रज्ञा-श्रद्धा व पुरुषार्थ से।। (2)
काल[1] विनय[2] व उधान[3] सहित, बहुमान[4] अनिह्नव[5] व्यंजन[6] शुद्ध से।
अर्थशुद्ध[7] व उभयशुद्ध[8] सह, ज्ञान-ज्ञानदाता में विनय।। (3)
श्रवण[1] करने की इच्छा सह, शंका[2] निवारण विनय युत।
एकाग्रचित्त[3] से श्रवण युक्त, अर्थग्रहण[4] भी अधिगम सहित।। (4)
पूर्वापर सम्यक् पर्यालोचना[5], सत्य-तथ्य ज्ञान ग्रहण[6] युक्त।
धारणा[7] ज्ञान में सुदृढ़, चित्त, हित ग्रहण अहित त्याग सहित।। (5)

श्रवणविधि को विशेष जानो, मौन. व एकाग्रचित्त से सुनो।
विनयपूर्वक स्वीकृति[2] कहो, प्रसन्नतापूर्वक सिर हिलाओ।। (6)
वन्दनापूर्वक गुरु को[3] बताओं , अपने सत्य-तथ्य बात बताओ।
प्रतिपृच्छा[4] करो सत्य ज्ञानार्थे, विमर्श[5] करो तथ्य के लिए।। (7)
प्रसंग[6] परायण मंथन हेतु, परिनिष्ठ[7] प्रतिपादन हेतु।
सूत्र पढ़ो सामान्य अर्थ सह, नियुक्ति सहित सूत्र मिश्रित।। (8)
नयनिक्षेप प्रमाणादि सहित, अनेकान्त स्याद्वाद युक्ति से युक्त।
प्रायोगिक अनुभव ज्ञान सहित, ज्ञान हो उपकार से युक्त।। (9)
सात्विक सुपाच्य आहार योग्य, योगासन प्राणायाम सह व्यायाम।
सादा जीवन उच्च विचार संक्लेश द्वंद्व व विकार मुक्त।। (10)
ज्ञानानुसार हो आचार पवित्र, विनम्र सत्यग्राही उदार युक्त।
स्व-पर-उपकारी आचार युक्त, अन्याय अत्याचार पापाचार रिक्त।। (11)
ज्ञानदाता गुरु से बनो कृतज्ञ, सेवा-विनय से करो गुण कीर्तन।
श्रुतज्ञान/(भावज्ञान) से पायो केवलज्ञान, इसी हेतु 'कनक' करे ज्ञानार्जन।।
(यह कविता मूलाचार एवं नन्दीसूत्र से प्रेरित है)

मेरी परम शिक्षाएँ

(रागःछोटी-छोटी गैया...., सायोनारा....)
अनेकान्त से मुझे शिक्षा मिलती, अनंत धर्मात्मक है वस्तु स्वरूप।
अनंत धर्ममय बनने हेतु बनना है उदार व्यापक स्वरूप।। (1)
स्याद्वाद से मुझे शिक्षा मिलती, सत्य कथन करूँ सापेक्षमय।
पक्षपात दुराग्रह से भी रहित, स्व-पर-विश्व कल्याण सहित।। (2)
ममता से मुझे शिक्षा मिलती, मोह-क्षोभ से रहूँ मैं परे।
संकल्प-विकल्प व संक्लेश त्यागकर, सहिष्णु क्षमा व शांति पुरस्सर/
(परिपूर्ण)।। (3)
अपरिग्रह से मैं लेता हूँ शिक्षा, तन-मन-इन्द्रिय परे मम रूप।
द्रव्यभाव नोकर्म रहित हूँ, सत्ता-संपत्ति व प्रसिद्धि रिक्त हूँ।। (4)

अहिंसा से मैं लेता हूँ शिक्षा, कषाय-मोह से मैं बनूँ निर्लिप्त।
दश धर्म पंचव्रत समिति सहित, संक्लेश अध्यवसाय से बनूँ मूक्त।। (5)
परमसत्य से मैं लेता हूँ शिक्षा, सच्चिदानंदमय मेरा स्वरूप।
अनादि अनंत स्वयंभू स्वयंपूर्ण, 'कनकनन्दी' है मेरा अव्यय रूप।। (6)

स्वाध्याय इह-परलोक व मोक्ष प्रदाता, न कि पढ़ाई

(विनम्र-सत्यग्राही स्वाध्याय से प्राप्त ज्ञान को भूलने पर भी आगामी भव में फल को प्राप्त करता है)

(चालः गंगा तेरा पानी अमृत...., आत्मशक्ति से...., सायोनारा....)

विद्या तेरी धारा अमृत, झर-झर बहती जाये...
जन्म-जन्मान्तर व मोक्ष तक भी, तुम्हारा अमृत पाये...विद्या तेरी...(टेक)
सर्वज्ञ कथित आगम ग्रंथित, स्वाध्याय से तुझे जो (पीये)/पाये...
अज्ञान अंधकार नाश करके, ज्ञान ज्योति को(वे) पाये...ऽऽऽ
अहित त्यागे व हित को गहे, वे ही अमृत पाये...विद्या तेरी...(1)
सत्य-तथ्य व आत्म-परमात्मा, ज्ञान-ज्ञेय जो जाने...
आस्रव-बंध त्यागकर, जो संवर-निर्जरा गहे...ऽऽऽ
वे ही कर्म को नाश करके, अनंत सुख को पाये...विद्या तेरी...(2)
स्वाध्याय से जो ज्ञान प्राप्त कर, प्रमाद से भूल जाये...
आगामी भवों में उस संस्कार/(ज्ञान) से पुनःज्ञान को पाये...ऽऽऽ
मुनि बनकर आत्मसाधना से, अनंत-ज्ञान को पाये...विद्या तेरी...(3)
विनय से जो स्वाध्याय करे, वे, उभय लोक सुख पाये...
परंपरा से मोक्ष प्राप्त कर, अनंत-सुख वे पाये...ऽऽऽ
अतएव स्वाध्याय परम-तपस्या, ऐसी जिनवाणी बताये...विद्या तेरी...(4)
लौकिक पढ़ाई से यह न संभव, जो उभय लोक सुख देवे...
तथाहि मोही अज्ञानी लोभी, स्वाध्याय में चित्त न देवे...ऽऽऽ
कोई मतांध-स्वार्थी जन तो, आगम को लांछन लगावे...विद्या तेरी...(5)
विनम्र सत्यग्राही होकर तेरी, अमृतधारा जो पीवे...

जन्म-मरण-आधि-व्याधि नशा के, अमृत-पद वे पावे...ऽऽऽ
इसी हेतु ही 'कनकनन्दी', ज्ञानामृत-रस सदा पीवे...विद्या तेरी...(6)
उक्तंच- विणयेण सुदमधिदं यदि वा पमादेण होदि विस्सरिदं।
त आवहदि परभवे, केवल णाणं आवहदि।।
जिणवयण मोसदमिणं विसय सुहं विरेयण अमिद भूयं।
जर मरण वाहि हरण खयकरणं सव्वदु-क्खाणं।। (दंसण पाहुड)

जैन सिद्धांत समझना क्यों होता है क्लिष्ट ?

(चाल : छोटी-छोटी गैया....,शत-शत वंदन...., सायोनारा....)
सुना भोगा व अनुभव भी किया, हर जीव काम भोग बंध तत्त्व।
अतएव यह सब सहज आते, न सहज होता स्व-आत्म तत्त्व।। (1)
अनादिकालीन संस्कार-वशतः, जीवों के होते हैं अशुभ भाव।
काम-क्रोध-मोह-मद-मत्सर, ईर्ष्या द्वेष-घृणा-तृष्णा विभाव।। (2)
आहार निद्रा व भय मैथून, हिंसा प्रतिहिंसा व युद्ध संहार।
चोरी मिलावट व कूट-कपट, निन्दा अपमान व परिग्रह संग्रह।। (3)
द्रव्यकर्म भावकर्म व जिनोम, दिमाग हारमोन व वातावरण।
परिवार समाज व रीति-रिवाज, परंपरा संस्कार व भोजन-पान।। (4)
शिक्षा-संगति व संकीर्ण विचार, सत्ता-संपत्ति-प्रसिद्धि-आडम्बर।
फैशन-व्यसन संक्लेश के कारण, तत्त्वज्ञान होता अति-दुष्कर।। (5)
जीव तो चेतनमय मोह(कर्म) कारण, बनते है मोही व कुज्ञानी।
अतएव कुज्ञान होता सरल है, कुमति-श्रुत व अवधिज्ञानी।। (6)
कुज्ञान से जीव भी करते काम, आहार-निद्रा व भय-मैथुन।
प्रजनन आत्मरक्षण संग्रहण, लौकिक ज्ञान-विज्ञान प्रशिक्षण।। (7)
भाषा राजनीति कानून व्याकरण, कला संगीत व नृत्य भजन।
तर्क वितर्क व स्वार्थ साधन, भौतिक यंत्र-उपकरण निर्माण।। (8)
इनसे परे है आगम का ज्ञान, जिससे होता है परमज्ञान।
आत्म-अनात्म का सच्चा विज्ञान, जिसे कहते वीतराग विज्ञान।। (9)
इसी हेतु विशेष प्रज्ञा चाहिए, जिस हेतु विशेष श्रद्धा चाहिए।

इसी हेतु क्षयोपशम चाहिए, मोह अनंतानुबंधी उपशम/क्षयोपशम) चाहिए।। (10)

इसी से योग्यताएँ उत्पन्न होती, रूचि जिज्ञासाएँ प्रगट होती।
अध्ययन-मनन-स्मरण-ध्यान, जिससे ज्ञानार्थी बनता प्रवीण।। (11)
श्रद्धा से जो अध्ययन करता,मन्द क्षयोपशम से भूल भी जाता।
फल अवश्य उसे भी मिलता, आगामी भव में ज्ञानी भी बनता।। (12)
श्रद्धा विनय से अतः करो स्वाध्याय, यह है अंतरंग तप निश्चय
तप से निर्जरा व मोक्ष मिलता, इसी हेतु 'कनक' स्वाध्याय करता।। (13)

सन्दर्भ :-

सुदपरिचिदाणुभुदा सव्वस्स वि कामभोगबन्ध कहा।
एयत्तसुहलंभो णवरि ण सुलह विहत्तस्स।। (समयसार)
आहारनिद्राभयमैथुनानि सामान्यमेतत्पशुभि नराणम्।
ज्ञानं (धर्मः) विशेष खलु मानवानाम् ज्ञानेनविना पशुभि मानवाः।।
विरला विसुणहि तच्चं विरला जाणंति तच्चदो तच्चं।
विरला भावहि तच्चं विरलाणं धारणा होदि।। (279, का अनु.)
तच्चं कहिज्जमाणं णिच्चल-भावेण गिण्हदे जो हि।
तं चिय भावेदि सया सो वि य तच्चं विया णेई।। (280, का. अनु)

जैनागम समझने में क्यों होता कठिन! ?

(चालः वंदे भारत जननी...., भातुकली....)

जैनागम में वर्णित रहस्य क्यों होता है दुरूह/(कठिन) विशेष।
वर्णन उसका कर रहा हूँ, श्रुतदेवी को नमाय शीश।। (1)
परोक्ष केवलज्ञान है श्रुतज्ञान, जो अनंत अर्थ सहित होता।
केवलज्ञान तो प्रत्यक्ष होता, श्रुतज्ञान तो परोक्ष होता।। (2)
आगम में वर्णित पद-वाक्य-सूत्र नहीं होते लौकिक सम।
इनके अर्थ असामान्य होते, तथाहि रहस्य व वर्णन-क्रम।। (3)
संस्कृत-प्राकृत होती है भाषा, गणित होता है अलौकिक।
संस्कृत-प्राकृत भी न सामान्य, होती वे भी है अलौकिक।। (4)

करणानुयोग का वर्णन अलौकिक गणित में होता विशेष।
द्रव्यानुयोग का तो वर्णन, अलौकिक व (अत्यंत सूक्ष्म)/सूक्ष्म रहस्य।। (5)
अनादिकालीन कर्म-संस्कार से, जीव होते है मोही-अज्ञानी।
राग-द्वेष-काम-क्रोध से आवेशित, अलौकिक विषयों में होते अज्ञानी।। (6)
वर्तमान काल में दो ही ज्ञान होते, वे है मतिज्ञान व श्रुतज्ञान।
(माही)/मिथ्यात्वी के होते है कुज्ञान, सुदृष्टि के होते (हैं) सुज्ञान।। (7)
पंचमकाल में अधिकांश मानव, नहीं होते हैं सम्यक् दृष्टि।
अतएव उनके ज्ञान भी होते, हैं कुश्रुत व कुमति।। (8)
जैनागम के अध्ययन में भी, नहीं रखते हैं विशेष रूचि।।
लौकिक-पढ़ाई-धनार्जन व, फैशन-व्यसनों में विशेष रूचि।। (9)
आगमज्ञाता सुयोग्य गुरु को, उपलब्धि भी न होती सरल।
उपलब्ध जब हो भी जावे, ज्ञानार्जन भी करते विरल।। (10)
पर्व-उत्सर्व व खाना-पीना में, अधिक लगाते है समय-शक्ति।
दिखावा-आडम्बर-संकीर्ण पंथ(मत)में,अधिकांश जन की होती रुचि।। (11)
सनम्र-सत्यग्राही हो आत्महित हेतु, नहीं करते आगम का स्वाध्याय।
ख्याति-पूजा-लाभ-पंथ-मत हेतु, कोई(कोई)करते आगम का अध्ययन।।
पल्लवग्राही होते अधिकांश जन, अर्थाजन हेतु करते अध्ययन।
संकीर्ण-कट्टर पंथग्राही होकर, करते लेखन व प्रवचन।। (13)
इन सब कारणों से परम-विज्ञानमय, आगम से हो जाते वंचित।
स्व-पर व विश्व-कल्याण से, अतएव हो जाते हैं वंचित।। (14)
श्रद्धा प्रज्ञा व विनय सहित, आगमज्ञ गुरु से करो ज्ञान।
सनम्र सत्यग्राही एकाग्रमन से, बहुश्रुताचार्य से आत्मा का ज्ञान।। (15)
इसी से होगा सम्यग्ज्ञान जिससे, इह-परलोक में होगा कल्याण।
इसी हेतु ही 'कनकनन्दी' आगम का, करते अध्ययन व अध्यापन।। (16)

''बुद्धि (मतिज्ञान) एवं अनूभूति (श्रुतज्ञान) प्राप्ति के उपाय''

(रागः तुम दिल की धड़कन...)

अवग्रह से ईहा, ईहा से आवाय...आवाय से धारणा होती है।

उत्तरोत्तर वे श्रेष्ठ-क्लिष्ठ...व दुर्लभ (भी) होते है।।
अवग्रह है पदार्थ का प्रथम ग्रहण...ईहा है विशेष जिज्ञासा।
आवाय है निर्णय ज्ञान...धारणा है अविस्मरण मतिज्ञान।। (1)
मतिज्ञानावरण क्षयोपशम व...वीर्यान्तराय क्षयोपशम से।
आंगोपांग नाम कर्मोदय से...मतिज्ञान प्रगट होते।।
उपलब्धि उपयोग भावना...मय भी तीन भेद हैं।
कोष्ठ बीज पादानुसारी...संभिन्न-श्रोतृता भेद हैं।।(2)
प्रतिभा बुद्धि मेघा प्रज्ञा...भी इसके भेद-प्रभेद है।
मति स्मृति संज्ञा चिन्ता...आभिनिबोधमय होते हैं।।
बहु बहुविध क्षिप्र निसृत...अनुक्त ध्रुवमय होता है।
एक एकविध क्षिप्र...अनिसृत उक्त अध्रुव है।। (3)
इन्द्रिय व मन निमित्त...मतिज्ञान उत्पन्न होता है।
यह परोक्ष ज्ञान है...पदार्थो का ज्ञान होता है।।
लोक प्रचलन में इसे...प्रत्यक्ष ज्ञान कहते है।
यथार्थ से नहीं प्रत्यक्ष...अतः सांव्यावाहारिक कहते है।। (4)
इसी से परे श्रुतज्ञान जो...आत्माभिमुख होता है।
मतिज्ञान से परे प्रायोगिक...अनुभव ज्ञान होता है।।
श्रुतज्ञानावरण क्षयोपशम...(व) वीर्यान्तराय क्षयोपशम से।
आंगोपांग नाम-कर्म उदय से...यह श्रुतज्ञान होता है।। (5)
श्रुत वाचन श्रवण से...श्रुत का मतिज्ञान होता है।
इसके प्रयोग अनुभव से...भाव श्रुतज्ञान होता है।।
सम्यग्दर्शन होने से...सुश्रुतज्ञान होता है।
उपलब्धि उपयोग भावना से...श्रुतज्ञान विकास होता है।। (6)
विनय शुद्धि एकाग्र सहित...जिज्ञासा सह स्वाध्याय से।
मनन चिन्तन प्रयोग अनुभव(से)...श्रुतज्ञान विकास होता है।।
ज्ञानदान निःस्वार्थ भाव से...श्रद्धा विनय से करने से।
समन्वय समीक्षा चर्चा लेखन से...श्रुतज्ञान विकास होता है।। (7)
ज्ञानी गुरु सेवा विनय बहुमान...तथाहि आज्ञा पालने से।

उनकी संगति अनुभव से भी...श्रुतज्ञान परिपक्व होता है।।
विविध विषय तथा भाषा ज्ञान से...श्रुतज्ञान व्यापक होता है।
विविध धर्म दर्शन/(ज्ञान) व...गणित विज्ञान से बढ़ता है।। (8)
अनुभव प्रयोग ज्ञान बिन...केवल रटन्त ज्ञान से।
सुफल के बिना कुफल मिले...जैसा अपच भोजन से।।
श्रुतज्ञान है महान् ज्ञान...केवलज्ञान का है कारण।
इसी हेतु ही 'कनकनन्दी'...करता है ज्ञान अर्जन।। (9)

''आधुनिक इमेज के कुफल''

(रागः तुम दिल की धड़कन...)
ऑफिस ऑफिसर केरियर...बॉस सीनियर जूनियर।
पढ़ाई परीक्षा व पैकेज..यह है आधुनिक इमेज।। ध्रु.।।
इस चक्कर में सभी व्यस्त/(त्रस्त)...जीवन/(मानव) हो गया अस्त-व्यस्त।
परम लक्ष्य इसे माने मानव...जिससे बन गया यंत्र मानव।।
आत्म-तत्त्व का कोई भान नहीं...मोक्ष का कोई मान नहीं।
आत्मविकास का लक्ष्य नहीं...आत्म-वैभव का ज्ञान नहीं।। (1)
अतएव मानव दिशा शून्य...मति हो रही भ्रमपूर्ण।
अस्त-व्यस्त-संत्रस्त सदा...आत्मिक-आनन्द/(शान्ति, सुख) न मिले कदा।।
जिससे बन रहा अशान्त...शान्ति हेतु करे प्रयास।
प्रयास विपरीत हो रहा...फैशनी-व्यसनी हो रहा।। (2)
अन्याय अत्याचार कर रहा...शोषण भ्रष्टाचार कर रहा।
मिलावट ठगी भी कर रहा...हत्या बलात्कार कर रहा।।
प्राकृतिक जीवन भूल गया...आध्यात्मिकता को छोड़ दिया।
सरल सहज न रह पाया...तन-मन अस्वस्थ्य हुआ।। (3)
चक्रवृद्धि से यह बढ़ रहा...दुःखी से अतिःदुखी हो रहा।
तनाव से ग्रसित हो रहा...आत्महत्या तक कर रहा।
इसी से बचने का उपाय करो...आत्मा का ज्ञान-भान-ध्यान करो।
दया दान व सेवा करो...आशीष 'कनक' का शान्ति वरो।। (4)

अलौकिक गणित आध्यात्मिकमय कविता

''मेरी भावना-परम ज्ञान हेतु मुझे चाहिये स्व-ज्ञान''

(रागः तेरे प्यार का आसरा....)

परम सत्य को (मैं) जानना चाहता हूँ।
इन्द्रिय मनातीत (मैं) जानना चाहता हूँ।।
अल्पज्ञ से परे (मैं) जानना चाहता हूँ।
भौतिक से परे(मैं) जानना चाहता हूँ।।(1)
यंत्र से परे का ज्ञान चाहता हूँ।
भौतिक विज्ञानी से भी परे चाहता हूँ।।
जिनोम से परे जानना चाहता हूँ।
डार्क-एनर्जी-मैटर से परे चाहता हूँ।। (2)
सामान्य मानव ज्ञात ज्ञान-विज्ञान से।
नीति-नियम-न्याय संविधान ज्ञान से।।
रीति-रिवाज परम्परा की सीमा से।
संकीर्ण पंथ-मत भाषा विधान से।। (3)
जानना चाहता हूँ परम सत्य को।
सत्य को जानने वाले परम ज्ञान को।।
ज्ञान के आधारभूत स्व-आत्मतत्त्व को।
(परम) सत्य के ज्ञान हेतु 'कनक' जानो हे! स्व को।। (4)

नृत्य-परेड-बोध गीत

प्राचीन गौरव-आधुनिक बोध से हे भारतीय! पुनः विश्वगुरु बनो!

(राष्ट्रीय उद्बोधन कविता)

भारत ओहो भारत...3
कितना सुंदर देश हमारा...कितनी गरिमा गाथा...(स्थायी)...
हमारे यहाँ जन्म लिया है...अध्यात्म जैसी शिक्षा...2
गणित विज्ञान आयुर्वेद भी...यहाँ की महान् शिक्षा...2...(1)
हमारे यहाँ जन्म लिया है...तीर्थंकर महाज्ञानी...2

सदय हृदय महात्मा बुद्ध...पतंञ्जली जैसा ध्यानी...2...(2)
उमास्वामी यथा सूत्रकार हुए...वीरसेन महाज्ञानी...2
चरक सुश्रुत आयुर्वेदाचार्य...अक्षपाद अणुज्ञानी...2...(3)
तर्कधुरन्धर अकलंक सूरी...समन्तभद्र भी तथा...2
यतिवृषभ है महागणितज्ञ...ब्रह्माण्ड की रची गाथा...2...(4)
वराहमिहिर भास्कराचार्य भी...महावैज्ञानिक हुए...2...
जिनसेनस्वामी रविषेणाचार्य...महाकाव्यकार हुए...2...(5)
वाल्मिकी व वेदव्यास भी तथा...कालिदास कवि हुए...2
जयदेव तथा बैजू बावरा...वैश्विक कविता गाये...2...(6)
इत्यादि कारण भारत भी कभी...बना था विश्व का गुरु...2
अभी तो भारत स्वतन्त्र हुए भी...नहीं बना विश्वगुरु...2...(7)
भ्रष्टाचार प्रदूषण रोगों का...बन रहा शिरमौर...2
अभी तो स्व उद्धार करो है...यह है युग पुकार...2...(8)
प्राचीन गौरव आधुनिक बोध...करके हे! समन्वय...2
पुरुषार्थ द्वारा विश्वगुरु बनो...'कनक' करे आह्वान/(ललकार/पुकार)...(9)

सुविद्या एवं कुविद्या का स्वरूप एवं फल

(सुविद्या(ज्ञान-शिक्षा) का स्वरूप एवं सुफल तथा कुविद्या का स्वरूप एवं कुफल)

(रागः दुनिया में रहना है तो...)

विद्या यदि संकीर्ण या बिकाऊ होगी...सर्वोदय कारक नहीं बनेगी।
विद्या यदि उदार व निःस्वार्थ होगी...सर्वोदय के हेतुभूत विद्या बनेगी।।
आत्मशक्ति विकासक होती है विद्या...तोता जैसे रटन्त न होती है विद्या।
विनय विकासक होती है विद्या...विनय विनाशक होती कुविद्या।। (1)
विनय से विद्या का विकास होता...घमण्ड से विद्या का विनाश होता।
भोजन पचने से यथा बल मिलता...अपच भोजन से तथा बल घटता।
/(रोग मिलता)।। (2)
सुखदायक होती सम्यक् विद्या...कष्टदायक होती संकीर्ण विद्या।

मुक्तिदायक होती आध्यात्म विद्या...भुक्तिदायक होती भौतिक विद्या।। (3)
चारित्र निर्माणकर्ती यथार्थ शिक्षा...साक्षरी राक्षस बने वह कुशिक्षा।
तीर्थंकर निर्मात्री होती सुशिक्षा...रावण कंस निर्मात्री होती कुशिक्षा।। (4)
सनम्र सत्यग्राही होते ज्ञानी सुजन...अहंकारी हठग्राही होते मूर्ख कुजन।
योग्य बीज से यथा बनते हैं वृक्ष...नष्ट बीज से नहीं बनता वृक्ष।। (5)
गुणी-सुज्ञानी तो सर्वोदय करता...कुज्ञानी स्व-पर विनाशकारी बनता।
तीर्थंकर बुद्ध सम सुज्ञानी होते...रावण कंस सम कुज्ञानी होते।। (6)
अनुभव सहित जो ज्ञान होता...दुधारू थन सम उपकारी बनता।
अनुभव रहित जो ज्ञान होता...अज गल थन सम व्यर्थ ही बनता।।(7)
सुफलदायी होता क्रमबद्ध सुज्ञान...विपरीत फलदायी होता कुज्ञान।
स्वास्थ्यप्रद अनुपान युक्त सुखाद्य...स्वाथ्यहर अनुपात रिक्त कुखाद्य।। (8)
आत्मविश्वास सह आचरण से युक्त...वही ज्ञान होता है सम्यक्त्व युक्त।
तीन कोणों से युक्त जो क्षेत्र होता...वह क्षेत्र त्रिभुजाकार भी होता।। (9)
निरपेक्ष ज्ञान नहीं होता सम्यक/(यथार्थ)...असंयुक्त रेखा से न बनता क्षेत्र।
ताना-बाना से यथा बनता वस्त्र...असंयुक्त धागों से न बनता वस्त्र।। (10)
स्व-पर उपकारी वह होता सुज्ञान...दीप सम स्व-पर वह प्रकाशवान।
ज्ञान नहीं होता जानकारी मात्र से...प्रकाश न होता दीपचित्र मात्र से।।(11)
ज्ञान है आनन्ददायी अनुभव से युक्त...सदाचार सहित व नम्रता युक्त।
स्व-पर प्रकाशी व उपकार से युक्त...'कनक'सदा इसी में प्रयासरत।। (12)

श्रुतपञ्चमी महोत्सव (साहित्य पर्व)

(कविता एवं श्लोगन)

(राग: उड़े जब-जब जुल्फे तेरी...2)

श्रुतपर्व महोत्सव आया...2 कि दिल में आनंद/(मंगल) छाया...जिनवरजी
जिनवाणी का पर्व है आया...2 कि ज्ञानानन्द रस पाया...2...जिनवरजी
पूर्वाचार्यों को शीश नवाया...2ऽऽ कि उपकार से मन हरषा...2...गुरुवरजी
श्रुतपरम्परा को ध्याया...2 कि श्रुत अभ्यास किया...2 जिनवाणी
होऽऽऽ धरसेन आचार्य महान्...2 श्रुत रक्षा का है ध्यान...2 गुरुवरजी

एक छुल्लक जी को भेजा...2 कि योग्य शिष्य को लाने...2 गुरुवरजी
दो सुयोग्य शिष्य बुलाये...2 भूतबली पुष्पदन्त आये...2 गुरुवरजी
परीक्षण दोनों का किया...2 कि मंत्र द्वारा योग्य पाये...2 गुरुवरजी
दोनों को श्रुतज्ञान दिया...2 कि तीनों जन हरषाये...2 गुरुवरजी
स्वसमाधि निकट है जाना...2 कि शिष्यों को विदा किया...2 गुरुवरजी
दोनों शिष्यों ने षट्खण्ड रचा...2 कि सूत्रबद्ध ज्ञान किया...2 गुरुओं ने
रचना का महोत्सव मनाया...2 कि श्रुत पर्व कहलाया...2 जिनवाणी
रथयात्रा महोत्सव हुआ...2 कि श्रुत/(आगम) लिपिबद्ध हुआ...2 जिनवाणी
तब से ये परम्परा चली...2 कि श्रुत/(वाणी) महिमा भारी...2 श्रुतदेवी
परम्परा आचार्यों द्वारा...2 सूत्रबद्ध श्रुत/(आगम) प्यारा...2 सूरीवरजी
प्रथमानुयोग है पुराण...2 कि इतिहास बतलाते...2 सब काल का
करणानुयोग है गणित...2 कि ब्रह्माण्ड रहस्य भरा...2 साराजी
चरणानुयोग चारित्र...2 कि भव्यों को प्यारा...2 जिनवरजी
द्रव्यानुयोग आध्यात्म न्यारा...2 कि आत्म वैभव वाला...2 प्रभुवर जी
स्वाध्याय परम तप आला...2 कि शुभभाव बढ़ाने वाला...2 गुरुवाणी
कलिकाल में तप जो हुआ...2 अंतरंग तप कहलाया...2 गुरुवरजी
सातिशय पुण्य भी इससे...2 असंख्यात कर्म झरे...2 जिनवाणी
अभ्युदय अपवर्ग सुख मिले...2 'कनकनन्दी' भी पाये...2 जिनवरजी

स्वाध्याय का स्वरूप व फल

(चाल : मेरी बहू है रानी है..., छोटी-छोटी गैया...., सायोनारा....)

- आचार्य कनकनन्दी

स्वाध्याय से ज्ञान होता है/(होता है), इह-परलोक व मोक्ष तक।
आत्मा-परमात्मा व ब्रह्माण्ड का होता है ज्ञान सूक्ष्म तक।। (1)
स्व-अध्ययन ही स्वाध्याय है जिससे आत्मा का होता बोध।
आत्मा से पर अनात्मा का होता है सही-सही बोध।। (2)
आत्मा है चैतन्य ज्ञानानन्द, अनादि-अनिधन-शाश्वतिक।
स्वयंभू-स्वयंपूर्ण-सनातन, अव्यय-अविनाशी-अमूर्तिक।। (3)

सत्य-शिव-सुंदर सर्वश्रेष्ठ, सच्चिदानन्दमय सर्वज्येष्ठ।
परम तत्त्व व श्रेष्ठ सत्य परम धर्म व तीर्थ ज्येष्ठ।। (4)
आत्मा से भिन्न है राग-द्वेष, काम-क्रोध-मोह-दुःख-शोक।
जन्म-जरा-मृत्यु रोग-क्लेश, द्रव्यभाव व नोकर्म।। (5)
शत्रु-मित्र-भाई बंधु-सखा-माता-पिता-सुत-सुता-सत्ता।
ख्याति-पूजा-लाभ व तन-मन, इन्द्रिय भोगादि न शुद्ध आत्मा।। (6)
अनात्म भाव को दूर करने हेतु, स्वाध्याय से प्राप्त बोध से।
मनन-चिन्तन अनुप्रेक्षा से, अनात्म भाव त्याग समता से।। (7)
संयम-तप-ध्यान-सहिष्णुता, उदार-निस्पृह व वीतरागता।
जिससे आत्मा होता शुद्ध-बुद्ध, 'कनक' चाहे निज परमात्मा।। (8)

स्वरूप, उत्पत्ति, कारण, भेद और विषयको लेकर मतिज्ञान का कथन

अहिमुहणियमियबोहणमाभिणिबोहियमणिदिइंदियजं।
अवगहईहावाया धारणा होंति पत्तेय।।306।।

स्थूल, वर्तमान और योग्य देश में स्थित अर्थ को अभिमुख कहते हैं। इस इन्द्रिय का यही विषय है, इस अवधारणाओं को नियमित कहते है। अभिमुख और नियमित को अभिमुख नियमित कहते हैं। उस अर्थ के बोधन अर्थात् ज्ञान को मतिज्ञान कहते हैं। अभिनिबोध ही अभिनिबोधिक है इस प्रकार स्वार्थ में ठण् प्रत्यय करने से इसकी सिद्धि होती है। स्पर्शन आदि इन्द्रियों की अपने स्थूल स्पर्श आदि विषयों में ही ज्ञान को उत्पन्न करने की शक्ति होती है। अर्थात् सूक्ष्म परमाणु आदि, अन्तरित शंख चक्रवर्ती आदि तथा दूरार्थ मेरु आदि को जानने की शक्ति उनमें नहीं है। इससे मतिज्ञान का स्वरूप कहा। वह मतिज्ञान अनिन्द्रिय मन और इन्द्रियाँ स्पर्शन, रसना,घ्राण, चक्षु श्रोत्र से उत्पन्न होता है। इससे इन्द्रिय और मन को मतिज्ञान की उत्पत्ति का कारण दिखलाया है। इस प्रकार कारण के भेद से कार्य में भेद होने से मतिज्ञान छह प्रकार का कहा- पुनः प्रत्येक मतिज्ञान के अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये चार भेद होते हैं। यथा- मानस अवग्रह, मानस ईहा, मानस अवाय और मानसी धारणा। स्पर्शनजन्य अवग्रह,

स्पर्शनजन्य ईहा, स्पर्शनजन्य अवाय और स्पर्शनजन्य धारणा। रसनाजन्य अवग्रह, रसनाजन्य ईहा, रसनाजन्य अवाय और रसनाजन्य धारणा । घ्राणज अवग्रह, घ्राणज ईहा, घ्राणज अवाय और घ्राणज धारणा। चाक्षुष अवग्रह, चाक्षुषी ईहा, चाक्षुष अवाय और चाक्षुषी धारणा। श्रोत्रजन्य अवग्रह, श्रोत्रजन्य ईहा, श्रोत्रजन्य अवाय और श्रोत्रजन्य धारणा। इस प्रकार मतिज्ञान के चौबीस भेद होते हैं। अवग्रह आदि का लक्षण आगे ग्रन्थकार स्वयं ही कहेंगे।।

वेंजणअत्थअवग्गह भेदा हु हवंति पत्तपत्तत्थे।
कमसो ते वावरिदा पढमं णहि चक्खुमणसाणं।। 307।।

मतिज्ञान का विषय दो प्रकार है- व्यंजन और अर्थ। उनमें से इन्द्रियों के द्वारा प्राप्त विषय को व्यंजन और अप्राप्त को अर्थ कहते हैं। उन प्राप्त और अप्राप्त अर्थों में क्रम से व्यंजनावग्रह और अर्थावग्रह प्रवृत्त होते हैं। इन्द्रियों से प्राप्त अर्थ के विशेष ग्रहण को व्यंजनावग्रह कहते हैं, और अप्राप्त अर्थ के विशेष ग्रहण को अर्थावग्रह कहते हैं।

शंका-तत्त्वार्थसूत्र की टीका में कहा है, शब्दादिसे होने वाले अव्यक्त ग्रहण को व्यंजन कहते हैं। उसकी संगति इस व्याख्या के साथ कैसे सम्भव है ?

समाधान- 'अंजु' धातु के तीन अर्थ हैं- गति, व्यक्ति और म्रक्षण। यहाँ उनमें से व्यक्ति और म्रक्षण अर्थ लेकर व्यंजन शब्द बना है। 'विगतं-अंजनं-अभिव्यक्तिर्यस्य' जिसका अंजन अर्थात् अभिव्यक्ति दूर हो गया है, वह व्यंजन है। यह अर्थ तत्त्वार्थ की टीका से लिया है। 'व्यज्यते म्रक्ष्यते प्राप्यते इति व्यंजनम्' जो प्राप्त हो, वह व्यंजन है; यह यहाँ ग्रहण किया हैं। शब्द आदि रूप अर्थ श्रोत्र आदि इन्द्रियों के द्वारा प्राप्त होने पर भी जब तक व्यक्त नहीं होता, तब तक उसे व्यंजन कहते हैं। जैसे एक बार जलबिन्दु से सिक्त नया सकोरा। पुनः व्यक्त होने पर उसे ही अर्थ कहते हैं। जैसे बार-बार जलबिन्दुओं से सींचे जाने पर नया सकोरा भीग जाता है। इस कारण से अप्राप्त विषय में चक्षु और मन से प्रथम व्यंजनावग्रह नहीं होता। चक्षु और मन अपने विषयभूत अर्थ को प्राप्त होकर ही उसको जानते हैं, यह नैयायिकों का मत जैन तर्क ग्रन्थों में विस्तार से खण्डित किया गया है। यह तो अहेतुवादरूप आगम ग्रन्थ हैं, अतः यहाँ वैसा नहीं गिना है। व्यंजनरूप विषय में, स्पर्शन, रसना, घ्राण श्रोत्र चार इन्द्रियों से

एक अवग्रह ही उत्पन्न होता है, ईहा आदि नहीं होते। क्योंकि एकदेश या सर्वदेश अभिव्यक्ति होने पर ही ईहा आदि ज्ञानों की उत्पत्ति सम्भव है। उस समय उनका विषय अव्यक्तरूप व्यंजन नहीं रहता। इसलिए व्यंजनावग्रह चार ही होते हैं।।

विसयाणं विसईणं संजोगाणंतरं हवे णियमा।
अवगहणाणं कहिदे विसेसकंखा हवे ईहा।। 308।।

विषय अर्थात् अर्थ और विषयी अर्थात् इन्द्रियों का, संयोग अर्थात् योग्य देश में स्थित होने रूप सम्बन्ध के होते ही नियम से दर्शन उत्पन्न होता है। वस्तु के सत्तामात्र सामान्य रूप के निर्विकल्प ग्रहण को दर्शन कहते हैं। दर्शन के पश्चात् ही दृष्ट अर्थ के वर्ण-आकार आदि विशेष रूप को ग्रहण करना अवग्रह नामक आद्यज्ञान उत्पन्न होता है। श्रीमद् भट्टाकलंक देवने लघीयस्त्रय में कहा है- इन्द्रिय और अर्थ का योग होते ही सत्ता मात्र का दर्शन होता है। उसके अनन्तर अर्थ के आकारादि को लिये हुए जो सविकल्प ज्ञान होता है, वह अवग्रह है। श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने भी कहा है कि छद्मस्थों के दर्शनपूर्वक ज्ञान होता है। यद्यपि इस गाथा सूत्र में यह नहीं कहा कि इन्द्रिय और अर्थ का सम्बन्ध होने के अनन्तर दर्शन उत्पन्न होता है। फिर भी पूर्वाचार्यों के वचन के अनुसार व्याख्यान करना चाहिए। 'गृहीते' अर्थात अवगह के द्वारा 'यह श्वेत है' ऐसा जानने पर बलाकारूप या पताकारूप यथावस्थित अर्थ को जानने की आकांक्षा यह बलाका-बगुलों की पंक्ति होना चाहिए, इस प्रकार बगुलों की पंक्ति ही जो भवितव्यातारूप ज्ञान होता है, वह ईहा है। अथवा पताकारूप विषय का आलम्बन लेकर अर्थात् यदि अवग्रह से जानी हुई श्वेत वस्तु पताका प्रतीत हो, तो यह पताका होनी चाहिए, इस प्रकार जो पताका में ही भवितव्यता प्रत्ययरूप आकांक्षा होती है, वह दूसरा ईहा ज्ञान है। इस प्रकार अन्य इन्द्रियों के विषय में और मन के विषय में अवग्रह से गृहीत वस्तु में यथावस्थित विशेष की आकांक्षारूप ज्ञान ईहा है, यह निश्चय करना चाहिए। मतिज्ञानवरण के क्षयोपशम की हीनाधिकता के भेद से अवग्रह और ईहा ज्ञान में भेद होता है। इस सम्यग्ज्ञान के प्रकरण में 'यह बलाका है या पताका' इस संशय को तथा बलाका में यह पताका होनी चाहिए, इस विपरीत मिथ्याज्ञान को स्थान नहीं है।।

ईहणकरणेण जदा सुणिण्णओ होदि सो अवाओ दु।
कालंतरेवि णिण्णिदवत्थुसुमरणस्स कारणं तुरियं।। 309।।

विशेष की आकांक्षारूप ईहा ज्ञान के पश्चात्, जब ईहित विशेष अर्थ का सुनिर्णय हो जाता है। जैसे ऊपर-नीचे होने तथा पंखों के हिलाने चिह्नों से यह बलाका ही है, इस प्रकार निश्चय के होने को अवाय कहते हैं। 'तु' शब्द पहले आकांक्षा किये गये विशेष वस्तु के निर्णय को अवाय कहते हैं, यह अवधारणा के लिए है। इससे यह ग्रहण करना चाहिए कि वस्तु तो कुछ और है और निर्णय अन्य वस्तुका किया, तो वह अवाय नहीं है। यही अवाय बार-बार प्रवृत्तिरूप अभ्यास से उत्पन्न संस्कार रूप होकर कालान्तर में भी निर्णीत वस्तु के स्मरण में कारण होता है, तो धारणा नामक चतुर्थ ज्ञान होता है।।

बहुहिविह च खिप्पाणिस्सिदणुत्तं धुवं च इदरं च।
तत्थेक्केक्के जादे छत्तीसं तिसयभेदं तु।। 310।।

अर्थ या व्यंजनरूप मतिज्ञान का विषय बारह प्रकार का होता है- बहु, बहुविध, क्षिप्र, अनिसृत, अनुक्त, ध्रुव ये छह तथा इनके प्रतिपक्षी एक, एकविध, अक्षिप्र, निसृत, उक्त और अध्रुव। इन बारहों में से एक-एक विषय में पूर्वोक्त अट्ठाइस भेदरूप मतिज्ञान के उत्पन्न होने पर मतिज्ञान के तीन सौ छत्तीस 336 भेद होते हैं। जो इस प्रकार जानना-बहुविषयरूप अर्थ में अनिन्द्रिय और इन्द्रिय के भेद से मतिज्ञान के छह भेद होते हैं। वे ही अवग्रह, ईहा,अवाय, धारणा के भेद से प्रत्येक के चार-चार होकर चौबीस होते हैं। तथा व्यंजनरूप विषय में स्पर्शन, रसना, घ्राण और श्रोत्र के द्वारा चार अवग्रह ही होते हैं। इस प्रकार अर्थ और व्यंजनरूप बहु विषय में मिलकर मतिज्ञान के अट्ठाईस भेद होते हैं। इस प्रकार अर्थ व्यंजनरूप बहुविध आदि में भी प्रत्येक के 'अट्ठाइस' भेद होने पर बारह विषयों में मतिज्ञान के भेद तीन सौ छत्तीस होते हैं। यदि एक विषय में मतिज्ञान के भेद 'अट्ठाइस' होते हैं, तो बारह विषयों में मतिज्ञान के भेद कितने होते हैं ? इस प्रकार त्रैराशिक प्रमाणराशि एक, फलराशि अट्ठाइस, ईच्छाराशि बारह स्थापित करके फलराशि अट्ठाईस को इच्छाराशि बारहसे गुण करके प्रमाण राशि एक से भाग देने पर मतिज्ञान के तीन सौ छत्तीस भेद होते हैं।।

बहुवत्तिजादिगहणे बहुबहुविहमियरमियरगहणम्मि।
सगणामादो सिद्धा खिप्पादी सेदरा य तहा।। 311

जो मतिज्ञान बहुत व्यक्तियों को ग्रहण करता है, उसके विषय को बहु कहते हैं; जैसे खण्डी, मुण्डी, चितकबरी आदि बहुत-सी गायें। जो मतिज्ञान बहुत-सी जातियों को ग्रहण करता है, उसके विषय को बहुविध कहते हैं। जैसे गाय, भैंस, घोड़ा आदि बहुत-सी जातियाँ। जो मतिज्ञान एक व्यक्ति को ग्रहण करता है, उसके विषय को एक कहते हैं जैसे खण्डी गौ। जो मतिज्ञान एक जाति को ग्रहण करता है, उसके विषय को एकविध कहते हैं; जैसे खण्डी या मुण्डी गौ। शेष क्षिप्र, अनिसृत, अनुक्त, ध्रुव और उनके प्रतिपक्षी अक्षिप्र, निसृत, उक्त, अध्रुव तो अपने नाम से स्पष्ट हैं। क्षिप्र जैसे गिरती हुई जलधारा का प्रवाह आदि। अनिसृत गूढ़ को कहते हैं; जैसे जल में डूबा हाथी आदि। अनुक्त बिना कहे हुए को या अभिप्राय में वर्तमान को कहते हैं। ध्रुव स्थिर को कहते हैं, ; जैसे चिरकाल तक स्थायी पर्वत आदि। अक्षिप्र जैसे धीरे-धीरे जाता हुआ घोड़ा वगैरह। निसृत व्यक्त या निकले हुए को कहते हैं; जैसे जल से निकला हाथी आदि। उक्त 'यह घट है' ; इस प्रकार से जो कहा गया, वह विषय उक्त है। अध्रुव जैसे क्षणस्थायी बिजली आदि। तथा और 'चशब्द समुच्चयवाची है।।

वत्थुस्स पदेसादो वत्थुग्गहणं तु वत्थुदेसं वा।
सयलं वा अवलंबिय अणिस्सिदं अण्णवत्थुगई।। 312।।

किसी वस्तु के प्रकट हुए एकदेश को देखकर उसके अविनाभावी अप्रकट अंशको ग्रहण करना, अनिसृत ज्ञान है। अथवा एक वस्तु के एकदेश या समस्त वस्तु को ग्रहण करके अन्य वस्तु को जानना भी अनिसृत ज्ञान है।।

पुक्खरगहणे काले हत्थिस्स य वदणगागहणे वा।
वत्थंतरचंदस्य य धेणुस्स य बोहणं च हवे।।313

जल में डूबे हुए हाथी की जल से बाहर दिखाई देने वाली सूँड़ को देखते ही उसके अविनाभावी जलमग्न हस्ति का ग्रहण अनिसृत ज्ञान है। इससे, जिसका साध्य के साथ अविनाभाव नियम निश्चित है, ऐसे साधन से साध्य के ज्ञान को अनुमान कहते हैं, इस अनुमान प्रमाण का संग्रह होता है। अथवा किसी युवती के मुख को

ग्रहण करते समय अन्य वस्तु चन्द्रमा का ग्रहण अथवा मुख की समानता से चन्द्रमा का स्मरण कि चन्द्र के समान मुख है अथवा गवय को देखते ही गाय का स्मरण या गौ के समान गवय है, यह प्रत्यभिाज्ञान इससे गृहीत होता है। 'वा' शब्द उदाहरण के प्रदर्शन में प्रयुक्त हुआ है। जो बतलाता है कि अनन्तर गाथा में कहे अनिसृत अर्थ के ज्ञान के ये उदाहरण हैँ। अथवा वा शब्द पक्षान्तर का सूचक है। जैसे रसोई घर में अग्नि के होने पर ही धूम देखा जाता है। तालाब में अग्नि का अभाव होने से धूम भी नहीं होता। तथा सर्वदेश और सर्वकाल सम्बन्धी रूप से आग और धूम के अन्यथानुपपत्तिरूप अविनाभाव सम्बन्ध- कि जहाँ-जहाँ घूम होता है, वहाँ-वहाँ अग्नि होती है। जहाँ आग नहीं होती, वहाँ घूम भी नहीं होता-का ज्ञान तर्क है। यह भी मतिज्ञान है । इस प्रकार अनुमान, स्मृति प्रत्यभिज्ञान और तर्क नामक चारों ज्ञान मतिज्ञान हैं। ये चारों अनिसृत अर्थ को विषय करते हैं ; इससे केवल परोक्ष है, एकदेश में भी इनमें स्पष्टता का अभाव है। शेष स्पर्शन आदि इन्द्रियाँ और मन के व्यापार से उत्पन्न होने वाले तथा बहु आदि अर्थ को विषय करने वाले मतिज्ञान सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष है, क्योंकि एकदेश से स्पष्ट होते हैं। स्पष्ट ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं। इस प्रकार पूर्वाचार्यों ने प्रत्यक्ष का लक्षण कहा है। ये सब मतिज्ञान प्रमाण हैं,; क्योंकि सम्यग्ज्ञान है। 'सम्यग्ज्ञान प्रमाण है'; ऐसा आगम में कहा है।।

एक्कचउक्कं चउवीसट्ठाबीसं च तिप्पडिं किच्चा।
इगिछब्बारसगुणिदे मदिणाणे होंति ठाणाणि।। 314।।

मतिज्ञान सामान्य से एक है। अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा की अपेक्षा चार है। इन्द्रिय और मन से उत्पन्न अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा की अपेक्षा चौबीस हैं। अर्थावग्रह और व्यंजनावग्रह की अपेक्षा अट्ठाइस हैं। इन चारों स्थानों को तीन जगह स्थापित करके यथाक्रम प्रथम चार स्थानों को सामान्य विषय एक से गुण करना चाहिए। दूसरे चार स्थानों को बहु आदि छह विषयों से गुणा करना चाहिएँ तीसरे चार स्थानों को बहु आदि बारह विषयों से गुण करना चाहिएँ इस तरह गुणा करने पर मतिज्ञान के सामान्य विषय, बहु आदि छह अर्धविषय और सर्व विषय की अपेक्षा स्थान होते हैं। यथा-

28X1 28X6 28X12

24X1 24X6 24X12

4X1 4X6 4X12

1X1 1X6 1X12

आस्तामित्यादि दोषाणां सन्निपातास्पदं पदम्।

ऐन्द्रियं ज्ञानमप्यस्ति प्रदेशचलनात्मकम्।। (305)

यह इन्द्रिय ज्ञान व्याकुलता आदि अनेक दोषों के प्राप्त होने का स्थान तो है ही साथ ही वह आत्म प्रदेशों की चंचलता को लिए हुए भी है।

इन्द्रिय ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं

परदव्वं ते अक्खा णेव सहावो त्ति अप्पणो भणिदा।

उवलद्धं तेहि कधं पच्चक्खं अप्पणो होदि।। (57) प्र.सार.

The sense-ograns are of foreign stuff; they can never be said to form the nature of the soul. How then what is perceived by then can be direct (PRATYAKSA or immediate) for the soul ?

आगे कहते हैं कि इन्द्रिय ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं है-

(ते अक्खा) वे प्रसिद्ध पांचों इन्द्रियाँ(अप्पणो) आत्मा की अर्थात् विशुद्ध ज्ञानदर्शन स्वभाव-धारी आत्मा की (सहावों णेव भणिदा) स्वभाव रूप निश्चय से नहीं कही गई हैं क्योंकि उनकी उत्पत्ति भिन्न पदार्थ से हुई है। (त्ति परं दव्वं) इसलिये वे परद्रव्य अर्थात् पुद्गलद्रव्यमय है (तेहि उवलद्ध) उन इन्द्रियों के द्वारा जाना हुआ उन्हीं के विषय योग्य पदार्थ सो (अप्पणो पच्चक्खं कहं होदि) आत्मा के प्रत्यक्ष किस तरह हो सकता है? अर्थात् किसी तरह नहीं हो सकता है। जैसे पाँचों इन्द्रियाँ आत्मा के स्वरूप नहीं है ऐसे ही नाना मनोरथों के करने में यह बात कहने योग्य है, मैं कहने वाला हूँ, इस तरह नाना विकल्पों के जाल को बनाने वाला जो मन है वह भी इन्द्रियज्ञान की तरह निश्चय से परोक्ष ही है, ऐसा जानकर क्या करना चाहिए सो कहते हैं-सर्व पदार्थों का एक साथ अखंड रूप से प्रकाश करने वाले परम ज्योति स्वरूप केवलज्ञान के कारण रूप तथा अपने शुद्ध आत्म-स्वरूप की भावना से उत्पन्न परम आनन्द एक लक्षण को रखने वाले सुख के वेदन के आकार में परिणमन करने वाले और रागद्वेषादि विकल्पों की उपाधि से रहित स्वसंवेदन ज्ञान की भावना करनी

चाहिए, यह अभिप्राय है।

इन्दियानिन्दिय निमित्तं देशतः सांव्यवहारिकम्। (5)

समीक्षा- इन्द्रिय और मन के निमित्त से होने वाले एकदेश विशद ज्ञान को सांव्यवाहारिक प्रत्यक्ष कहते हैं। यहाँ पर पूर्वसूत्र से विशद और ज्ञान इन दो पदों की अनुवृत्ति होती है एकदेश से विशद जो ज्ञान है, वह सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष है। 'सम्' अर्थात् समीचीन प्रवृत्ति-निवृत्ति रूप व्यवहार को सव्यंवहार कहते हैं, उसमें होने वाले ज्ञान को सांव्यवहारिक कहते हैं। पुनः वह सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कैसा है? इन्द्रिय और अनिन्द्रिय निमित्तक है। इन्द्रिय कहिये चक्षु-श्रोत्रादिक और अनिन्द्रिय कहिये मन, ये दोनों जिसके निमित्त अर्थात् कारण हैं। इन्द्रिय और मन से समस्त अर्थात् दोनों भी सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष के कारण हैं और व्यस्त अर्थात् पृथक-पृथक भी कारण है, ऐसा जानना चाहिए। इन्द्रियों की प्रधानता से और मन की सहायता से उत्पन्न होने वाले ज्ञान को इन्द्रिय प्रत्यक्ष कहते हैं। ज्ञानावरण और वीर्यान्तराय कर्म के विशिष्ट क्षयोपशमरूप विशुद्धि की अपेक्षा सहित केवल मन से ही उत्पन्न होने वाले ज्ञान को अनिन्दिय प्रत्यक्ष कहते हैं।

इन्द्रियजनित ज्ञान परोक्ष इसलिए है कि इससे वस्तु स्वरूप का पूर्ण ज्ञान नहीं होता है और अनेक संशय, विभ्रम, अनध्यवसाय उत्पन्न हो जाते हैं। जैसे-कोई पर्वत को चक्षु द्वारा प्रत्यक्ष रूप से देखता है परन्तु वह पर्वत का केवल सम्मुख का कुछ भाग अपूर्णरूप से देखता है तथा पर्वत के ऊपरी भाग को एवं पर्वत में स्थित अनेक वृक्ष जीव, जन्तु, पत्थर आदि को नहीं देखता हैं। जैसे कोई आकाश को नीला वर्ण का देखता है और आकाश को दिग्वलय में जमीन को स्पर्श करता हुआ देखता है परन्तु भ्रम या विपर्यय मति आदि परोक्ष ज्ञान में होते हैं। इसे आधुनिक मनोविज्ञान में भ्रम (illusion) भ्रांति आदि नाम से स्वीकार किया गया है। मनोविज्ञान के अनुसार- किसी उद्दीपन का गलत प्रत्यक्षण (False perception) विपर्यय या भ्रम (illusion) कहलाता है। एटकिन्सन तथा हिलगार्ड (Atkinson, Atkinson and Hilgard, 1983) के अनुसार 'भ्रम एक प्रत्यक्षण है जो गलत होता है।' अंधेरे में रस्सी को साँप तथा किसी खम्भे को आदमी समझ लेना भ्रम के कुछ सामान्य उदाहरण हैं। भ्रम की परिभाषा का विश्लेषण करने पर हम भ्रम की निम्नांकित विशेषताओं

(characterstics) पर पहुँचते हैं-

1. भ्रम एक प्रकार का प्रत्यक्षण (perception) है परन्तु गलत (Erroneaus) है। शायद यही कारण है कि इसे भ्रम कहा जाता है। भ्रम एक प्रकार का गलत प्रत्यक्षण तो जरूर है परन्तु अप्रत्यक्षण (Misperction) नहीं है क्योंकि अप्रत्यक्षण तो एक प्रकार धोखा या हाथ की सफाई होता है।

2. क्योंकि भ्रम एक प्रकार का प्रत्यक्षण है, अतः यह भी प्रत्यक्षण के समान एक प्रकार की मानसिक प्रक्रिया है।

3. भ्रम के लिये किसी उद्दीपन का होना अनिवार्य है।

4. भ्रम में उद्दीपन का गलत प्रत्यक्षण होता है।

भ्रम के प्रकार (Kind of illusion)

भ्रम या विपर्यय मुख्यतः दो प्रकार के होते है। पहले प्रकार का भ्रम जो सभी व्यक्तियों को हर समय और हर अवस्था में होता है। इस तरह के भ्रम के गिलफोर्ड (Gillford,1973) ने सामान्य भ्रम (Normal illusion) कहा है। रात के अंधेरे में रस्सी को देखकर साँप समझना, ऊगता तथा डुबता सूर्य दोपहर की अपेक्षा बड़ा मालूम पड़ना, चलती रेलगाड़ी से बाहर, देखने पर दूर की चीजों का साथ-साथ चलते हुए प्रत्यक्ष होना तथा नजदीक की चीजों का विपरित दिशा में चलना, लम्बे व्यक्तियों के बीच नाटे व्यक्ति का और भी छोटा दिखना, रेल की दो समानान्तर पटरियों को दूर तक देखने पर सटी हुई नजर आना, आदि कुछ ऐसे भ्रम है जो सामान्य भ्रम की श्रेणी में रखे जाते हैं।

भ्रम का दूसरा प्रकार है- व्यक्तिगत भ्रम (Personal illusion) या जिसे विशिष्ट भ्रम (Specific illusion) भी कहा जाता हैं। इस तरह का भ्रम कुछ खास व्यक्तियों को ही होता हैं। जैसे जिस व्यक्ति को पीलिया रोग (Jaundice) हो जाता है उसे वातावरण की चीजें अक्सर पीली नजर आती है।

परोक्ष एवं प्रत्यक्ष के लक्षण

जं परदो विण्णाणं तं तु परोक्खं त्ति भणिदमत्थेसु।
जदि केवलेण णादं हवदि हि जीवेण पच्चक्खं।। (58)

Perception of things through a foreign agency is called Paroksa, indirect or medicate; whatever is perceived by the soul is Pratyaksa directot or immediatie ?

आगे फिर भी अन्य प्रकार से प्रत्यक्ष और परोक्ष ज्ञान का लक्षण कहते हैं-

(अट्टेसु) ज्ञेय पदार्थों में (परदो) दूसरे के निमित्त या सहायता से (जं विण्णाणं) जो ज्ञान होता है। (तंतु परोक्खत्ति भणिदं) उस ज्ञान को तो परोक्ष है, ऐसा कहते हैं तथा (यदि केवलेण जीवेण णादं हि हवदि) जो केवल बिना किसी सहायता के जीव के द्वारा निश्चय से जाना जाता है सो (पच्चक्खं) प्रत्यक्ष ज्ञान है।

इसका विस्तार यह है कि इन्द्रिय तथा मन-सम्बन्धि जो ज्ञान है वह पर के उपदेश, प्रकाश आदि बाहरी कारणों के निमित्त से तथा ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न हुए अर्थ को जानने की शक्ति रूप उपलब्धि और अर्थ को जानने रूप संस्कारमई अन्तरंग निमित्त से पैदा होता है वह पराधीन होने से परोक्ष है, ऐसा कहा जाता है। परन्तु जो ज्ञान पूर्व में कहे हुए सर्व परद्रव्यों की अपेक्षा न करके केवल शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव धारी परमात्मा के द्वारा उत्पन्न होता है वह अक्ष कहिये आत्मा उसी के द्वारा पैदा होता है इस कारण प्रत्यक्ष है, ऐसा सूत्र का अभिप्राय हैं।

समीक्षा–प्रति+अक्ष=प्रत्यक्ष। अक्ष का अर्थ आत्मा है उसके प्रति जो भाव है उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। इसके विपरीत जो भाव है वह परोक्ष है। अथवा दूसरों के अवलम्बन बिना स्वालम्बन से जो ज्ञान होता है उसे प्रत्यक्ष ज्ञान कहते हैं और जो परलम्बन से होता है उसे परोक्ष कहते हैं।

राजवार्तिक में प्रत्यक्ष एवं परोक्ष का वर्णन व्याकरणीय एवं दार्शनिक पद्धति से निम्न प्रकार किया है।

उपात्तानुपात्त परप्राधान्यादवगमः परोक्षम्।

उपात्त अनुपात्त रूप प्रधानता से जो ज्ञान होता है वह परोक्ष कहलाता है। उपात्त इन्द्रियां और मन तथा अनुपात प्रकाश, उपदेशादि को 'पर' कहते हैं और पर (इन्द्रिय), मन, प्रकाश, उपदेश आदि) के निमित्त होने वाले अर्थावबोध को परोक्ष ज्ञान कहते हैं। जैसे गमन शक्ति से युक्त और स्वयमेव गमन करने में असमर्थ भी पुरुष का लाठी आदि की सहायता से गमन होता है, उसी प्रकार मति एवं श्रुतज्ञानावरण का

क्षयोपशम होने पर भी स्वयंमेव पदार्थों को जानने में असमर्थ 'ज्ञ' स्वभाव आत्मा के पूर्वोक्त इन्द्रियां मन और प्रकाशादि पर प्रत्यय (कारण की प्रधानता से ज्ञान होता है वह परायत्व (पर के निमित्त) होने से मतिज्ञान और श्रुतज्ञान परोक्ष कहलाता है।

इन्द्रियानिन्द्रियनपेक्षमतीतव्यभिचारं साकारग्रहणं प्रत्यक्षं।

इन्द्रिय और मन की अपेक्षा के बिना व्यभिचार रहित जो साकार ग्रहण होता है उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। चक्षु आदि पांच इन्द्रियां और अनिन्द्रिय-मन है उनमें जिसकी अपेक्षा नहीं है 'अतत् को तत् रूप से ग्रहण करने का ज्ञान व्याभिचार है- जिसके व्यभिचार नहीं है वह अव्यभिचार है अर्थात् प्रत्यक्ष ज्ञान तत् को 'तत्' स्वरूप जानता है आकार का अर्थ विकल्प या भेद है। आकार के साथ है उसे साकार कहते हैं वह अतीन्द्रिय, अव्यभिचारी और साकार ग्रहण करने वाला ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है।

अक्षं प्रति नियतमिति परापेक्षानिवृतिः।

अक्ष के प्रति नियत हो और जिसमें पर की अपेक्षा न हो। 'अक्ष्णोति' जो जगत् के सारे पदार्थों को प्रत्यक्ष करता है वह अक्ष-आत्मा, जो ज्ञान प्रक्षीणावरण या क्षयोपशम प्राप्त आत्म-मात्र की अपेक्षा से होता है वह प्रत्यक्ष हैं, प्रत्यक्ष का यह

व्युत्पति अर्थ करने से इन्द्रिय और मन रूप पर की अपेक्षा की निवृत्ति हो जाती है। पंचाध्यायी में भी प्रत्यक्ष एवं परोक्ष की परिभाषा एवं उसके भेद प्रभेद का वर्णन निम्न प्रकार से किया है।

अथ तद्द्विधा प्रमाणं ज्ञानं प्रत्यक्षमथ परोक्षं च।

असहायं प्रत्यक्षं भवति परोक्षं सहायसापेक्षम्।। (696)

प्रमाण ज्ञान के प्रत्यक्ष और परोक्ष ऐसे दो भेद हैं। जो किसी की सहायता के बिना होता है वह प्रत्यक्ष है और जो दूसरों के सहाय सापेक्ष होता है वह परोक्ष हैं।

प्रत्यक्षं द्विविधं तत्सकलप्रत्यक्षमक्षयं ज्ञानम्।

क्षायोपशमिकमपरं देशप्रत्यक्षमक्षयं क्षयि च।। (697)

इनमें से प्रत्यक्ष ज्ञान दो प्रकार का है सकलप्रत्यक्ष और देशप्रत्यक्ष। अविनाशी केवलज्ञान सकल प्रत्यक्ष है और दूसरा क्षायोपशमिक ज्ञान देश प्रत्यक्ष है। इस देशप्रत्यक्ष के अप्रतिपाती और प्रतिपाती ऐसे दो भेद हैं।

अयमर्थो यज्ज्ञानं समस्तकर्मक्षयोद्भवं साक्षात्।

प्रत्यक्षं क्षायिकमिदमक्षातीतं सुखं तद्क्षायिकम्।। (698)

आशय यह है कि जो ज्ञान सब कर्मों के क्षय से उत्पन्न होता है अतएव क्षायिक है, इन्द्रियातीत है, सुखरूप है और अविनश्वर है वह सकल प्रत्यक्ष है।

देश प्रत्यक्षमिहाप्यवधिमनःपर्ययं च यज्ज्ञानम्।

देशं नोइन्द्रियमन उत्थात् प्रत्यक्षमितरनिरपेक्षात्।। (699)

तथा अवधिज्ञान और मनः पर्ययरूप जो ज्ञान है वह देश प्रत्यक्ष है। यह नोइन्द्रिय रूप मन की सहायता से उत्पन्न होता है इसीलिए तो देश कहलाता है और अन्य की अपेक्षा किये बिना उत्पन्न होता है इसलिये प्रत्यक्ष कहलाता है।

आभिनिबोधिकबोधो विषयविषयिसन्निकर्षजस्तस्मात्।

भवति परोक्षं नियमादपि च मतिपुरस्सरं श्रुतं ज्ञानम्।। (700)

आभिनिबोधिक ज्ञान विषय और विषयी के सन्निकर्ष से उत्पन्न होता है तथा श्रुत ज्ञान भी मतिज्ञान पूर्वक होता है इसीलिए ये दोनों ज्ञान परोक्ष हैं।

छद्मस्थावस्थायामावरणेन्द्रियसहायसापेक्षम्।

यावज्ज्ञानचतुष्टयमर्थात् सर्वं परोक्षामिववाच्यम्।।

अवधिमनःपर्ययविद्द्वैतं प्रत्यक्षमेकदेशत्वात्।

केवलमिदमुपचारादथ च विवक्षावशान्न चान्वार्थात्।। (702)

छद्मस्थ अवस्था में जो चार ज्ञान होते हैं वे यथासम्भव आवरण और इन्द्रियों की सहायता से होते है इसलिए वास्तव में उन सबको परोक्ष के समान कहना भी उचित है। अवधि और मनः पर्यय ये दोनों ज्ञान एकदेश प्रत्यक्ष कहे गये हैं सो यह कथन उपचार से अथवा विवक्षावश से ही घटित होता है अन्वर्थ रूप से नहीं।

तत्रोपचारहेतुर्यथा मतिज्ञानमक्षजं नियमात्।

अथतत्पूर्वं क्षुतमति न तथावधिचित्तपर्ययं ज्ञानम्।। (703)

यहाँ उपचार का कारण यह है कि जिस प्रकार मति ज्ञान नियम से इन्द्रियजन्यज्ञान है और श्रुतज्ञान भी मतिज्ञान पूर्वक होने से इन्द्रियजन्य है उस प्रकार अवधि और मनः पर्यय ये दो ज्ञान इन्द्रियजन्य नहीं हैं इसलिये इनमें एकदेश प्रत्यक्षता का उपचार किया गया है।

जिस प्रकार आदि के दो ज्ञान अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा के आधीन होते हैं उस प्रकार अन्त के दो ज्ञान नहीं होते, क्योंकि अवधि और मनः पर्यय ये दोनों ज्ञान दूरवर्ती पदार्थो को लीलामात्र में प्रत्यक्ष की तरह जान लेते हैं केवल इन्हें मन की सहायता लेना पड़ती है इसलिए ये एकदेश प्रत्यक्ष कहे गये हैं।

अपि किं वाभिनिबोधिकबोधद्वैतं तदादिमं यावत्।
स्वात्मानुभूतिसमये प्रत्यक्षं तत्समक्षमिव नान्यत्।। (706)

यह विशेष बात है कि स्वात्मानुभूति के समय प्रारम्भ के मति और श्रुत इन दोनों ज्ञानों से जितना भी ज्ञान होता है वह प्रत्यक्ष ज्ञान के समान प्रत्यक्ष है। इसके सिवा शेष मति व श्रुत ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं।

तदिह द्वेतमिदं चित्स्पर्शादीन्द्रियविषयपरिग्रहणे।
व्योमाद्यवगमकाले भवति परोक्षं न समक्षमिह नियमात्।। (707)

किन्तु वे ही दोनों ज्ञान स्पर्श आदि इन्द्रियों के विषयों को ग्रहण करते समय और आकाश आदि के जानते समय परोक्ष हैं प्रत्यक्ष नहीं।

ननु चाद्ये हि परोक्षे कथमिव सूत्रे कृतः समुद्देशः।
अपि तल्लक्षणयोगात् परोक्षमिव सम्भवत्येतत्।। (708)

यदि स्वानुभूति के समय मतिज्ञान और श्रुतज्ञान प्रत्यक्ष होते है तो फिर तत्त्वार्थ सूत्र में आदि के दो ज्ञान परोक्ष है ऐसा निर्देश क्यों किया है ? दूसरे इनमें परोक्ष का लक्षण घटित हो जाता है, इसलिये भी ये ज्ञान परोक्ष ही प्रतीत होते हैं।

यह कहना ठीक है क्योंकि विसंवाद न होने से वस्तु का विचार अतिशय रहित होता है इससे मालूम पड़ता है कि तत्त्वार्थसूत्र की उक्त प्रतिज्ञा का यह अभिप्राय है कि साधारण रूप से वे दोनों ज्ञान परोक्ष है तथा सम्यग्दृष्टि जीव के मिथ्यात्व कर्म का उदय नहीं रहने से कोई ऐसी अनिर्वचनीय शक्ति प्रकट होती है जिसके द्वारा यह स्वात्म प्रत्यक्ष होता है।

खुलासा इस प्रकार है कि इस शुद्ध स्वात्मानुभूति के समय स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पांचों इन्द्रियाँ उपयोगी नहीं मानी गई हैं। किन्तु वहाँ पर केवल मन ही उपयोगी माना गया है। इस मन के द्रव्यमन और भावमन ऐसे दो भेद हैं और नोइन्द्रिय यह मन का सार्थक नाम है।

द्रव्यमनो हुतकमले घनाङ्गुलासंख्यभागमात्रं यत्।
अचिदपि च भावमनसः स्वार्थग्रहणे सहायतामेति।। (713)

द्रव्यमन हृदयकमल में होता है जो घनांगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण होता है। यह यदपि अचेतन है तो भी अपने विषय के ग्रहण करने में भावमन की सहायता करता है।

भावमनःपरिणामो भवति तदात्मोपयोगमात्रं वा।
लब्ध्युपयोगविशिष्टं स्वावरणस्य क्षयाक्रमाच्च स्यात्।।(714)

भावमन आत्मा के ज्ञान गुण की पर्याय है जो अपने आवरण कर्म के क्षयोपशम से होता है। इसके लब्धि और उपयोग ऐसे दो भेद हैं।

स्पर्शनरसनघ्राणं चक्षुः श्रोत्रं च पञ्चकं यावत्।
मूर्तग्राहकमेकं मूर्त्तामूर्त्तस्य वेदकं च मनः।। (715)

स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ये पांचों ही इन्द्रियाँ केवल मूर्त पदार्थ को ग्रहण करती हैं। किन्तु मन मूर्त और अमूर्त दोनों प्रकार के पदार्थों को जानता है।

तस्मादिदमनवद्यं स्वात्मग्रहणे किलोपयोगि मनः।
किन्तु विशिष्टदशायां भवतीह मनः स्वयं ज्ञानम्।। (716)

इसलिये यह बात निर्दोष है कि अपने आात्मा के ग्रहण में मन ही उपयोगी है, किन्तु विशिष्ट अवस्था में सम्यक्त्व अवस्था में वह मन स्वयं ज्ञानरूप हो जाता है।

नासिद्धमतदुक्तं तदिन्द्रियानिन्द्रियोद्भवं सूत्रात्।
स्यान्मतिज्ञाने यत्तत्पूर्व किल भवेच्छ्रुतज्ञानम्।। (719)

तथा सूत्र में जो यह बतलाया गया है कि मतिज्ञान इन्द्रिय और मन से उत्पन्न होता है सो यह कहना असिद्ध नहीं है।

अयमर्थो भावमनो ज्ञानविशिष्टं स्वयं हि सदमूर्त्तम्।
तेनात्मदर्शनमिह प्रत्यक्षमतीनिद्रयं कथं न स्यात्।। (118)

आशय यह है कि भावमन स्वयं ज्ञान विशिष्ट है अतः वह अमूर्त है इसलिए उसके द्वारा जो साक्षात्कार होता है वह अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष कैसे नहीं होगा अर्थात् उसे अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष मानने में कोई आपत्ति नहीं है।

अपि चात्मसंसिद्धयै नियतं हेतु मतिश्रुति ज्ञाने।
प्रान्त्यद्वयं विना स्यान्मोक्षो न स्यादृते मतिद्वैतम्।। (119)

आत्मा की सिद्धि के लिये मति और श्रुत ये दो ज्ञान ही निश्चित कारण माने हैं, कारण कि उपान्त्य दो ज्ञानों के बिना मोक्ष हो सकता है। किन्तु मतिज्ञान और श्रुतज्ञान के बिना कभी भी मोक्ष नहीं होता।

प्रत्यक्षज्ञान ही पारमार्थिक सुख है

जादं सयं समंत्तं णाणमणंत्थवित्थडं विमलं।
रहिदं तु ओग्गहादिहिं सुहं त्ति एगंतियं भणियं। (59)

Thet self-born,perfect, and pure knowledge which spreads over infinite things and which is free from (the stages of perception such as) outlinear grasp etc, is called the real happiness.

आगे कहते हैं कि अभेदनय से पांच विशेषण सहित केवलज्ञान ही सुखरूप हैं। (णाणं) यह केवलज्ञान (सयं जादं) स्वयमेव ही उत्पन्न हुआ है, (समत्तं) परिपूर्ण है(अणंत्थवित्थदं) अनन्त पदार्थों में व्यापक है, (विमलं) संशय आदि मलों से रहित है, (ओग्गाहादिहिं तु रहियं) अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा आदि के क्रम से रहित है। इस तरह पांच विशेषणों से गर्भित जो केवलज्ञान है वही (एगंतियं) नियम करके (सुहं त्ति भणियं) सुख है, ऐसा कहा गया है। भाव यह है कि यह केवलज्ञान पर पदार्थों की सहायता की अपेक्षा न करके चिदानन्दमयी एक स्वभाव रूप अपने ही शुद्धात्मा के एक उत्पादन कारण से उत्पन्न हुआ है। इसलिए स्वयं पैदा हुआ है, सर्व शुद्ध आत्मा के प्रदेशों में प्रगटा है इसलिए सम्पूर्ण है, अथवा सर्वज्ञान के अविभाग-प्रतिच्छेद अर्थात् शक्ति के अंश उनसे परिपूर्ण हैं, सर्व आवरण के क्षय होने से पैदा होकर सर्व ज्ञेय पदार्थों को जानता है इससे अनन्त पदार्थ व्यापक है, संशय, विमोह, विभ्रम से रहित होकर व सूक्ष्म आदि पदार्थों के जानने में अत्यन्त विशद होने से निर्मल है तथा क्रमरूप इन्द्रियजनित ज्ञान के खेद के अभाव से अवग्रहादि-रहित अक्रम है। ऐसा यह पांच विशेषण सहित क्षायिकज्ञान अनाकुलता लक्षण को रखने वाला परमानन्दमयी एक रूप पारमार्थिक सुख से संज्ञा, लक्षण, प्रयोजन आदि की अपेक्षा से भेदरूप होने पर भी निश्चयनय से अभिन्न होने से पारमार्थिक या सच्चा स्वाभाविक सुख कहा जाता है, यह अभिप्राय है।

समीक्षा- सुख आत्मा का स्वाभाविक शुद्ध आत्म स्वभाव है, और सुख वेदन जीव ज्ञान के माध्यम से करता है, परन्तु जब जीव समस्त कर्मों से रहित होकर पूर्ण ज्ञानानंद स्वरूप बन जाता है तब ज्ञान एवं आनन्द में अभेद विवक्षा से भेद नहीं रहता है तथा उसका वेदन भी अभेद हो जाता है। इसलिये अभेद विवक्षा से ज्ञान एवं सुख को एकरूप से स्वीकार किया गया है तथापि भेद विवक्षा से ज्ञान एवं सुख पृथक-पृथक् हैं, क्योंकि ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय से केवलज्ञान होता है, दर्शनमोहनीय कर्म के क्षय से क्षायिक सम्यक्त्व होता है एवं चारित्र मोहनीय कर्म के क्षय से क्षायिक चारित्र होता है और इसे ही सुख कहा गया है। इसलिये चार घातिकर्म के क्षय से अनंत चतुष्टय प्रगट होता है, परन्तु प्रवचनसार आध्यात्मिक ग्रन्थ हैं। इस आध्यात्मिक ग्रन्थ में ज्ञान को मुख्यता दी गई है।

जादंसयं-इस गाथा में 'जादं सयं' अर्थात् स्वयं से उत्पन्न हुआ विशेषणज्ञान (सुख) के लिए दिया गया है, क्योंकि यह सुख जीव का स्वभाव होने से बाहर से प्राप्त नहीं होता है परन्तु स्वयं में ही अभेद रूप से निहित है। जैसे सूर्य मे सूर्य किरण रहती है, परन्तु बादल के कारण सूर्य किरण छिप जाती है और बादल छटते/हटते ही सूर्य किरण प्रगट हो जाती है उसी प्रकार स्वयं में निहित सुख (ज्ञान) ही कर्म के कारण तिरोहित/गुप्त/सुप्त हो गया था, परन्तु विरोध कारण रूप कर्म-क्षय के कारण स्वयं प्रगट हो गया।

समत्तं(समस्त)- सुख आत्मा का गुण होने के कारण पूर्ण आत्मा के समस्त प्रदेशों में सुख का वेदन होता है। जिस प्रकार अग्नि की उष्णता अग्नि के प्रत्येक कण में, स्वर्ण का पीतपना स्वर्ण के प्रत्येक प्रदेश में, शक्कर का मीठापन उसके प्रत्येक कण में होता है उसी प्रकार सुख का वेदन आत्मा के प्रत्येक प्रदेश में होता है।

णाणमणंतत्थवित्थडं (अनन्त अर्थ में विस्तृत ज्ञान)- ज्ञान ज्ञेय प्रमाण होने के कारण और केवलज्ञान में सबसे अधिक अनंतानंत अनुभाग प्रतिच्छेद शक्ति होने के कारण यह ज्ञान समस्त ज्ञेयों में विस्तृत है इसलिये इस ज्ञान में जानने के लिए कुछ अवशेष नहीं रहता है। इस ज्ञान में जानने की इच्छा का अभाव होने के कारण यह ज्ञान सुख स्वरूप है।

विमल(मल रहित, निर्मल)- छद्मस्थ का ज्ञान एवं सुख कर्म सापेक्ष होने के

कारण, मलयुक्त होने के कारण आकुलता उत्पन्न करने वाला है परन्तु केवलज्ञान कर्म निरपेक्ष एवं अव्याबाध होने के कारण यह सुख परम आल्हाद रूप सुख है।

रहिदं तु ओग्गहादीहिं (अवग्रहादि से रहित)- केवलज्ञान क्षायिक होने के कारण यह युगपत् प्रवृत्त होता है। इसलिये अवग्रहादि क्रम नहीं है और तज्जनित खेद व आकुलता नहीं है। इसलिये प्रत्यक्ष ज्ञान ही परमार्थिक या एकान्तिक सुख है। समयसार की टीका में जयसेनाचार्य ने कहा भी है-

यद्देवमनुजाः सर्वे सौख्यमक्षार्थसंभवम्।
निर्विशन्ति निराबाधं सर्वाक्षप्रीणनक्षमम्।।
सर्वेणातीत-कालेन यच्च मुक्तं महर्द्धिकम्।
भाविनो ये च भोक्ष्यन्ति स्वादिष्टं स्वान्तरञ्जकम्।।
अनन्तगुणिनं तस्मादत्यक्षं स्वस्वभावजम्।
एकस्मिन् समये भुक्त तत्सुखं परमेश्वरः।।

यहां शिष्य प्रश्न करता हैं कि हे प्रभो! आपने अनेक बार अतीन्द्रिय सुख की बात कही है किन्तु वह अतीन्द्रिय सुख कैसा है ऐसा लोग नहीं जानते ? आचार्य देव उसका उत्तर देते हैं- देखो, कोई व्यक्ति स्त्री प्रसंग आदि पंचेन्द्रिय के विषय-सुख व्यापार से रहित अवस्था में सभी प्रकार की आकुल-व्याकुलता से दूर होकर बैठा हुआ है उसको किसी ने आकर पूछा कि कहो भाई देवदत्त! सुख से तो हो ? इस पर वह उत्तर देता है कि सुख से हूँ, तो यह सुख अतीन्द्रिय है क्योंकि सांसारिक सुख विषयों के सेवन से पैदा होता है और यहां पंचेन्द्रियों के विषय के व्यापार का अभाव होते हुये भी सुख दिख रहा है वह अतीन्द्रिय है, किन्तु यह जो सुख हो रहा है वह सामान्यात्मक/साधारण-सा अतीन्द्रिय सुख है, किन्तु जो पांचों इन्द्रियों से और मन से होने वाले सभी प्रकार के विकल्प जालों से रहित ऐसे जो समाधिस्थ परम योगीराज को स्वसंवेदनात्मक अतीन्द्रिय सुख होता है वह विशेष रूप से होता है अर्थात् इससे भी और अपूर्व विशेषता लिये हुये होता है। जो मुक्तात्माओं का अतीन्द्रिय सुख है, वह हम तुम सरीखे लोगों के या तो अनुमानगम्य है या आगम गम्य है। देखो, मुक्तात्माओं का इन्द्रिय विषयों के व्यापार के न होने पर भी अतीन्द्रिय सुख होता है यह पक्ष हुआ क्योंकि वर्तमान में होने वाला विषय व्यापार से रहित निर्विकल्प समाधि में रत होकर रहने वाले परम मुनिश्वरों को

स्वसंवेद्यात्मक सुख की उपलब्धि होती है, यह हेतु हुआ। यह पक्ष और हेतु रूप दो अंगवाला अनुमान हुआ ऐसा जानना चाहिए। आगम में तो जेसा ऊपर 'आत्मोपादान सिद्ध' इत्यादि वचन से ऊपर कह आये हैं वह वचन अतीन्द्रिय सुख का वर्णन करने वाला प्रसिद्ध ही है। इसलिये अतीन्द्रिय सुख के विषय में सन्देह नहीं करना चाहिये- यही बात और स्थान पर भी कही है।

यद्देव मनुजाः सर्वे सौख्यमक्षार्य संभवं, निर्विशंति निराबाध सर्वाक्षप्रीणनक्षमं।

सर्वेणातीतकालेन यच्च भुक्तं महर्द्धिकं भाविनो ये च भोक्ष्यंति स्वादिष्टं स्वांतरंजकं।

अनंतगुणिनं तस्मादत्यक्षं स्वस्वभावजं। एकस्मिन् समय भुंक्ते तत्सुखं परमेश्वरः।।

अर्थात्- वर्तमान में जो पुण्याधिकारी देव और मनुष्य है वे सब निरर्गल रूप से अपनी सभी इन्द्रियों को प्रसन्न करने वाले इन्द्रियजन्य और ऋद्धि आदि से प्राप्त हुए सुख भोग रहे हैं। और जो सुख पहले भूतकाल में पुण्याधिकारी देव मनुष्यों ने महर्द्धिक सुख भोगा है तथा आगे होने वाले पुण्याधिकारी देव और मनुष्य इन्द्रियजन्य स्वादिष्ट और मनोरंजक सुख को भोगेगे उस समस्त सुख से भी अनन्तगुणा अतीन्द्रियजन्य अपने स्वभाव से उत्पन्न होने वाला सुख परमेश्वर सिद्ध भगवान् को एक समय में होता है। **समयसार,**

जं सिवं-दंसणि परम-सुहु पावहि झाणु करंतु।

तं सुहु भुवणि वि अत्थि णवि मेल्लिवि देउ अणंतु।। (116)

आगे शिव शब्द से कहे गये निज शुद्ध आत्मा के ध्यान करने पर जो सुख होता है, उस सुख का तीन दोहा-सूत्रों में वर्णन करते हैं- जो ध्यान करता हुआ निज शुद्धात्मा के अवलोकन में अत्यन्त सुख हे प्रभाकर! तू पा सकता है, वह सुख तीन लोक में भी परमात्म द्रव्य के सिवाय नहीं है।

जं मुणि लहइ अणंत-सुहु णिय-अप्पा झायंतु।

तं सुहुइंदु विणवि लहइ देविहिं कोड़िरमंतु।। (117) प.प्र.

आगे कहते हैं कि जो सुख आत्मा को ध्यावने से महामुनि पाते हैं वह सुख इन्द्रादि देवों को दुर्लभ है-अपनी आत्मा को ध्यावता परम तपोधन मुनि जो अनन्तसुख पाता है, उस सुख को इन्द्र भी करोड़ देवियों के साथ रमता हुआ भी नहीं पाता।

अप्पा-दंसणि जिणवरहँ जं सुहु होइ अणंतु।

तं सुहु लहइ विराउ जिउ जाणंतउ सिउ संतु।। (118)

आगे ऐसा कहते हैं कि वैरागी मुनि ही निज आत्मा को जानते हुए निर्विकल्प सुख को पाते हैं- निज शुद्धात्मा के दर्शन में जो अनन्त अद्भुत सुख मुनि-अवस्था में जिनेश्वर देवों के होता है, वह सुख वीतरागभावना को परिणत हुआ मुनिराज निज शुद्धात्मास्वभाव को तथा रागादि रहित शांत भाव को जानता हुआ पाता है।

केवलज्ञान में खेद या दुःख नहीं

जं केवलत्ति णाणं तं सोक्खं परिणमं च सो चेव।

खेदी तस्स ण भणिदो, जम्हा घादी खयं जादा।। (60)

Whatever is known as omniscient knowlege, that alone is a condition of happiness, no trace of misery is said to be there, since the destructive are exhausted.

आगे कोई शंका करता है कि जब केवलज्ञान में अनन्त पदार्थों का ज्ञान होता है तब उस ज्ञान के होने में अवश्य खेद या श्रम करना पड़ता होगा। इसलिये यह निराकुल नहीं है। इसका समाधान करते हैं-

(जं केवलत्ति णाणं) जो केवलज्ञान है (तं सोक्खं) वही सुख है (सो चेव परिणमं च) तथा केवलज्ञान सम्बन्धी परिणाम आत्मा का स्वाभाविक परिणमन है। (जम्हा) क्योंकि (घादी खयं जादा) मोहनीय आदि घातिया कर्म नष्ट हो गए (तस्स खेदो ण भणिदो) इसलिये उस अनंत पदार्थों को जानने वाले केवलज्ञान के भीतर दुःख का कारण खेद नहीं कहा गया हैं।

इसका विस्तार यह है कि जहाँ ज्ञानावरण दर्शनावरण के उदय से एक साथ पदार्थों के जानने की शक्ति नहीं होती है किन्तु क्रम क्रम से पदार्थ जानने में आते हैं वहाँ खेद होता है। दोनों दर्शन ज्ञान आवरण के अभाव होने पर एक साथ सर्व पदार्थों को जानते हुए केवलज्ञान में कोई खेद नहीं है, किन्तु सुख ही है। तैसे ही उन केवली

भगवान् के भीतर तीन जगत् और तीन कालवर्ती सर्व पदार्थों को एक समय में जानने को समर्थ अखंड एक रूप प्रत्यक्षज्ञानमय स्वरूप से परिणमन करते हुए केवलज्ञान ही परिणाम में रहता है। कोई केवलज्ञान से भिन्न परिणाम नहीं होता है जिससे कि खेद होगा। अथवा परिणाम के सम्बन्ध में दूसरा व्याख्यान करते हैं- एक समय में अनंत पदार्थों के ज्ञान के परिणाम में भी वीर्यान्तराय के पूर्ण क्षय होने से अनन्तवीर्य के सद्भाव से खेद का कोई कारण नहीं है। वैसे ही शुद्ध आत्म प्रदेशों में समतारस के भाव से परिणमन करने वाली तथा सहज शुद्ध आनन्दमई एक लक्षण को रखने वाली, सुखरस के आस्वाद में रमने वाली आत्मा से अभिन्न निराकुलता के होते हुए खेद नहीं होता है। ज्ञान और सुख संज्ञा, लक्षण, प्रयोजन आदि का भेद होने पर भी निश्चय से अभेद रूप से परिणमन करता हुआ केवलज्ञान ही सुख कहा जाता है। इससे यह ठहरा कि केवलज्ञान से भिन्न सुख नहीं है, इस कारण से ही केवलज्ञान में खेद का होना सम्भव नहीं है।

समीक्षा–जो आत्मा के अनुजीवी गुण को घाते हैं उसे घाती कर्म कहते हैं।

घातीकर्म के कारण ही जीव के सर्व विशिष्ट अनंत चतुष्टय गुण यथा अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत सुख, अनंत वीर्य गुण विपरीत हो जाते हैं, मलिन हो जाते हैं या कुंठित हो जाते हैं। परन्तु घाती कर्म के सम्पूर्ण घात से अनंत चतुष्टय पूर्ण रूप से प्रगट हो जाते हैं। खेद उत्पादक घाती कर्म के अभाव से खेद उत्पन्न होना असम्भव है क्यों कारण के बिना कार्य होना असंभव है। यदि कारण के बिना कार्य होने लगे तब विश्व में अनेक अनर्थ, अनेक अव्यवस्थायें एवं अनेक असंभव कार्य भी होने लगेंगे। यहां पर प्रश्न होना स्वाभाविक है कि घाति कर्म का नाश होने पर भी 13वें व 14वें गुणस्थान में अघातीकर्म विद्यमान होने से खेद होना स्वाभाविक है ? इन दोनों गुणस्थान में कुछ जीवों के साता वेदनीय का उदय रहता है और कुछ जीवों के असाता वेदनीय का उदय रहता है। परन्तु वेदनीय कर्म तब सुख एवं दुःख देने में समर्थ होता है जब मोहनीय कर्म का सद्भाव हो, मोहनीय कर्म के अभाव होने पर वेदनीय कर्म फल देने में असमर्थ हो जाता है। जिस प्रकार सड़ा हुआ, गला हुआ, जला हुआ या योनी भूत-शक्ति से रहित बीज अंकुरित होने में असमर्थ है उसी प्रकार घाती कर्म से रहित अघाती कर्म दुःख उत्पन्न कराने में असमर्थ है। कुछ केवलियों में

जो असाता कर्म का उदय होता है वह साता रूप परिणमन हो जाता है। इसलिये असाता कर्म वहां पर दुःख देने में असमर्थ है। वहां साता जनित आकुलोत्पादक इन्द्रिय जनित सुख भी नहीं हैं, क्योंकि स्वाभाविक अनंत-सुख भोगने वाले केवली के साता भी इन्द्रिय जनित सुख देने में अकिंचित्कर है। जैसे-मध्याह्न के सूर्य प्रकाश में नक्षत्रों का प्रकाश दिखाई नहीं देता है उसी प्रकार आध्यात्मिक अनंत सुख के सामने साता जनित सुख निष्प्रभ है। गोम्मटसार कर्मकाण्ड में कहा भी है-

णट्ठा या रायदोसा इंदियणाणं च केवलिम्हि जदो।

तेण दु सादासादजसुहदुक्खं णत्थि इंदियजं।। (273)

केवली भगवान् के घातिया कर्म का नाश हो जाने से मोहनीय के भेद जो राग द्वेष वे नष्ट हो गएँ और ज्ञानावरण का क्षय हो जाने से, ज्ञानावरण के क्षयोपशम से जायमान इन्द्रिय जन्य ज्ञान भी नष्ट हो गया। इस कारण केवली के साता तथा असाताजन्य इन्द्रिय विषयक सुख-दुःख लेश मात्र भी नहीं होते। क्योंकि सातादि वेदनीय कर्म मोहनीय कर्म की सहायता से ही सुख-दुःख देता हुआ जीव के गुण को घातता है, यह बात पहले भी कह आए हैं। अतः उस सहायक का अभाव हो जाने से वह जली जेवड़ीवत् (रस्सीवत्) अपना कुछ कार्य नहीं कर सकता।

अब वेदनीय कर्म केवली के इन्द्रिय जन्य सुख दुःख का कारण नहीं है, इस बात को सिद्ध करने के लिए युक्ति कहते हैं-

समयट्ठिदिगो बंधो सादस्सुदयप्पिगो जदो तस्स।

तेण असादस्सुदओ सादसरूवेण परिणमदि।। (274)

जिस कारण केवली भगवान के एक साता वेदनीय का ही बंध सो भी एक समय की स्थिति वाला ही होता है, इस कारण वह उदय स्वरूप ही है। और इसी कारण असाता का उदय भी साता स्वरूप से ही परिणमता है। क्योकि असातावेदनीय सहाय रहित होने से तथा बहुत हीन होने से मिठा जल में खारे जल की एक बूंद की तरह अपना कुछ कार्य नहीं कर सकता।

एदेण कारणेण दु सादस्सेव दु णिरंतरो उदओ।

तेणासादणिमित्ता परीसहा जिणवरे णत्थि।। (275)

इस पूर्वगाथा कथित कारण से केवली के हमेशा साता वेदनयी का ही उदय रहता है। इसी कारण असाता के निमित्त से होने वाली क्षुधा आदिक जो. परीषह वे जिनवर देव के कार्यरूप नहीं हुआ करते हैं।

संसारविषयातीतं सिध्दनाममव्ययं सुखम्।

अव्याबाधमिति प्रोक्तं परमं परमर्षिभिः।। (23) रा.वा.

परम ऋषियों ने सिद्धों का सुख संसार के विषयों से अतीत, अव्यय और अव्याबाध कहा है।

'अशरीरी' नष्ट-अष्टकर्मा, मुक्त जीवों के कैसे, क्या सुख होता है ? इसका समाधान सुनिये इस लोक में चार अर्थों में सुख शब्द का प्रयोग होता है। विषय वेदना का अभाव, विपाक, कर्मफल और मोक्ष। 'अग्नि सुखकर है' वायु सुखकारी है, इत्यादि में सुख शब्द विषयार्थक है। रोगादि दुःखों के अभाव में पुरुष 'मैं सुखी हूँ' ऐसा समझता है, वह वेदनाभाव सुख है, पुण्य कर्म के विपाक से जो इष्ट इन्द्रिय विषयों से सुखानुभूति होती है वह विपाकज सुख है और कर्म और क्लेश के विमोक्ष होने से मोक्ष का अनुभव सुख प्राप्त होता है- वह मोक्षसुख है।

सुषुप्तावस्थया तुल्यां केचिदिच्छन्ति निर्वृतिम्।

यद्युक्तं क्रियावत्त्वात् सुखानुशयतस्तथा।। (28)

श्रमक्लममदव्याधिमदनेभ्यश्च संभवात्।

मोहोत्पत्तिर्विपाकाच्च दर्शनघ्नस्य कर्मणः।। (29)

कोई मोक्षसुख को सुप्तावस्था के समान मानते हैं, परन्तु सुप्तावस्था के समान सुख मानना ठीक नहीं है, क्योंकि मोक्षसुख में सुखानुभव रूप क्रिया होती रहती और सुप्तावस्था तो दर्शनावरणीय कर्म के उदय से श्रम-क्लम-मद, भय,व्याधि, काम आदि निमित्तों से उत्पन्न होती है और मोहोत्पत्ति का विकार है।

लोके तत्सदृशो ह्यर्थः कृत्स्नेऽप्यन्यो न विद्यते।

उपमीयेत तद्येन तस्मान्निरूपमं स्मृतम्।। (30)

लिङ्गप्रसिद्धेः प्रामाण्यमनुमानोपमानयोः।

अलिङ्गचाऽप्रसिद्धं चं तत्तेनानुपमं स्मृतम्।। (31)

सारे संसार में ऐसा कोई पदार्थ ही नहीं है जिससे मोक्ष सुख को उपमा दी जाय। अतः मोक्षसुख परम निरूपम है। लिंग और प्रसिद्धि में, अनुमान और उपमान में प्रामाण्य उत्पन्न होता है परन्तु यह सिद्धों का सुख न तो लिङ्ग से अनुमानित होता है और न किसी पदार्थ से उपमित होता है अतः यह सिद्धों का सुख अलिङ्ग एवं अप्रसिद्ध होने से निरूपम कहा है।

प्रत्यक्षं तद्भगवतामर्हतां तैश्च भाषितम्।

गृह्यतेऽस्तीत्यतः प्राज्ञैर्न छद्मस्थपरीक्षया।।(32)

वह सिद्धों का सुख भगवान् अरहन्त के प्रत्यक्ष है और सर्वज्ञ के द्वारा कथित है अतः हम छद्मस्थ जन उन्हीं के वचन प्रामाण्य से उनके अस्तित्व को जानते हैं

उनका अखण्ड स्वरूप सुख अल्पज्ञानी की परीक्षा का सर्वथा विषय नहीं हो सकता।

निराकुलं सुखं जीवशक्तिर्द्रव्योंपजीविनी।

तद्विरूद्धाकुलत्वं वै शक्तिस्तद्घातिकर्मणः।। (327) श्री पंचा

आकुलता रहित जीव की एक शक्ति का नाम सुख हैं वह सुख नाम की शक्ति द्रव्योपजीवी है। उसी की विरोधिनी आकुलता है, और वह व्याकुलता घातिया कर्मों की शक्ति है।

तत्राभिव्यञ्जको भावो वाच्यं दुःखमनीहितम्।

घातिकर्मोदबाघाताज्जीवदेशवधात्मकम्।। (339)

घातिया कर्मो के उदय के आघात से आत्मा के प्रदेशों का घात करने वाला जो कर्म है वही दुःख का सूचक है, अर्थात् घाति कर्म का उदय ही दुःखावह है।

अव्याप्ति कार्मणावस्थावस्थितेषु तथा सति।

देहेन्द्रियादिनोकर्मशून्यस्य तस्य दर्शनात्।। (343)

यदि शारीरिक और इन्द्रियजन्य ही दुःख माना जावे, और कोई दुःख (कर्मजन्य) न माना जावे तो जो जीव विग्रह गति में हैं, जहाँ केवल कार्माण अवस्था है, शरीर इन्द्रियादि(के कारण) नो कर्म नहीं हैं, वह दुःख है या नहीं ?

अस्ति चेत्कार्मणो देहस्तत्र कर्मकदम्बकः।

दुःखं तद्धेतुरित्यस्तु सिद्धं दुःखमनीहितम्।। (344)

यदि यह कहा जाय कि विग्रहगति में भी कर्म का समूह रूप कार्माण शरीर है इसलिये शरीर जन्य दुःख वहाँ भी है ? तो इस कथन से कर्मजन्य दुःख ही सिद्ध हुआ इसलिये कर्म ही दुःख देने वाला है यह बात भली भांति सिद्ध हो गयी।

असिद्धा न तथा शक्तिः कर्मणः फलदर्शनात्।

अन्यथाऽऽत्मतया शक्तेर्बाधकं कर्म तत्कथम्।। (328)

सुख गुण के अभाव में होने वाली जो आकुलता है, वह घातिया कर्मों की शक्ति है यह बात असिद्ध नहीं है, क्योंकि कर्मों का फल दिखता है। यदि वह कर्म-शक्ति नहीं है तो आत्मा की शक्ति का बाधक कर्म कैसे होता है ?

नमात्सिद्धं ततो दुःखं सर्वदेशप्रकम्पवत्।

आत्मनः कर्मबद्धस्य यावत्कर्मरसोदयात्।। (329)

इसलिये यह बात न्याय से सिद्ध हो चुकी है कि कर्म से बंधे हुए आत्मा के जब तक कर्मों का उदय हो रहा है तब तक उसके सम्पूर्ण प्रदेशों में कम्प (कंपाने वाला) करने वाला दुःख है।

देशतोस्त्यत्र दृष्टान्तो वारिधिर्वायुना हतः।

व्याकुलोऽव्याकुलः स्वस्थः स्वाधिकारप्रमत्तवान्।। (330)

यहाँ पर एक देश दृष्टान्त भी है-वायु से ताडित (प्रेरित) समुद्र व्याकुल होता है। जब वायु से रहित स्वाधिकारी समुद्र है तब व्याकुलता रहित है, स्वस्थ है।

अपि सिद्धं सुखं न नाम यदनाकुललक्षणम्।

सिद्धत्वादपि नोकर्मविप्रमुक्तौ चिदात्मनः।। (345) श्री पंचाध्यायी

तथा यह बात भी सिद्ध हो चुकी कि सुख वही है जो अनाकुल लक्षण वाला है, और वह निराकुल सुख इस जीवात्मा के कर्म और नोकर्म के छूट जाने पर (सिद्धावस्था में) होता है। (यहां पर नो कर्म शब्द से कर्म और नो कर्म दोनों का ग्रहण है।)

अध्याय III

हे माँ! जिनवाणी हमारी रक्षा करो सबको शिक्षा दो

''धार्मिक विकृतियों को दूर करने हेतु मां जिनवाणी से प्रार्थना''

(तर्ज- (प्रभु नेमि बता जाना....)

जिनवाणी हमें बतला, सच्चा धर्म रूप सदा, यथा सर्वज्ञ ने जाना।
द्रव्य क्षेत्र काल भाव से...निश्चय व्यवहार से, यथा गुरुओं ने माना।।...
उत्सर्ग उपवाद से...वय रोग शक्ति दृष्टि से, यथा मूल न लोप हुए।
यथा माता गुरु कहते...तथाहि हमें बतला सापेक्ष दृष्टि कोण से।।(1)
तुमसे हमने सीखा...सत्य, साम्य, शांति, धर्म, यथा प्रभु ने माना।
अभी तो धर्म क्षेत्र में भी...इससे विपरीत पाया, प्रायोगिक जीवन में।।(2)
तुमने तो सत्य कहा..., रत्नत्रय है आत्म धर्म, व्यवहार निश्चय से।
अभी तो यह पाया है...सत्ता सम्पत्ति प्रसिद्धि ही प्राप्त उपभोग धर्म।।(3)
अनेकान्त समन्वय ही..., व्यक्ति समाज दृष्टि से, शान्ति, एकता का मार्ग है।
परन्तु मैंने तो पाया..., एकांत विघटन है, समाज व संघों में।।(4)
तुमसे हमने सीखा...समता व निस्पृहता श्रमणों की सच्ची साधना
किन्तु हमने जो पाया अभी...सच्चे साधु की उपेक्षा, धन, नाम, साधु पूजा।।(5)
त्याग वैराग्य मौन गया...तृष्णा दिखावा चपलता मनोरंजन फूहड़ता।
विज्ञापन प्रसिद्धि बोली...खाना पीना मजा मस्ती धर्म के नाम चला।।(6)
ध्यान-अध्ययन लोप हुआ...साधु से समाज चाहे, धन-जन व मनोरंजन।
जो साधु इसके दाता...वह ही साधु-महात्मा,, अन्यथा नहीं है अच्छा।।(7)
हे जिनवाणी मेरी माता...तुम ही करो रक्षा अन्यथा नहीं है सुरक्षा।
''कनकनन्दी' की है इच्छा सबको दो सत् शिक्षा, अन्यथा है बड़ी दुर्दशा।।(8)

विश्व के हर कण से ज्ञान मिलता (ज्ञान-ज्ञेय-मीमांसा)

(शकुन-स्वप्न-शरीर (सामुद्रिक लक्षण) ज्ञान से लेकर अनन्तज्ञान तक ज्ञान-ज्ञेय सम्बन्ध)

(तर्जः 1. वन्देमातरम्...2. अच्छा सिला)

विश्व के हर कण से ज्ञान मिलता, योग्य जीव को ही ज्ञान मिलता।

अयोग्य ज्ञान न लेता दिव्यध्वनि से, पात्रता के अनुसार ज्ञान मिलता।। (1)

ज्ञेय प्रमाण ज्ञान कहा आगम, प्रमेयत्व गुण से होता है ज्ञान।
ज्ञान-ज्ञेय सम्बन्ध इसे कहते, वाच्य-वाचक सम्बन्ध समान होते।। (2)

ज्ञान-गुण आत्मा में जब होता प्रगट, ज्ञेय वस्तु का ज्ञान होता प्रगट।
स्वच्छता गुण जब प्रगट होता, दर्पण में प्रतिबिम्ब तब पड़ता।। (3)

क्षयोपशम से प्रारंभ (लेकर) क्षय पर्यन्त, ज्ञानावरण कर्म का होता विशेष।
वीर्यान्तराय कर्म का तथाहि जानो, ज्ञान प्राप्ति के प्रमुख कारण मानो।। (4)

छद्मस्थ योग्य बाह्य कारण होना चाहिए, इन्द्रिय मन प्रकाश होना चाहिए।
योग्य गुरु सहयोगी होना चाहिए, सर्वज्ञ के लिए यह नहीं चाहिए।। (5)

कार्य-कारण सम्बन्ध से ज्ञान भी होता, उपादान-निमित्त से तथा ही होता।
क्रिया-प्रतिक्रिया से ज्ञान भी होता, कर्मजन्य भावों से ज्ञान भी होता।। (6)

गुण द्रव्य पर्याय से ज्ञान भी होता, उत्पाद-व्यय-धौव्य से ज्ञान भी होता।
प्रमाण-नय-निक्षेप से ज्ञान भी होता अनेकान्त सापेक्ष (स्याद्वाद) से ज्ञान भी होता।। (7)

अष्टांग निमित्तों से भी ज्ञान होता ज्ञान/(बुद्धि) ऋद्धि से भी विशिष्ट होता।
मति श्रुत अवधि से ज्ञान भी होता, मनः पर्यय से मन-विज्ञान होता।।(8)
केवलज्ञान होता आत्मिक (आध्यात्मिक) ज्ञान, अक्षय-अनन्त-सर्वज्ञ ज्ञान।
त्रिकालवर्ती सर्व होता विज्ञान, बाह्य निमित्त बिन आत्मोत्थ ज्ञान।। (9)

ज्ञान-ज्ञेय सम्बन्ध होता सर्वत्र, अन्यान्य सम्बन्ध जानो सर्वत्र।
ज्ञान हो तो ज्ञेय होगा ज्ञेय तो ज्ञान, परस्पर सम्बन्ध है यह विधान।। (10)

ज्ञान स्व-पर प्रकाशी दीप समान, ज्ञान स्वयं ज्ञेय तथा जानो है ज्ञान।
ज्ञान-ज्ञेय अवस्था में चेतन ज्ञान, ज्ञेय अचेतन या जानो चेतन।। (11)

चेतन(या) अचेतन को जानता ज्ञान, अचेतन ज्ञेय सदा न होता ज्ञान।
चेतन जीव ही ज्ञान-ज्ञेय होता है, अचेतन द्रव्य सदा ज्ञेय होता है।। (12)

प्रतिबिम्ब यथा पडे दर्पण मध्ये, योग्य द्रव्य का योग्य क्षेत्र सम्बन्धे।
तथाहि ज्ञान-ज्ञेय होता सम्बन्ध, योग्य-ज्ञान-ज्ञेय में यह सम्बन्ध।। (13)

अतएव ज्ञान को करो विकास, स्वयं ज्ञेय ज्ञात होगा सत्य अशेष।
ज्ञान विकास हेतु एकाग्रमन, स्वाध्याय मनन व पावन ध्यान।। (14)

सत्यग्राही सनम्र व निर्मल मन, सहज सरल व शान्त हो मन।
ईहा आवाय धारणा युक्त हो ज्ञान, सूक्ष्म अनुभव से बढ़ेगा ज्ञान।। (15)

तनाव दुश्चिन्ता प्रमाद त्याग, सतत अभ्यास का हो प्रयोग।
जिसी से ज्ञान-ज्ञेय सहज होता, इसी हेतु 'कनक' तो सजग सदा।। (16)

जिनवाणी सेवन की महिमा/फल

(तर्ज: धन्य हमारे भाग्य/(भाव) जगे हैं...)
धन्य हमारे भाग्य/(भाव) जगे हैं
जिनवाणी का मनन/(पठन लेखन) करे हैं। (टेक)
जिनवाणी का पय जो पीये हैं।
जिनवाणी का प्रचार करे हैं।
जिनवाणी का श्रवण/सेवन करे हैं।
छोड़के पंथ मत संकीर्ण परम्परा, स्व-पर हित हेतु ग्रहण करे(हैं)।
ख्याति पूजा लाभ अहं को त्यागकर, विश्व हित हेतु प्रचार करे (हैं)।। (1)

अनेकान्त से हमने सीखा है, छोड़ो संकीर्ण बनो उदार।
स्याद्वाद से हमने सीखा है, हितमित प्रिय का करो उच्चार।। (2) धन्य

गुणस्थानों से हमने सीखा है, आत्म विकास आत्मिक सार।
षोडषभावना से हमने सीखा है, विश्व कल्याण की भावना सार।। (4) धन्य

द्वादश अनुप्रेक्षा हमें सीखाती है, विश्व विचित्र अपरम्पार।
षटलेश्या भी हमें सीखाती है, भाव के अनुसार होता आचार।। (5) धन्य

दशधर्म भी हमें सीखाते है, वैश्विक धर्म सर्व सार।
पंचसमिति भी हमें सीखाती है, जीवन जीने की कला सार।। (6) धन्य

सत्य में समस्त ब्रह्माण्ड गर्भित, जीव-अजीव मूर्त-अमूर्त।
समता में सर्व समावेश होता है, धर्म व चारित्र नियमसार।। (7) धन्य

शान्ति में गर्भित धर्म का फल है, शान्ति इच्छुक जीव सकल।
शान्ति प्राप्ति हेतु जिनवाणी सेवन, मैं करता हूँ निशि व दिन।। (8) धन्य

जो श्रद्धा से जिनवाणी सुने है, निकट भव्य (वह) होता सुजान।
स्वाध्याय करना परम तप है, असंख्य पापों का होता हनन।। (9) धन्य

विश्वविज्ञान का कोष जिनवाणी, लोक-अलोक करे प्रकाश।
भाग्यहीन वह मानव होता है, जो जिनवाणी का न करे सेवन।। (10) धन्य

जिनवाणी का जो सेवन करे हैं, साक्षात् जिनेन्द्र करे सेवन।
जन्मजरा मृत्यु अघ हरे वह, जो ज्ञानामृत करे सेवन।। (11) धन्य हमारे...

मेरा आह्वान है विश्व मानवों को, जिनवाणी का करो सेवन।
'कनकनन्दी' तो प्रयासरत है, जिनवाणी से हो विश्व कल्याण।। (12) धन्य

असम्यक्-सम्यक एवं सम्पूर्ण ज्ञान के उपाय

(राग: छोटी-छोटी गैया...झूमती चली हवा...)

जो जैसा दिखे वैसा होता भी नहीं, दिखने सुनने में पूर्ण सत्य भी नहीं।
आकाश नीला दिखे तथा कहते, आकाश तो अरूपी/(अमूर्तिक) सर्वज्ञ जानते।।1
अल्पज्ञ परम सत्य नहीं जानता, सभी-द्वेषी मोही तो विपरीत जानता।
स्वार्थ व कुभाव (ना) से विपरीत कहता, श्रोता भी उसमें कुछ त्रुटि करता।।2।।
दूर से वायुयान छोटा दिखता, मृग-मरीचिका जलसम दिखता।
गतिशील पाँखुडी नहीं दिखती, दूर से रेलपटरी नेरो दिखती।। 3।।
भावानुसार ध्वनि सुनाई देती, भावानुसार वाक्य से अर्थ निष्पति।
दिव्यध्वनि पशु नर देव सुनते, स्व-स्व योग्यता से उसे जानते।। 4।।
दिखने से भी अधिक सुनना सत्य, दिव्यध्वनि से ज्ञात अधिक सत्य।
''सुनो अन्य की करो मन की'' अपूर्ण सत्य आप्त अनुसार करना सम्पूर्ण सत्य।।
अल्पज्ञों को पाँचो द्रव्य दिखते नहीं, चाक्षुष भौतिक कुछ दिखते सही।

सूक्ष्म-ध्वनि सुनना भी सम्भव नहीं, मन द्वारा सर्वज्ञान होता भी नहीं।। 6।।
परम सत्य जानना सहज नहीं, सर्वज्ञ ज्ञानगम्य अन्यथा नहीं।
अनेकान्त से सम्यक् ज्ञान भी होता, स्याद्वाद से ही सम्यक् कथन होता।। 7।।
ध्यान अध्ययन परीक्षण निरीक्षण, मनन-चिन्तन तथा प्रयोगकरण।
तर्क अनुभव तथा आप्त वचन, इत्यादि के द्वारा होता सत्य का ज्ञान।। 8।।
सत्यज्ञान अनुसार करो आचरण, जिससे होवेगा आत्मिक ज्ञान।
जिससे आत्मिक आनन्द मिले हैं, 'कनक' इसी हेतु प्रयत्नशील है।। 9।।

सर्वोदय के विभिन्न ज्ञाता-प्रवक्ता एवं कार्यकर्ता

(राग :- नरेन्द्र राग...)
सर्वोदय के हुए विविध प्रवक्ता...प्राचीन काल से अभी तक के।
विभिन्न क्षेत्र व काल खण्ड के उनका योगदान बहुत/(बहुविध) हुए।(1)

आदि तीर्थकर 'ऋभषदेव'...प्रजाहित हेतु षट्कर्म कहा।
असि मसि कृषि वाणिज्य...शिल्प सेवा का उपदेश दिया।। (2)

ऋषभदेव से पहले भी कुछ...'कुलंकर-मनु' भी चौदह हुए।
भोगभूमि के आर्य के बाद...दुःखित प्रजा का उपकार किये।।(3)

भोगभुमि के 'आर्य' लोग तो...चौसठ कला से सहित थे।
अक्षर चित्र गणित शिल्प व ...संगीत कला में निपुण थे।। (4)

इनका यह ज्ञान था स्वाभाविक...पूर्व कर्म संस्कार से सहज था।
भोगभूमि के अन्त तक यह ज्ञान...धीरे-धीरे लोप होता गया।। (5)

कर्मभूमि के प्रारम्भ पहले तथा...भोगभूमि के अन्तकाल में।
पुण्यकर्मजन्य संस्कारहीन से...ज्ञानहीन होता गया अन्त में।। (6)

जिससे वे सब संत्रस्त हुए...उसी काल की समस्या से।
समस्याओं के समाधान हुए...उसी काल के मनुओं से।। (7)

ग्रहों का ज्ञान 'प्रतिश्रुति' ने दिया...तारों का ज्ञान, 'सन्मति' मनु ने।
पशुपालन 'क्षेमंकर' ने सिखाया...पशु से सुरक्षा 'क्षेमधर' ने।। (8)

सीमा निर्धारक 'सीमंकर' हुए...कल्पवृक्षों की सीमाएँ बन्धी।
सीमा चिह्नित 'सीमन्धर' ने किया...कलह निवारण हेतु ये किया।। (9)

पशु सवारी के हुए उपदेशक...'विमलवाहन' नामक कुलंकर।
सन्तान को बताने वाले हुए...'चक्षुष्मान' नामक कुलंकर।। (10)

आशीर्वाद उपदेशक 'यशस्वान' हुए...चन्द्रदर्शक 'अभिचन्द्र' हुए।
जन आल्हादक 'चन्द्राभ' हुए...नौका उपदेशक 'मरूदेव' हुए।। (11)

'प्रसेनजित' हुए जरायु शोधक...नाभिकर्तक हुए 'नाभिराय'।
दोष निवारक व दण्ड विधायक...हुए वे कुलंकर आद्यप्रवर्तक।। (12)

कुलंकर अनन्तर आदिनाथ हुए...नाभिराय के जो पुत्र महान्।
सर्वोदय के श्रेष्ठतम प्रवक्ता...लौकिक-आध्यात्मिक दोनों निदान।। (13)

जीवन निर्माण से निर्वाण तक...समस्त विद्या का किया उपदेश।
रत्नत्रयरूपी मोक्षमार्ग द्वारा...गुणस्थान-अपेक्षा किया निर्देश।। (14)

उनके शत पुत्र दो पुत्रियाँ हुई...जिनसे अंकाक्षर विधाएँ हुई।
राजनीति से धर्मनीति तक...अनेक विद्यायें/(विधाएँ) प्रारम्भ हुई।। (15)

तथाहि और भी तेईस तीर्थंकर...गणधर आचार्य पाठक हुए।
साधु महात्मा तथा गौतम बुद्ध...लेखक चिन्तक ऋषि मुनि भी हुए।। (16)

रामकृष्ण व्यास याज्ञवल्क्य ऋषि...वाल्मिकि कणाद कपिल हुए।
चरक सुश्रुत वाक् भट्टाचार्य...पतञ्जलि अष्टावक्र भी हुए।। (17)

विदेशों में भी हुए दार्शनिक...सुकरात पाइथागोरस प्लेटो।
अरस्तु कन्फ्यूशियस ईसा मसीह...लोयेत्से से लेकर कार्ल-मार्क्स।। (18)

तथाहि राजनेता अनेक हुए...देश विदेशों में गुणी महान्।
वाशिंगटन व अब्राहम लिंकन...लाल बाल पाल गाँधी महान्।। (19)

नेताजी सुभाष विनोबा भावे...भगतसिंह व चन्द्रशेखर।
नेल्सन मण्डेला मार्टिन लूथर (किंग)...बर्नाडशॉ रस्किन टालस्टाय।। (20)

सेवा (क्षेत्र) में नाईटिंगल मदर टेरेसा...रॉटरी व लायन्स क्लब।
रेडक्रॉस या एम्बुलेन्स तथा...यूनिसेफ नारायण (सेवा) संस्था।। (21)

संयुक्त राष्ट्र संघ पर्यावरण सुरक्षा...मानवाधिकार पशुरक्षा संस्था।
विश्वधर्म संसद एन.सी.सी. संस्था...धर्मार्थ संस्था से होता ये काम।। (22)

वैज्ञानिक लेखक कवि चिन्तक आदि...समाजसेवक जन करते काम।
'कनकनन्दी' भी सदा प्रयासरत...शिष्य-भक्तों के द्वारा करते काम।। (23)

अनेकान्त-स्याद्वाद का स्वरूप

सर्वोदयी-विश्वशान्तिकर अनेकान्त एवं स्याद्वाद

(राग: 1. रघुपति राघव..., 2. यमुना किनारे..., 3 सायोनारा...)

अनेकान्त सिखाता है व्यापक बनो...(हर) गुण-पर्यायों की सूक्ष्मता जानो
स्याद्वाद सिखाता है सत्यवादी बनो...हित-मित-प्रिय सत्य बखानो
हर द्रव्य में होते अनन्त गुण...अतएव हर द्रव्य अनेकान्त पूर्ण।
तथा ही हर कार्य अनेकान्तमय...अनेक कारणों से होता कार्यमय/(तन्मय)
(हर) प्रदेश आकाश के होती अनेक दिशा...चार या दश भी होती है दिशा।
तथा ही अणु की (भी) होती दश दिशा...अविभागी अणु की होती दश दिशा
अनन्त आकाश की (भी) होती दश दिशा...विश्वगुरु अनेकान्त देता यह शिक्षा।
एक जीव में होते अनन्त गुण...अतएव एक जीव अनन्त भिन्न।।
अनन्त सिद्ध एक समान होते...समान अपेक्षा एक भी होते।
अपेक्षा से बारह भेद भी होते...क्षेत्र काल गति लिंगादि से होते।।
संसारी-मुक्त भी नहीं है भिन्न...शुद्ध नय द्रव्य अपेक्षा प्रमाण।
कर्म अपेक्षा अनन्त भिन्न...मार्गणा गुणस्थान अपेक्षा विभिन्न।
ऐसा ही हर द्रव्य-गुणों में मानो...संकीर्ण दुराग्रह भाव को हनो।
ताना-बाना मय यथा होता है वस्त्र...तथा ही हर कार्य द्रव्य अशेष।।
अनेकान्त से होता व्यापक ज्ञान..उदार सहिष्णु निष्पक्ष ज्ञान।
जिससे भाव भी होता तन्मय...आचरण भी होता तथा तन्मय।।
अनेकान्त की अभिव्यक्ति स्याद्वाद...सप्तभंग मय होता स्याद्वाद/(विभेद)।
अस्ति-नास्ति आदि सापेक्ष कथन...शेष धर्मों का न करे हनन।।

जीव स्वापेक्षा है अस्तित्ववान्...अजीव अपेक्षा होता नास्तित्ववान्।
दोनों कथन में नहीं विरोध...एकान्तवाद में होता विरोध।।
दश दिशायें न विरोध करती...एक/(हर) स्थान में दशों ही होती।
द्रव्य में अनन्त गुण रहते...विरोधी गुण भी साथ रहते।।
अनन्त गुणों के कथन निमित्त...स्याद्वाद बनता है अनन्त।
अनेकान्त है वैश्विक रूप...भाव-अहिंसामय वस्तु स्वरूप।।
दिव्य सन्देश यह तीर्थंकरों का ...विश्व कल्याण व सर्वोदय का।
विनाशक यह सर्व द्वन्द्वों का...अमोघ उपाय प्रेम-शान्ति का।।
इसके बिना न सम्यक् होता...व्यवहार या न निश्चय होता।
न होता ज्ञान-आचरण सम्यक्...दृष्टिकोण न होता सम्यक्।।
आइन्स्टीन का हुआ योगदान...सापेक्ष-सिद्धान्त माना विज्ञान।
जिससे विज्ञान का हुआ विकास...वैश्विक मान्यता मिली विशेष।।
सदा सर्वदा सर्व स्मरणीय...सदा सर्वदा सर्व आचरणीय।
कथनीय लेखनीय वन्दनीय...'कनक' द्वारा सदा सेवनीय।।

बुद्धि बढ़ाने के सरल उपाय

(चालःछोटी-छोटी गैया...., शत-शत वंदन....)

बुद्धि बढ़ाने के विभिन्न उपाय, अध्ययन-मनन-चिन्तन-ध्यान।
जिज्ञासु प्रवृत्ति परीक्षण-निरीक्षण, भ्रमण-प्राणायाम-व्यायाम-विश्राम।।
शुद्ध सात्विक शाकाहार भोजन, गौ दूध घी अखरोट बादाम।
केला नारियल अँगूर सेव, ब्राह्मी सेवन व बादाम तेल मर्दन।। (1)

एकाग्रता निराकुल-शांत जीवन, सक्रिय-व्यवस्थित सादा जीवन।
महान् लक्ष्य सह पावन भाव युक्त, तनाव-दबाव अस्वस्थ प्रतिस्पर्द्धा रिक्त।।
नये-नये कार्य करता व सीखता, सभी इन्द्रिय मन सहित सीखना।
सही व गलत दोनों से सीखना, सीखते-सिखाते बुद्धि को बढ़ाना।। (2)

भोजन में भी गुण-दोष समझना, भक्षाभक्ष व पत्थ्यापत्थ्य समझना।
शुचिस्थान में शांति से भोजन करना, भोजन की शुचिता उपयोगिता समझना।।
नवीन-नवीन शब्द ज्ञान भी करना, पर्यायवाची शब्द-अर्थ को समझना।

संदर्भानुसार शब्दार्थ जानना, रूढ़ि-व्युत्पति-शिक्षा रहस्य जानना।। (3)

नवीन-नवीन विविध विषय/(साहित्य) को पढ़ना, एकाग्रता-शीघ्रता-शांति से पढ़ना।
दिमाग इसी से सक्रिय व सुग्राही बनेगा, आँख-दिमाग में तालमेल भी बढ़ेगा।।
नाना मानसिक नक्शा चित्र बनाना, घटना-रास्ता व कल्पना (का) बनाना।
इसी से न्यूरोन सक्रिय भी बनते, परस्पर संबंध भी खूब बनाते।। (4)

धार्मिक उपदेश सुनना-संगीत सुनना, परहित हेतु विचार भी करना।
ज्ञानदान, ज्ञानी की सेवा-संगति करना, प्राकृतिक वातावरण में भ्रमण करना।।
उत्तम भाव से प्रार्थना-प्रणाम करना, ईर्ष्या द्वेष घृणा कामातुर न होना।
फैशन-व्यसन व आडंबर न करना, बुद्धिवर्द्धक उपाय (ये) 'कनक' ने भी जाना/(माना)।। (5)

ज्ञान-दान एवं ज्ञानार्जन की सही पद्धति

(राग:छोटी-छोटी गैया....)

ज्ञानदान महादान सभी दानों में, अभय औषधि आहारदान मध्य में।
ज्ञानदानी ही होते महान् गुरु, अन्य दानदाता नहीं होते हैं गुरु।। (1)
आत्मज्ञान दाता होते आध्यात्म गुरु, अध्यात्म गुरु ही सच्चा होते हैं गुरु।
सत्य समता शान्ति की जीवन्त मूर्ति, ज्ञान दया निस्पृहता की साक्षात् मूर्ति।। (2)

आत्मज्ञान हेतु सत्यज्ञान होना चाहिए, सत्यज्ञान हेतु सर्वज्ञान होना चाहिए।
तत्त्वार्थ श्रद्धान से यह प्रारम्भ होता, तत्त्वार्थ में सर्वसत्य निहित होता।। (3)

जीव अजीव बन्ध मोक्ष शुभ अशुभ, मूर्तिक-अमूर्तिक व विशुद्ध भाव।
प्रकृति ब्रह्माण्ड का यथार्थ ज्ञान, होना चाहिए गणित सह विज्ञान।। (4)

इतिहास पुराण से प्राप्त शिक्षा, महान् पुरुषों की आदर्श गाथा।
नीति नियम सामाजिक विज्ञान, भूगोल खगोल का यथार्थ ज्ञान।। (5)

स्वास्थ्य विज्ञान व मनोविज्ञान, भौतिक रसायन प्राणी विज्ञान।
अनेकान्तमय समन्वय का ज्ञान, कर्म सिद्धान्त गुणस्थान का ज्ञान।। (6)

एकांगी ज्ञान से न होता विकास, रूढ़ि संकीर्णता में यदि होता विश्वास।
कट्टर दुराग्रही अविनयी दुर्जन, ज्ञानदान योग्य न होते वे जन।। (7)

अयोग्य को ज्ञानदान नहीं विधेय, सर्प को दुग्धपान नहीं विधेय।
गौ सम शिष्य होते ज्ञान के पात्र, 'कनकनन्दी' चाहे सदा सुपात्र।। (8)

''शिक्षा तेरी धारा है अजस्र''

(लौकिक शिक्षा से जीविका निर्वाह तो अलौकिक से निर्माण)

(राग: गंगा तेरा पानी अमृत...., आत्मशक्ति से ओतप्रोत....)
शिक्षा तेरी धारा अजस्र...सर्वत्र बहती जाये।
तेरे ही कारण मानव जाति...सबसे श्रेष्ठ कहाये।। ध्रु.।।
लौकिक तथा अलौकिक तेरी...बहती प्रमुख धारा।
लौकिक है दैहिक भौतिक...अलौकिक आत्मिक धारा।।
लौकिक से भी अधिक श्रेष्ठ...अलौकिक आत्मिक धारा।। (1)
लौकिक है भाषा गणित (मई)...कला वाणिज्य विज्ञान।
खगोल भूगोल रसायन भौतिक...इतिहास आयुर्वेद ज्ञान/(धारा)।
संगीत कला शिल्प उद्योग...यांत्रिक राजनीति ज्ञान।। (2)

इसीसे जीविका निर्वाह होता...भौतिक होता विकास।
सभ्यता का विकास होता...समाज होता विकास।
किन्तु इसी से आत्मतत्त्व/(मानव) का...नहीं होता विकास/(है निर्वाण)।।(3)

आत्मतत्त्व के विकास हेतु...धारा अलौकिक शिक्षा/(धारा)।
सत्य अहिंसा ब्रह्मचर्य व...अपरिग्रह की दीक्षा।
संयम तप आत्मानुशासन...ध्यान वैराग्य निष्ठा।। (4)

इसी से मानव महामानव से...बनता है परमात्मा।
इसे ही कहते सत्य शिव सुन्दर...मोक्ष निर्माण शुद्धात्मा।
यह ही जीव की परम अवस्था...जो है मुक्तावस्था।। (5)

''सा विद्या या विमुक्तये'' इसी से प्रसिद्ध हुआ।

''सा विद्या या भुक्तये'' अभी तो प्रसिद्ध हुआ।
इसी कारण मानव आज...अधिक संत्रस्त हुआ।। (6)

लौकिक परे अलौकिक शिक्षा...प्राप्त करो हे मानव!
जिससे तेरा सर्वोदय होगा...नहीं रहेगा तनाव।
इसी हेतु ही 'कनकनन्दी'...रची है शिक्षा का काव्य।। (7)

कुज्ञान-सुज्ञान-बहूज्ञान-अनन्तज्ञान

(अभी के मानव में नहीं है बहुत सुज्ञान व अनन्तज्ञान)

चालः अच्छा सिला दिया...

ज्ञान-स्वभाव जीव अनादि से, जो चेतनमय होते है।
अनन्त ज्ञानमय हर जीव है, ज्ञान से अभाव न होते है।। (1)

अनन्त जीव होते विश्व में, अनन्त कर्म से आवृत्त है।
जिससे अनन्त ज्ञान न होता प्रगट, क्षयोपशमानुसार होता प्रगट।। (2)

घाती कर्म से आवृत्त जीव, होता है मोही व कुज्ञानी।
ज्ञानावरण से होते अल्पज्ञानी, इसके क्षयोपशम से बहुज्ञानी।
मोह कर्म का यदि होता उदय, बहुज्ञानी भी होते कुज्ञानी।। (4)

ऐसे कुज्ञानी भी करते बहु काम, करते हैं बहुत नवनिर्माण।
अस्त्र-शस्त्र, विष, यंत्र बनाते, जिससे करते जीव-हनन।। (5)

अनादि कालीन व कुसंस्कार, होता है ऐसा कुज्ञान।
यथा पशु-पक्षी कीट पतंग में, होते यथायोग्य विशेष ज्ञान।। (6)

आक्रमण युद्ध व हत्या करते, करते दूसरों को भी गुलाम।
अन्याय अत्याचार व भ्रष्टाचार, करते मिलावट व शोषण।। (7)

फैशन-व्यसन पंच पाप करते, ईर्ष्या द्वेष घृणा व करते विद्वेष।
वैर-विरोध व विप्लव करते, कुतर्क व धूर्त पाखण्ड करते।। (8)

यथा रावण कंस व हिटलर, तानाशाही आतंकवादी क्रूर।
नहीं होते है सुज्ञानी विवेकी, स्व-पर-उपकारी प्राज्ञ नर।। (9)

अभी के अधिकांश मानव भी, होते हैं, स्वार्थी धूर्त व क्रूर।
नहीं होते हैं दयालु प्राज्ञ, आत्म-परमात्म के न होते तज्ञ।। (10)

पूर्व काल में अनेक मानव, होते थे सुज्ञानी व प्रचुर ज्ञानी।
मति श्रुत अवधि व मनःपर्यय, तथाहि होते थे केवलज्ञानी।। (11)

संख्यात असंख्यात व अनन्तज्ञानी, होते थे चतुर्थकाल में भी।
संख्यातज्ञानी ही अभी के होते, असंख्य अनन्त के नहीं होते।। (12)

कुछ पशु-पक्षी भी पूर्वकाल में, होते थे सुज्ञानी व तीनज्ञानी।
आत्मा-परमात्म्र को भी जानते थे, होते थे मतिश्रुत अवधिज्ञानी।।(13)

अभी होते हैं अधिक कुज्ञानी, नहीं होते अवधि मनःपर्यय भी।
केवलज्ञान तो संभव नहीं, भले होवे वे आचार्य व विज्ञानी।। (14)

आत्मज्ञान बिन सभी ज्ञान भी, होते हैं कुज्ञानी व अल्पज्ञानी।
आत्मज्ञान से अनन्तज्ञान हेतु, ''कनक'' प्रयास करे मोक्ष हेतु।। (15)

सप्त तत्त्व चिन्तन

(चालः श्री सिद्ध चक्र का पाठ....) रचयिता डॉ. अग्रवाल

सात तत्त्व का पाठ करो नित याद, ध्यान से प्राणी, यह कहती है जिनवाणी।
मैं त्रिकाली ध्रुव एक जीव तत्त्व, मुझमें नहीं है अजीव तत्त्व।
नहीं करो राग अरू द्वेष, जो अति दुःखदानी, यह कहती है जिनवाणी।।(1)

शुभ बंध के फल में ना फूलो, भाई अशुभ बंध में न झूलो।
बस रहो स्वयं में लीन, जो सुख की खानी, यह कहती है जिनवाणी।। (2)

पर का अवलंबन तुम छोड़ो, विषयों से नाता तुम तोड़ो।
इस तप से बनती आत्मा सिद्ध समानी, यह कहती है जिनवाणी।।(3)

माता जिनवाणी के निश्चय व्यवहार प्रतीक स्वरूप

(रागः झिलमिल सितारों का....नरेन्द्र, छन्छ....)

जिनवाणी माता के विविध रूप....निश्चय-व्यवहार प्रतीक स्वरूप।
जिनेन्द्रवाणी है माँ जिनवाणी...अनेकान्तमय स्याद्वाद वाणी।। ध्रु.।।

अनादि अनंत भी माँ जिनवाणी...अनादि अनंत जिनों की वाणी।
सर्वज्ञ कथित है सर्वज्ञानमयी...सर्वभाषारूपा अनेकान्तमयी।।
अनिबद्धारूपा दिव्यध्वनिरूपा...भाषा-अभाषा-सर्वभाषामयी।
श्रोतानुसार होती परिवर्तनमयी...मनुष्य तिर्यंच देव भाषामयी।। (1)

निबद्धारूपा होती (है) गणधर रचिता....ग्यारह अंग चौदह पूर्व स्वरूप।
अथवा चार अनुयोग स्वरूपा...संख्यात असंख्य अनंत स्वरूप।।
तदनुकूल आचार्य रचित रूपा...गद्य व पद्य सूत्र स्वरूपा।
चूर्णी भाष्य व वार्तिक रूपा...टीका अनुवाद मीमांसा रूपा।। (2)

भोज ताड ताम्र पत्र लिखिता...शिला फलक कागज लिखिता।
कम्प्यूटर सी.डी. टेप लिखिता...हस्त प्रेस या यंत्र लिखिता।।
जिनेन्द्र प्रतिमा सम प्रतीक रूपा...रूपकमयी सिद्ध प्रतिमा रूपा।। (3)

चतुर्भुज है चार अंग स्वरूपा...शुक्लवर्णा है पावन रूपा।
वीणा प्रतीक सप्त भंग स्वरूपा...हंस प्रतीक भेद-विज्ञानरूपा।।
ज्ञानपयदायिनी सरस्वतीमाता...जिनवाणी दिव्यध्वनिगात्रा।
मोक्ष उपादेय मार्गदर्शिका....'कनकनन्दी' के ध्येय दर्शिका।। (4)

विभिन्न-विषय ज्ञान से विविध लाभ

(राग:छोटी-छोटी गैया..., यमुना किनारे....)

बहुविध/(विभिन्न विषय) ज्ञान से नाना/(बहु) लाभ होता है, चिंतन का क्षेत्र बड़ा होता है।
समन्वय समीक्षा की शक्तिआती है, विचार विनिमय की युक्ति आती है।।
बहुविध भाषा का ज्ञान होने से, बहुविध संस्कृति का ज्ञान भी होता है।
भाव विनिमय सरल होता है, प्रेम संगठन की वृद्धि होती है।।
अज्ञान अंधकार दूर होता है, हठाग्रह-दुराग्रह दूर होता है।
संकीर्णता-जड़ता दूर होती है, उदारता-व्यापकता की वृद्धि होती है।
उत्तरोत्तर-जब ज्ञान होता है, पूर्व की अज्ञानता का भान होता है।
अंधकार प्रकाश से यथा मिटता...ज्ञान बढ़ने से अज्ञान मिटता।।

दुर्विदग्ध अल्पज्ञानी घमण्डी होते, हठग्राही संकीर्ण व कुतर्की होते।
हिताहित विवेक से रहित होते, स्व-पर अहितकारी काम करते।।
ज्ञान से अनुभव जब बढ़ता कूपमण्डुकता का ज्ञान भी होता।
स्व-अज्ञानता का नाश भी होता, ज्ञानार्जन हेतु भाव बढ़ता।।
नीति सदाचार का ज्ञान होने से, नैतिक सदाचारी जीव बनता।
आयुर्वेद ऋतुओं का ज्ञान होने से, स्वास्थ्य रक्षा नियम भी सही पलते।।
सभ्यता संस्कृति का ज्ञान होने से, सुसभ्य सांस्कृतिक जीव बनते।
जिससे समाज राष्ट्र श्रेष्ठ बनते, विविध प्रकार के विकास होते।।
पर्यावरण व अहिंसा के ज्ञान से, पर्यावरण-जीवों की सुरक्षा होती।
जिससे तन-मन स्वस्थ्य भी होते, विश्व में विविध विकास होते।।
आध्यात्मिक ज्ञान तो महान् ज्ञान, जिससे जीवन होता महान्।।
मानव इसी से महामानव होता, इसी से ही अमृत तत्त्व को पाता।।
बहुविध ज्ञान अतः करो हे! मानव, सदुपयोग से बनो महामानव।
दुरुपयोग ज्ञान का कभी न करो,'कनकनन्दी' का मत/(राय)स्वीकार करो।।

स्वात्माभिमुख सवित्तिः है श्रुतज्ञान

(सुनना या केवल श्रुत पढ़ना नहीं है श्रुतज्ञान)

(रागः रघुपति राघव...., सायोनारा....)

श्रवण ज्ञान ही नहीं श्रुतज्ञान ...श्रुत पढना ही नहीं श्रुतज्ञान।
यह तो मतिज्ञान होता नियम से... मतिपूर्वक होता है श्रुतज्ञान।। ध्रु.।।
स्मृति ज्ञान भी नहीं (है) श्रुतज्ञान...अनुमान तर्क भी नहीं श्रुतज्ञान।
आवाय धारणा भी नहीं श्रुतज्ञान...'स्वात्माभिमुख संवित्ति' होता श्रुतज्ञान।।
वाचना पूछना आदि धर्मोपदेश...अंतरंग तप ये होता विशेष।
आत्म-संवित्ति युक्त अंतरंग तप है...आत्म-संवित्ति रिक्त पठन मात्र है।। (1)
स्व-अध्ययन ही होता स्वाध्याय...स्व-आत्म-स्वभाव का होता स्वाध्याय।
स्व-आत्मरूप का चिन्तन ध्यान है... यथार्थ से होता सुश्रुत ज्ञान है।।
आत्महित प्राप्ति व अहित परिहार...ज्ञान दाता ध्यान ध्येय पुरस्सर।
आत्म विशुद्धि हेतु भावना जो होती...यह है श्रुतज्ञान की सही पद्धति।। (2)

स्वात्माभिमुख बिना जो होता श्रुतज्ञान...वह है मतिज्ञान आगम प्रमाण।
केवल पढ़ना जो श्रुत का होता...द्रव्यश्रुत उसे आगम कहता।।
सम्यक्त्व बिना जो श्रुतज्ञान होता...वह कुश्रुतज्ञान आगम कहता।
इसी से राग-द्वेष दूर न होते...घोराति मोही के संक्लेश बढ़ते।। (3)
स्वाध्याय सहित सुश्रुतज्ञान है...शम(व) समता को बढ़ाने वाला है।
आत्मा-अनात्म को जानने वाला है...भेद विज्ञान को बढ़ाने वाला है।
संवर-निर्जरा मोक्ष के दाता है.... 'कनकनन्दी' तो इसे चाहता है।। (4)

स्वाध्याय का स्वरूप एवं फल

श्री गुरु चरण मूल-ग्रंथ स्वाध्याय काले।
सत्य/(तत्त्व) ज्ञान प्राप्ति-मिथ्यात्व टले।। श्री गुरु।। (टेक)
अज्ञान तमस छटे-ज्ञान ज्योति सुप्रकाशे।
हेय उपादेय ज्ञेय-सर्व/(सत्/सभी) प्रकाशे।। सत्य ज्ञान...।। (1)

राग द्वेष मोह हेय-अतएव त्यजनीय।
ज्ञानानन्द उपादेय-सर्वथा ग्राह्य। सत्य ज्ञान...।।(2)

सर्व द्रव्य होते ज्ञेय-जीव अजीवादि मय।
सप्त तत्त्व समन्वय-पदार्थ ज्ञेय।सत्य ज्ञान...।। (3)

परम तप स्वाध्याय-संयत मन इन्द्रिय।
असंख्य कर्म निर्जरा-स्वाध्याये ज्ञेय।। ग्रंथ स्वाध्याय...।। (4)

कषायों के उपशमे-समता शांति संयमे।
आरम्भ भोग विहीने-आनन्द झरे।। ग्रंथ स्वाध्याय...।। (5)

पुण्य बंध सातिशय-ज्ञानानन्द उपादेय।
अंत मोक्ष प्राप्ति ज्ञेय 'कनकनन्दी' के ध्येय। ग्रंथ स्वाध्याय...।। (6)

स्वाध्याय का स्वरूप-विषय एवं फल

(तर्ज :नगरी-नगरी...)
बड़ा सुख होता, आनंद आता, गुरुवर से ज्ञान जो होता।

मध्याह्न प्रातः होता स्वाध्याय, गुरुवर से ज्ञान जो पाता।
वाचना, पृच्छना, समाधान गुरुवर से ज्ञान जो पाता।
मनन, चिन्तन, अनुप्रेक्षा होता हर विधा का ज्ञान जो होता।। बड़ा सुख...
प्रथमानुयोग से गुरुवर हमें, प्राचीन इतिहास का ज्ञान देते।
प्राचीन शिक्षा संस्कार नीति, संस्कृति, सभ्यता भी देते।। बड़ा सुख...
समाज शास्त्र, राजनीति ज्ञान, कानून कला वास्तु देते।
युद्ध विग्रह समाधान ज्ञान, स्वप्न शकुन का पाठ पढ़ाते।। बड़ा सुख
ज्ञान-विज्ञान यांत्रिक ज्ञान, देश-विदेश का ज्ञान देते।
नदी-पर्वत ग्राम नगर, प्रकृति प्रेम का पाठ पढ़ाते।। बड़ा सुख...
करणानुयोग है गहन ज्ञान, गणित द्वारा ही पाठ पढ़ाते।
लौकिक गणित सामान्य ज्ञान, अलौकिक भी जो बतलाते।। बड़ा सुख
परमाणु से है प्रारम्भ होता, ब्रह्माण्ड तक का मापन होता।
सूर्य, चन्द्र,ग्रह, नक्षत्र आदि, ब्रह्माण्डीय ज्ञान हमें भी होता।। बड़ा सुख...
ब्रह्माण्डीय काल गणना आदि, कर्म प्रकृति की गणना होती।
ब्रह्माण्डीय जीव अजीव आदि, समस्त द्रव्यों की गणना होती।। बड़ा सुख...
चरणानुयोग से हमें सिखाते, सदाचार का पाठ पढ़ाते।
प्रथम भेद है श्रावकाचार गृहस्थ संबंधी नीति सिखाते।। बड़ा सुख...
पंचाणुव्रत में हमें सिखाते, भ्रष्टाचार से हमें बचाते।
सप्त व्यसन का त्याग दिलाते, अष्टमूलगुण हमें दिलाते।। बड़ा सुख...
उत्कृष्ट भेद है श्रमणाचार साधु संबंधी पाठ पढ़ाते।
पंचमहाव्रत हमें सिखाते, समस्त पापों का त्याग बताते। बड़ा सुख...
पंच समिति का पाठ पढ़ाते, सम्यग् प्रवृत्ति की शिक्षा देते।
दश-धर्मों का पाठ पढ़ाते, वैश्विक धर्म की शिक्षा भी देते।। बड़ा सुख...
द्रव्यानुयोग है सूक्ष्माति ज्ञान, आध्यात्म विज्ञान सहित ज्ञान।
दर्शन तर्क से युक्त भी ज्ञान, वैश्विक दृष्टि का महान् ज्ञान।। बड़ा सुख...
आत्मिक विकास ज्ञान सिखाते, आत्मिक शक्ति का ज्ञान भी देते।
शुद्धात्मा होने का पाठ पढ़ाते, आत्म वैभव का ज्ञान भी देते।। बड़ा सुख...
षट्द्रव्यों का ज्ञान भी देते, सापेक्ष सिद्धांत हमें सिखाते।

सिद्धांत एकीकृत हमें सिखाते, विज्ञान से परे ज्ञान भी देते।। बड़ा सुख...
भौतिक रसायन अणु सिद्धांत, मनोविज्ञान व जीव सिद्धांत।
इससे श्रेष्ठ का ज्ञान भी देते, परम विज्ञान पाठ पढ़ाते।। बड़ा सुख...
गुरुदेव से जो पाठ हैं पढ़ते, लोक लोकोत्तर काम में आते।
तनमनात्मा की शुद्धि बताते, पवित्रता का पाठ पढ़ाते।। बड़ा सुख...
स्व पर विश्व के हित बताते, विश्वशांति की शिक्षा भी देते।
ऐसा ज्ञान सब कोई पाये, ''कनकनन्दी'' भी यह भावना भाये।।

''पढ़ाई > अध्ययन > स्वाध्याय''

(राग: फूलों का तारों का...., क्या मिलिये ऐसे....)
पढ़ाई अध्ययन स्वाध्याय को जानो...उत्तरोत्तर तीनों को श्रेष्ठ मानो।
पढ़ाई केवल है वाचना मात्र...अर्थ ज्ञान बिना रीडिंग मात्र।। ध्रु.
तोता जैसे पढ़ता है पाठ...ज्ञान-आचरण बिन रटता पाठ।
वैसा ही जो मानव करता...वह भी तोता के जैसे पढ़ता।।
अपच भोजन सम यह पाठ होता...स्वार्थ व गर्व को जन्म देता।
आचरण-अनुभव से रहित होता...सत्य-समता-शांति न देता।। (1)

अध्ययन/(पाठ) इसी से भी परे होता...ग्रंथों का अनुशीलन होता।
ग्रंथ निहित सत्य-तथ्यों का...समालोचना व व्याख्यान होता।।
तर्क-वितर्क मंथन भी होता...घटना विचारों को जोड़ा जाता।
भावना-अनुभव से रिक्त होता...व्यापार के समान काम होता।। (2)

इसी से भी परे स्वाध्याय होता...आचरण-अनुभव से रहित होता।
न्याय नीति सदाचार/(शिष्टता) युक्त होता...भावना संवेदना सहित होता।।
पर पीड़न का काम न होता...सादा जीवन उच्च विचार होता।
हिताहित विवेक सहित होता...स्व-पर हितकर भाव/(काम) होता।। (3)

स्वाध्याय से स्व-पर हित होता...महान् कार्य भी इसी से होता।
स्वाध्याय से स्व-अध्ययन होता...स्वगुण-दोषों का अध्ययन होता।।
स्वाध्याय से वाचन-अध्ययन होते...स्वाध्यायी मानव महान् होते।

स्वाध्याय परम तप भी होता...'कनक' स्वाध्याय सतत करता।। (4)

आचरण व अनुभव बिना पुस्तकीय ज्ञान से हानि

(रागः रघुपति राघव...., सायोनारा....)

आचरण बिना पुस्तकीय/(रटन्त) ज्ञान से।
लक्ष्य न प्राप्त होता केवल चित्र(नक्सा) से।।
भोजन पाचन बिना शक्ति/(ऊर्जा) न मिलती।
अजीर्ण (व) रोग होते, शक्ति भी घटती।।
तथाहित पुस्तकीय ज्ञान से होता है पाचन बिना वह अहित करता है।।
अहंकार ईर्ष्या घृणा उत्पन्न होते हैं। संकीर्ण अनुदार भाव भी होते हैं।।
भोजन शब्द से न भूख मिटती है। ग्रंथज्ञान से न भ्रांति मिटती है।।
भगवान् बोलने से न अनुभव होता है। अनुभव से ही यह संभव होता है।।
तोता रटन्त से न अनुभव होता है। टेप रेकार्ड को न ज्ञान होता है।।
केवल दर्पण को न ज्ञान होता है। देखने वालों को ही ज्ञान होता है।।
पुस्तक ज्ञान तो साधन मात्र है। दर्पण तथा साधन मात्र है।।
साधन से साध्य प्राप्त करणीय। पुस्तक केवल नहीं है रटनीय।।
शब्द से भी अर्थ ज्ञान करणीय। अर्थ ज्ञान से भी भाव करणीय।।
भाव सहित भी सदा चरणीय। 'कनकनन्दी' को यह माननीय।।

शिक्षा की गाथा-व्यथा-आत्मकथा

(तर्जः मेरे मन की अंध तमस्..., है यही समय की पुकार....)

सुनो हो बच्चों! सुनो-सुनो हो बच्चों...2
मैं गाता हूँ शिक्षा की गाथा, मैं गाता हूँ शिक्षा की व्यथा।
मैं गाता हूँ शिक्षा की व्यथा, मैं गाता हूँ शिष्यों की आत्मा।। सुनो...
अक्षर कला अंक विज्ञान केवल रटना नहीं है शिक्षा,
अक्षर कला अंक विज्ञान केवल उत्तीर्ण नहीं है शिक्षा,
अक्षर कला अंक विज्ञान केवल लिखना नहीं है शिक्षा,
अक्षर कला अंक विज्ञान केवल पढ़ाना नहीं है शिक्षा।। सुनो...
धार्मिक ग्रंथ पूजा-पाठ भी केवल रटना नहीं है शिक्षा,

धार्मिक ग्रंथ पूजा-पाठ भी केवल उत्तीर्ण नहीं है शिक्षा,
धार्मिक ग्रंथ पूजा-पाठ भी केवल लिखना नहीं है शिक्षा,
धार्मिक ग्रंथ पूजा-पाठ भी केवल पढ़ाना नहीं है शिक्षा। सुनो...
इनकी उपयोगिता में सुशिक्षा की रहती है आत्मा,
सुशिक्षा के प्रचार में शिक्षा की है बोलती गाथा,
शिक्षा के अनुपयोग में शिक्षा की है चलाती व्यथा,
शिक्षा के दुरुपयोग से समस्त शिक्षा होती वृथा सुनो...
संस्कार संस्कृति सदाचार है सभी शिक्षा की होती आत्मा,
इनके बिना सभी शिक्षा है देह की स्थिति बिना आत्मा।। सुनो...
इनके बिना रावण कंस स्व-पर नाशक साक्षर राक्षस,
इनसे युक्त तीर्थेश बुद्ध प्रहलाद कबीर पवित्र अंतस।। सुनो...
तुम भी बच्चों पढ़ो भी गुनो आचरण करो सदा सदाचार,
तुम भी बच्चों पढ़ो भी गुनो कभी न करो भ्रष्टाचार,
तुम भी बच्चों पढ़ो भी गुनो कभी न करो मिथ्याचार,
तुम भी बच्चों पढ़ो भी गुनो, सदा न ही करो शिष्टाचार।। सुनो...
तुम भी बनो सभ्य शिक्षित, तुम भी बनो देश रक्षक,
तुम भी बनो सभ्य शिक्षित, तुम भी बनो धर्म रक्षक,
तुम भी बनो सभ्य शिक्षित, तुम भी बनो आत्म रक्षक,
तुम भी बनो सभ्य शिक्षित, 'कनकनन्दी' के प्रिय बालक।। सुनो...

छोटा भोला छात्र हूँ!

(तर्जः नन्हा-मुन्ना राही हूँ....)
छोटा भोला छात्र हूँ, ज्ञान साधक पात्र हूँ,
राह में एकला हूँ...सत्य के साथ हूँ...श्रद्धा के साथ हूँ...
निष्ठा के साथ हूँ...आशा के साथ हूँ...।। टेक।।
ज्ञान भले ग्रंथों में लिखा होता हो, गुरुओं से ज्ञान प्राप्त सदा होता हो।।...2
प्रकृति के हर कण गाथा गाते हो, मेरी ही पात्रता से मुझे प्राप्त हो।।
सत्य के साथ...श्रद्धा के साथ हूँ...छोटा।।1।।

अनंत है ब्रह्माण्ड अनंत है ज्ञान, पात्रता के अनुसार प्राप्त हो ज्ञान।...2
सिन्धु समक्ष मैं होता हूँ बिन्दु, तथापि मैं हूँ सिन्धु का बिन्दु।।
सत्य के साथ...श्रद्धा के साथ हूँ...।।2।।
बिन्दु-बिन्दु से ही सिन्धु भरता, बिन्दु-बिन्दु विद्या से ज्ञान बढ़ता...2
बूँद-बूँद विद्या हेतु बनूँ जिज्ञासु, सत्यग्राही शुद्धभावी ज्ञान पिपासु।।
सत्य के साथ...श्रद्धा के साथ हूँ...।।3।।
हमारे पूर्वज जब सर्वज्ञ हुए, विश्वगुरु पदवी हमने पाए।...2
भौतिक ज्ञानी-जब आगे चले हैं, आध्यात्मिक हम क्यों पीछे चलेंगे।।
सत्य के साथ...श्रद्धा के साथ हूँ...।।4।।
जड़ में न सुख और अनंत ज्ञान, तथापि भौतिक ज्ञानी करे अभियान।...2
आत्मा में है सुख और अनंत ज्ञान, साधना के बल पर करूँ मैं ज्ञान।।
सत्य के साथ...श्रद्धा के साथ हूँ...।।5।।
इसी हेतु मौनव्रती एकांतवासी, निस्पृह वृत्ति हूँ संतोषधारी।...2
ख्याति लाभ पूजा से मैं दूर ही रहूँ, ज्ञान देवता की मैं साधना करूँ।।
सत्य के साथ...श्रद्धा के साथ हूँ...।।6।।
'कनकनन्दी' कहे हे मानव जागो, भौतिकता के सारे बंधन त्यागो।...2
ज्ञानामृत हेतु करो सिन्धु मन्थन, सत्य शिवं सुंदर से महान् बनो।।
सत्य के साथ...श्रद्धा के साथ हूँ निष्ठा के साथ...आशा के साथ हूँ...।।7।।

भावश्रुतज्ञानी परोक्ष केवलज्ञानी

(केवलज्ञान प्रत्यक्षज्ञान तो श्रुतज्ञान परोक्षज्ञान)

(चालः तुम दिल की धड़कन....)

गाथा- जो पस्सइ अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अण्णमविसेसं।
अपदेशसुत्तमज्झं पस्सई जिण सासणं सव्वं।। (समयसार)

हिन्दी जो स्वयं को जानता है, अबद्ध अस्पर्श व अन्य से भिन्न।
आत्मानुभव से या श्रुतज्ञान से, वह जानता जिनशासन पूर्ण।।

गाथा- सव्वं पि अणेयत्तं परोक्ख-रूवेण जं पयासेदि।
तं सूय-णाणं भण्णदि संसय-पहुदीहि परिचत्तं।। (का. अनु.)

हिन्दी अनेकान्तमय सर्व द्रव्यों को, जो परोक्ष रूप से देखता है।
उसे ही श्रुतज्ञान कहते जो, संशय आदि से रहित होता है।।

गाथा- सुदकेवलं च णाणं दोण्णिवि सरिसाणि होंति बोहादो।
सुदणाणं तु परोक्खं पच्चक्खं केवलं णाणं।।

हिन्दी श्रुतज्ञान व केवलज्ञान दोनों, समान है बोधदृष्टि से/(अवबोध से)।
श्रुतज्ञान तो परोक्षज्ञान, प्रत्यक्ष होता केवलज्ञान।।

श्लोक- स्याद्वादकेवलज्ञाने, सर्ववस्तु प्रकाशने।
भेदः साक्षादसाक्षाच्च ह्यवस्त्वन्यतमं भवेत्।। (आ समंतभद्र)

हिन्दी- स्याद्वाद (श्रुत) केवलज्ञान से, सर्ववस्तु (द्रव्य) होते परिज्ञान।
भेद साक्षात् व परोक्ष होता, अज्ञात जो वह अद्रव्य होता।।

गाथा- जाणइ तिकालविसये, दव्वगुणे पज्जए य बहुभेदे।
पच्चक्खं च परोक्ख, अणेण णाणं त्ति णं वेंति।। (299. गो.जी.)

हिन्दी- द्रव्य गुण पर्याय बहुभेद से, जानता है त्रिकाल विषय।
प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से, उसे ही कहा जाता है ज्ञान।।

गाथा- सव्वे आगमसिद्धा अत्था गुणपज्जएहिं चत्तेहिं।
जाणंति आगमेण हि पेच्छिता ते वि ते समणा।

हिन्दी- आगम से सिद्ध है सभी अर्थ, विचित्र गुण पर्याय सहित।
जानते व पहचानते आगम से, वे ही सच्चे श्रमण है।।

रहस्य- ज्ञान-ज्ञेय सम्बन्ध प्रमाण, ज्ञेयों को जो जाने सो है ज्ञान।
विपरीत जाने सो मिथ्याज्ञान, सम्यक् जाने सो है सच्चाज्ञान।। (1)

मोह युक्त ज्ञान होता है कुज्ञान, मोह से रहित होता सुज्ञान।
छद्मस्थ सुदृष्टि का परोक्षज्ञान, सर्वज्ञ का होता प्रत्यक्ष ज्ञान।। (2)

सर्वज्ञ को होता अनंतज्ञान, सर्व द्रव्यों का होता प्रत्यक्ष प्रमाण।
उनसे उपदिष्ट होता जो श्रुतज्ञान, यह ज्ञान है परोक्ष ज्ञान।। (3)

द्रव्यश्रुत से जो भावश्रुत होता, उससे द्रव्यों का ज्ञान होता।
द्रव्य तत्त्व व पदार्थो का होता,सम्पूर्ण नहीं आंशिक ही होता।। (4)

आत्मानुभवी जो श्रमण होते, आत्मानुभव से स्व को जानते।
स्व को अन्य से पृथक् जानते, सच्चिदानन्द(का) अनुभव करते।। (5)

द्रव्यश्रुत बिना भी यदि वे होते, तो भी भावश्रुत ज्ञानी वे होते।
आत्मज्ञान से होता पर का भी ज्ञान, जिसे कहते परम भेद-विज्ञान।। (6)

यदि न होता आत्मा का ज्ञान, द्रव्यश्रुत से भी न भेद-विज्ञान।
जिससे उसका ज्ञान होता कुज्ञान, तोता-रटन्त या दिखावा ज्ञान।। (7)

इसी से मोह भी न होता क्षीण, ईर्ष्या-तृष्णा-घृणा न होते शमन।
अनेकान्त न होता है मान्य, संकीर्ण कट्टरता से होता सम्पन्न।। (8)

आत्मज्ञान ही होता परमज्ञान, भावश्रुतमय सत्यार्थ ज्ञान।
आत्मज्ञान से होता सभी का ज्ञान, 'कनकनन्दी' चाहे केवलज्ञान।। (9)

स्वाध्याय से बहुआयामी लाभ

(आचार्यश्री कनकनन्दी जी गुरुदेव संघस्थ की अद्भुत स्वाध्याय पद्धति व लाभ)

सृजक विद्यार्थी श्रमण मुनि सुविज्ञसागर

(चालः आया है चन्द्रमा....छोटी-छोटी गैया...., फिर छिड़ी बात...(गजल)....)

स्वाध्याय परम तप गुणकारी....ज्ञान-विज्ञान बहु आयामी/(बहुविधायी)
स्वाध्याय परम तप...(ध्रुवपद)

जिससे स्वयं का होता अध्ययन...समग्र विकास के आयाम/(उपाय)...
वैश्विक गुरु कनकनन्दी जिनकी पद्धति अद्भुत विभिन्न...
जिज्ञासु शोधार्थी/(विद्यार्थी) देशी-विदेशी...पाते ज्ञान-देशना निरन्तर...
स्वाध्याय परम तप...(1)

गणित कला न्याय राजनीति...शिक्षा मनोविज्ञान सर्वोदयी...
स्वास्थ्य लाभ-आध्यात्मिक बोध...व्यापक ज्ञान होता ब्रह्माण्डीय...
नवीनता सह प्रवीणता आती...प्रगतिशील निपुणता आती...
स्वाध्याय परम तप...(2)

व्यक्तित्व विकास जीवन प्रबंध...आधुनिक ज्ञान प्रेरणादायी...
अतिशय रस प्रसरण होता...शिक्षा-विज्ञान आनंददायी/(आह्लादकारी)...

श्रद्धा प्रज्ञा युत होता अनुभव...सत्य-साम्य सह सुखकारी/(शांतिदायी)...
स्वाध्याय परम तप...(3)

अज्ञान तम होता विनाश...स्व हिताहित का होता भान...
नवीन संवेग होते उत्पन्न...अपूर्वार्थ होता भावश्रुत...
द्रव्य-तत्त्व-अर्थ बोध होता...निष्कम्प बने 'सुविज्ञ' जन...
स्वाध्याय परम् तप...(4)

परमागम से स्व-शुद्धात्मा का वेदन-सम्यग्ज्ञान

(परम सम्यग्ज्ञान है-स्व-सम्वेदन ज्ञान/स्व-शुद्धात्म ज्ञान)

(चालः छोटी-छोटी गैया....)

''अहमेक्को खलु सुद्धो'' मैं एक हूँ,निश्चय से शुद्ध हूँ का सम्वेदन सम्यग्ज्ञान है।

''बहिरंगपरमागमाभ्यासेनाभ्यन्तरे स्वसम्वेदन ज्ञानं सम्यग्ज्ञानम्''

बाहर में परमागम की अभ्यास करते हुए भीतर में स्व-सम्वेदन ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है।

परम सम्यग्ज्ञान का स्वरूप जानो...परम आगम से स्व-सम्वेदन मानो...
आगम अध्ययन तो बाह्य कारण...स्व-शुद्धात्मा का वेदन है सम्यग्ज्ञान...(ध्रुव)...
आगम अभ्यास द्वारा होता स्व-ज्ञान...'मैं' हूँ शुद्ध-बुद्ध-आनंद घन...
द्रव्य-भाव-नोकर्मों से भी परे...तन-मन-इन्द्रिय कषाय परे...
ऐसा जब होता आत्मा का वेदन...वह ही निश्चय से होता सम्यग्ज्ञान...
यदि न होता ऐसा स्व-सम्वेदन...तब न होता निश्चय सम्यग्ज्ञान...(1)...
यथा दर्पण में प्रतिबिंब दिखता...दर्पण से/(में, द्वारा) अक्ष प्रतिबिम्ब को देखता...
अंध न देखे यथा प्रतिबिंब को..सम्वेदना रिक्त मोही न देखे/(जाने) स्वयं को
मोही का आगम ज्ञान भी मिथ्या ज्ञान...आगम से भी न करता स्व-सम्वेदन...
यथा चम्मच को स्वाद न आता...तथाहि मोही को स्व-सम्वेदन न होता...(2)
यथा शक्कर के बारे में कोई पढ़ता...लेखन भाषण व प्रशंसा करता...
बिना चखे वह स्वाद नहीं जानता...तथा स्व-सम्वेदन बिन आत्मा न जानता...

आगम वर्णित द्रव्य-तत्त्व-पदार्थ...मतिज्ञान से भी जानता है अर्थ...
स्व-सम्वेदन बिन न होता सुज्ञान...सुश्रुत ज्ञान न होता जो आत्म-सम्वेदन...(3)
भव्यसेन मुनि का न था सम्यगज्ञान...पढ़कर भी वह सकल श्रुतज्ञान...
द्वादशांग-चतुदर्श पूर्व भी पढ़ा...स्व-सम्वेदन बिन सुज्ञानी न बना...
लौकिक ज्ञान समान नहीं है सुज्ञान...पढ़ना लिखना ही नहीं सुज्ञान...
आध्यात्मिक ज्ञान है स्व-आत्मज्ञान...स्व-आत्मज्ञान बिन सभी कुज्ञान...(4)...
आगम ज्ञान या देव-गुरु का ज्ञान...स्व-सम्वेदन बिन सभी कुज्ञान...
गणित विज्ञान कानून संविधान...स्व-सेम्वदन बिन सभी कुज्ञान...
स्व-शुद्धात्म ज्ञान ही है परम ज्ञान...इसी हेतु देव-शास्त्र-गुरु का ज्ञान...
अतएव स्व-शुद्धात्म वेदन विधेय...इसी हेतु 'कनक' करे नित्य स्वाध्याय...(5)...

सत्य परिज्ञान की श्रेष्ठतम पद्धतियाँ

(प्रमाण, नय, निक्षेप, अनेकान्त, स्याद्वाद का सार)

(रागः चौपाई....)

प्रमाण नय निक्षेप को जानो अनेकान्त सिद्धान्त स्याद्वाद मानो।
इसी से सत्य का परिज्ञान होगा जिससे सम्पूर्ण विकास होगा।। (1)

केवलज्ञान है पूर्ण प्रमाण-सम्यग्ज्ञान भी होता प्रमाण।
प्रमाण अंश नयज्ञान भी होता निक्षेप वस्तु विधान होता।। (2)

अनेकान्त है वस्तु स्वरूप जिसके होते अनन्त रूप।
स्याद्वाद होता कथन रूप अनन्त सप्तभंग स्वरूप।। (3)

पाँच भेद है सम्यग्ज्ञान सकल प्रत्यक्ष है केवलज्ञान/(अनन्तज्ञान)।
मनःपर्यय अवधि श्रुत मन देश प्रत्यक्ष व परोक्ष ज्ञान।। (4)

मनःपर्यय तथा अवधिज्ञान देश प्रत्यक्ष व असंख्य ज्ञान।
श्रुत मतिज्ञान परोक्ष ज्ञान संव्यवहारिक प्रत्यक्ष ज्ञान।। (5)

नाम स्थापना द्रव्य भाव-न्यास चार प्रकार होता निक्षेप।
गुणादि रहित नाम निक्षेप गुण आरोपित स्थापना न्यास।। (6)

अवर्तमान पर्याय न्यास द्रव्य में होना द्रव्य निक्षेप।
प्रवर्तमान पर्याय युक्त द्रव्य सो होता भाव निक्षेप।। (7)

नय के अनेक भेद-प्रभेद ज्ञाता अभिप्राय नय के भेद।
निश्चय-व्यवहार नय के भेद शुद्ध-अशुद्ध तथाहि भेद।। (8)

सम्पूर्ण नय ही सापेक्ष होते अन्य नय को नहीं काटते।
निरपेक्ष नय ही मिथ्या होते जो अन्य नय को नहीं मानते।। (9)

व्यवहार बिना भी निश्चय नहीं बन्ध बिन यथा मोक्ष भी नहीं।
निश्चय बिना भी व्यवहार नहीं अग्नि बिना यथा धुआँ भी नहीं।। (10)

अनेकान्त से इसे भी जानों स्याद्वाद से इसे बखानो।
इसी से स्व समाधान मानों विश्वगुरु अनेकान्त है जानो।। (11)

द्रव्य में होते अनन्त गुण सत्य अनेकान्त अतः प्रमाण।
एक गुण ग्रहण नय का ज्ञान स्याद्वाद होता तत् कथन।। (12)

अस्ति नास्ति अवक्तव्य तीनों परस्पर मिलन से सप्तभंग जानो।
अनन्त गुण होते द्रव्य में जानो अनन्त सप्तभंग इसी से मानो।। (13)

इसी से हठाग्रह दूर होता सत्यग्राहीपना प्रगट होता।
कलह विसंवाद नहीं होते समस्त समाधान इसी से होते।। (14)

यह है आगम तर्क पद्धति वैज्ञानिक व्यवहार पद्धति।
स्व-पर-विश्व हितकर पद्धति 'कनकनन्दी' की श्रेय पद्धति।। (15)

ब्रह्माण्ड एवं शान्ति का रहस्य

(अनन्त विरोधात्मक ब्रह्माण्ड में समता से ही शान्ति)

(रागः 1. शिखरिणी छन्द...(यदिये चैतन्ये)...., 2. आपकी नजरों ने....)

जब-जब ग्लानि होती है इस धरती में।
धर्म के ह्रास से होता पाप इस धरती में।
तब-तब तीर्थंकर जन्म लेते इस धरती में,
पतन से उत्थान होता इस धरती में।। (1)

आवश्यकता से आविष्कार होता है इस धरती में,
रात्रि के बाद दिन होता हैं इस धरती में।
दुर्जनता के दूर हेतु सज्जन भी होते धरती में,
नास्तिकजन होते तो आस्तिक भी होते धरती में।। (2)

अस्ति है तो नास्ति भी है यह है स्याद्वाद नीति,
बन्ध है तो मोक्ष भी होता सिद्धान्त रीति से।
ऊँच है तो नीच भी होता सापेक्ष नीति से,
जन्म है तो मृत्यु भी होती कर्म पद्धति से।। (3)

जीवादि छहों द्रव्यों के होते भेद अनन्त,
प्रत्येक के होते पुनः हैं गुण भी अनन्त।
अनन्त गुणांशों से युक्त होते प्रत्येक भी गुण,
अनन्त पर्यायों से युक्त प्रत्येक भी है गुण।। (4)

हर द्रव्यों के गुण होते हैं परस्पर विरोधी,
द्रव्यों में तथापि निवास करते (वे) अविरोधी।
अतएव विरोधाविरोध होते हैं विश्व में,
साम्यभावी अविरोधी होते हैं सभी में।। (5)

यह परम रहस्य, वैश्विक भी सत्य है,
साम्यभावी ही पाता है शान्ति भी सत्य है।
आध्यात्मिक सत्य यह जो परम सत्य है,
'कनकनन्दी' का परम, लक्ष्य यह सत्य है।। (6)

अनुभव ही सच्चा ज्ञान

(अनुभवविहीन अन्य सब ज्ञान जानकारियाँ (सूचनाएँ) मात्र है)

(आगमनिष्ठ करणानुयोग सम्बन्धी रहस्यमयी कविता)

(तर्जः 1. शत-शत वन्दन..., 2 भक्ति बेकरार...,3. मेरी साधना के...)

अनुभव (ही) सच्चा ज्ञान है...जो होता सम्यग्ज्ञान है।
आत्मानुभव से युक्त ज्ञान है...भावश्रुतमय प्रमाण है।। ध्रु.।।

इससे भिन्न जो ज्ञान है...सूचना या विज्ञापन है।
तोता रटन्त (या) पुस्तकीय ज्ञान (है)...छोटा या खोटा ज्ञान है।।
यथा शक्कर का स्वाद है...पढ़ने से न आता स्वाद है।
देखने सुनने बोलने से भी...नहीं आता रसास्वाद है।। (1)

चखने में आता स्वाद है...देखे बिन निर्विवाद है।
तथाहि अनुभव जन्य ज्ञान है...आत्मानुभूति प्रमाण है।
इन्द्रिय यंत्र से ज्ञान है...अनुभव नहीं मतिज्ञान है।
स्मृति तर्क चिन्ता अभिनिबोध...अनुभव नहीं श्रुतनिबद्ध है।। (2)

मतिज्ञान परे होता जो ज्ञान...वह भावश्रुत प्रमाण है।
श्रुत (का) पढ़ना नहीं श्रुतज्ञान (है)...वह मतिज्ञान श्रुतज्ञान है।।
उससे परे आत्मानुभव...स्वात्माभिमुख जो ज्ञान है।
सो है श्रुतज्ञान अनुभव जन्य-भावश्रुतमय प्रमाण है।। (3)

अनुभव का जो ज्ञान है...सच्चा प्रत्यक्ष प्रमाण है।
इससे शून्य कोरा ज्ञान है...सच्चा अच्छा न प्रमाण है।।
अनुभव श्रुतावरण कर्म के(का)...क्षयोपशम प्रमुख कारण है
मनन,चिन्तन, प्रायोगिककरण...आादि भी अनेक कारण है।। (4)

अनुभव जब होता ज्ञान है...शंका विभ्रम से भिन्न है।
विषयों का होता वेदन-भेदन-स्पष्ट होता परिज्ञान है।।
शब्द अर्थ से भी परे है...तर्क-वितर्क से भी न्यारे है।
पुस्तकीय ज्ञान से न्यारे है...स्व पर प्रकाशी उजियारे हैं।। (5)

अनुभव से बनो ज्ञानी है...स्व-पर-विश्वकल्याणी है।
अनुभव के अनुयायी 'कनक'...कविता में यह बखानी है।।
अनुभव (ही) सच्चा ज्ञान है...जो होता सम्यग्ज्ञान है।
आत्मानुभव से युक्त ज्ञान है...भावश्रुतमय प्रमाण है।। (6)

मेरा भाव ज्ञानमय/(ज्ञानानन्दमय) होय

(राग:तोरा मन दर्पण कहलाए...)

मेरा भाव ज्ञानमय/(ज्ञानानन्दमय) होय।...2

निगोद से सिद्धावस्था तक, ज्ञान तो निश्चय होय। (ध्रुवपद)
किसी भी अवस्था में ज्ञान तो होता है, भले ही विकृत होय।
यथा तरल बर्फ वाष्प अवस्था में, जल तो निश्चय होय। (1) निगोद...

यथा कूलर हीटर यंत्रों में, विद्युत संचार होय।
तथा ही मेरे हर जन्म में, ज्ञानदर्शन/(ज्ञानानन्द) भी होय।(2) निगोद...

सुप्त जाग्रत सुषुप्त अवस्था में, ज्ञान में अन्तर होय।
तथा ही सर्व गति-योनियों में, ज्ञान में अन्तर होय। (3) निगोद...

गुणस्थान मार्गणा स्थान में, हीनाधिक ज्ञान होय।
मोहावस्था में कुज्ञान होता है, सम्यक्त्व में सम्यक् होय। (4) निगोद...

क्षयोपशम व क्षय-अवस्था में, ज्ञान भी तथावत् होय।
छद्मावस्था में चारों ज्ञान होते, क्षय में केवल होय। (5) निगोद...

केवलज्ञान ही अनन्त स्वज्ञान, अनन्त सुखमय होय।
सच्चिदानन्दमय परम-अवस्था, 'कनक' स्वभाव होय। (6) निगोद...

मेरा भाव धर्ममय

(राग : 1. तोरा मन दर्पण..2. कसमें वादे...3. आधा है चन्द्रमा..4. बहुत प्यार..
5. मेरे नैना सावन..6. इक प्यार का नगमा..7. है अपना दिल तो आवारा..)
मेरा भाव धर्ममय होय रे!...2
वस्तु स्वभाव धर्म होने से...भाव धर्ममय होय।। (ध्रुवपद)...
सुवर्ण पाषाण शुद्ध स्वर्ण में भी, स्वर्ण अवश्य होय।
अवस्था में भले अन्तर होता है, स्वर्ण अवश्य होय। वस्तु... (1)

रत्नत्रय या दर्शधर्म तथा, अस्तित्वादि धर्म होय।
पञ्च पाप व कषाय त्याग भी, व्यवहार धर्म होय।। वस्तु... (2)

मिथ्यात्व अवस्था में रत्नत्रय आदि, विपरीत होय।
मिथ्यात्व नाश से विपरीत नशे, सम्यक्पना/(दशा) प्रगटाय।। वस्तु... (3)

पञ्च पाप व कषाय त्याग से, रत्नत्रय प्रगटाये।

रत्नत्रय की विशुद्धि क्रम से, दशधर्म वृद्धि पाये। वस्तु।। (4)

रत्नत्रय की पूर्ण अवस्था ही, धर्म की पूर्णता होय।
रत्नत्रय तो मेरा ही स्वभाव, मुझमें (से) प्रगट होय।। वस्तु।। (5)

रत्न त्रयमय मोक्षमार्ग व मोक्ष भी स्व-धर्म होय।
इसी हेतु भी आत्मशोधनीय, अन्यथा उपाय न कोय/(होय)।। वस्तु... (6)

यथाहि सुवर्ण पाषाण-शुद्धि से, शुद्ध स्वर्ण प्रगटाय।
तथाहि मेरा स्वभाव शुद्धि से, स्व-धर्म प्रगटाय।। वस्तु... (7)

समता शान्ति व आत्म विशुद्धि से, स्व-धर्म प्रगट हुए।
अंशाअंशी या तन्मय रूप से, ये सर्व प्रगट हुए।। वस्तु... (8)
अतएव मुझे धर्म प्राप्ति हेतु, स्व-शुद्धि ही करणीय।
इस हेतु बाह्य धर्म करणीय, जो व्यवहारमय होय।। वस्तु... (9)
आत्मशुद्धि बिन व्यवहार धर्म, व्यवहारनय न होय।
'कनकनन्दी' तो आत्मशुद्धि हेतु, व्यवहार भी अपनाये।। वस्तु... (10)

''आत्म-रमण ही आत्म भजन''

(रागः 1. नरेन्द्र छन्द..., 2. यमुना किनारे श्याम...)
भज मन आत्मा को तू ही...जिससे तेरे दुःख नशेगें सही।
भोजन पूजन ध्यान अध्ययन में...आत्मा का भजन करो तू सही।।
स्वयं के विश्वास ज्ञान ध्यान से...विभाव भाव को नाश तू कर।
जिससे पाओगे शान्ति अपार...वह ही आत्मा का निज सार।। (1)
नामस्मरण ही नहीं है भजन...भोजन-स्मरण ही नहीं भोजन।
स्मरण से युक्त करो रमण...स्व-रमण ही स्व-भजन।।
स्मरण करो तू आत्म स्वरूप...अनन्त ज्ञानमय सुख स्वरूप।
तदनुकूल तू करो रमण...यह ही है सही तेरा भजन।। (2)
क्रोध-मान-माया-लोभ-वर्जन...उपाय सही है आत्म-भजन।
मलिन वस्त्र से मल दूर ही...वस्त्र शुचि के है सही सृजन।।
मुँह में राम/(प्रभु/आत्म) नाम बगल में छूरी, भजन का नहीं उपाय सही।

मन वचन व काय योग से...आत्म भजन कर तू सही।। (3)
प्रदर्शन से न होता दर्शन...आत्म-शुद्धि से ही होता दर्शन।
प्रदर्शन होता नट-नटी का...आत्मस्थ भक्त को होता दर्शन।।
ख्याति पूजा लाभ रहित जन...संकल्प-विकल्प परे जो जन।
एकाग्र-मना व एकान्तवासी...वे होते हैं सही आत्मनिवासी।। (4)
यह ही भजन आध्यात्मसार...ध्यान-अध्ययन धर्म का सार।
आत्मशान्ति हेतु भजन कर...'कनक' आत्मा में रमण कर।। (5)
विजयनगर, दि. 15.07.2012, मध्याह्न-3.10

जिसके लिए ज्ञानार्जन होता

(सुज्ञान शान्ति कारक)

(आध्यात्मिक शिक्षा मनोविज्ञान की कविता)

(राग: 1. जहाँ डाल-डाल पर सोने की..., 2, जयति जय-जय(श्री रामचन्द्र कृपालु)..., 3. आत्मशक्ति से...)

जिस क्षण के लिए ज्ञान अर्जन होता, वे क्षण/(काम) आ गये हैं...2
आत्म-शान्ति मोक्ष प्राप्ति के लिए, वे क्षण/(काम) आ गये हैं...2
आत्म-शान्ति मोक्ष प्राप्ति के लिए, वे क्षण/(काम) आ गये...2
जय शान्ति-आत्म-शान्ति।। ध्रु.।।
ज्योति से यदि तम दूर न हो...वह ज्योति भी क्या ज्योति है...2
ज्ञान से यदि शान्ति न मिले...वह ज्ञान भी क्या ज्ञान है...2
वह ज्ञान नहीं मात्र जानकारी है...शब्द सूचना मात्र हैं...2
जय शान्ति-आत्म-शान्ति।। (1)
ज्ञान आत्मा का महागुण है...जो सुख आनन्द रूप है...2
जिस ज्ञान से मोह उत्पन्न हो...वह ज्ञान ही ज्ञान नहीं है...2
ज्ञान से यदि मद/(क्रोध/मान/माया) उत्पन्न हो...वह ज्ञान ही ज्ञान नहीं है...2
जय शान्ति-आत्म-शान्ति।। (2)
ज्ञान तो आत्म शक्ति ज्योति है...वह परमानन्द रूप है...2
अमूर्तिक निज रूप सच्चिदानन्द...निराकुलमय रूप है...2

ध्यान अध्ययन मनन चिन्तन से...ज्ञान होता जागृत है...2
जय शान्ति-आत्म-शान्ति।। (3)
सत्य समता की आराधना से...ज्ञान होता समृद्ध है...2
सद्गुरु के मार्गदर्शन/(देशना) से होता...जिसका शुभारम्भ है...2
इस हेतु ''कनकनन्दी'' सदा ही...भाव से अनुबन्ध हैं...2
जय शान्ति-आत्म-शान्ति।। (4)

विजयनगर, दि. 16.07.2012, मध्याह्न-2.08

आध्यात्मिक दृष्टि के होने पर

(आध्यात्मिक दृष्टि सम्पन्न जीवों की परिणति)

(मेरा(आ. कनकनन्दी) का अनुभव एवं साधना)

(रागः 1. सुवर्ण पात्री...2. नरेन्द्र...3. आत्मशक्ति से...4. छह ढाला...)

आत्मिक दृष्टि के प्रगट होने से, होते हैं विचित्र भाव।
सत्य तथ्य का होता है सुज्ञान, जिससे होता विवेक भाव/(वान्)।। 1

होता है श्रद्धान चेतनाचेतन, स्वयं है चेतनवान्।
सच्चिदानन्दमय स्वयं का स्वभाव/(स्वरूप),देहादि भौतिकवान्(रूप)।। 2।।
जन्म-मरण व लाभ-अलाभ, सुख-दुःख शुभाशुभ।
संयोग-वियोग मान-अपमान, दिखते भौतिक समान।। 3।।

सत्ता सम्पत्ति व बुद्धि प्रसिद्धि से, स्वयं को माने है परे।
सत्य समता शान्ति स्वरूप, स्वयं का स्वभाव पूरे(खरे)।।4।।

मोह आसक्ति संकीर्णता भाव, ईर्ष्या द्वेष काम क्रोध।
ऊँच-नीच व दीन/(हीन) अहं भाव, नहीं होते हैं तृष्णा-क्षोभ।। 5।।

आकर्षण व विकर्षण रहित, सन्तुलित भाव का काम।
दयादान सेवा परोपकार युत, होते हैं निस्वार्थ काम।। 6।।

उपेक्षा-अपेक्षा-प्रतिक्षा रहित, होता है उच्च आदर्श।
आलोचना व विरोध के परे, पलता है उच्च आदर्श।। 7।।

निन्दा प्रपंच वाद-विवाद, संकल्प, विकल्प-क्लेश।
भोग विलासिता प्रमाद रहित, होता है पवित्र भाव।। 8।।

प्रदर्शन/(आडम्बर से) रहित होती है अन्तःसाधना,
आत्मशुद्धि रूप होती सर्व साधना।
'कनकनन्दी' भी साधनारत है, आत्मप्राप्ति हेतु साधनारत।। 9।।

Master Theory

Unifield theory of Universe Theory of everything)

''अनेकान्त वन्दन (स्याद्वाद का स्वरूप)''

(Theory of relativity-एकीकृत सिद्धान्त)

(तर्जः 1. बिन गुरु ज्ञान नहीं...2. चालीसा...3. मन तड़पत हरि दर्शन को)

दोहा- विश्व गुरु अनेकान्त से, हो व्यापक विचार,
लोकालोक में व्याप्त है, जिसकी महिमा अपार।
एकान्तवादी तुम जागो, करलो अपना सुधार,
सापेक्षवाद सतवाद से, हो जाओ भव पार।।

चौपाई-
है अनेकान्त सत्य स्वरूप, हे सनातन विश्व स्वरूप,
लोकालोक में व्याप्त रूप, मूर्तिक अमूर्तिक तेरा स्वरूप।
एकानेक व अनन्त रूप, सर्वव्यापी है शिव स्वरूप।।
उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप, खण्ड विखण्डित एक स्वरूप,
सर्वत्र व्याप्त है तेरा रूप, सार्वभौम है नित्य स्वरूप,
बन्ध मोक्ष भी तेरा रूप, सापेक्षवाद है तेरा स्वरूप।।
निरापेक्ष है मिथ्या रूप, सापेक्ष दृष्टि सत्य स्वरूप,
तेरी कृपा से होता सम्यक्, मिथ्यात्व है तुमसे पृथक।
तेरे वियोगे अनन्त भव, जन्म-मरणे दुःख ही भोग,
कुवाद समस्त नाशन कर्त्ता, समाधान के तुम हो भर्त्ता।।
तुम बिन है न लौकिकाचार, तुम बिन है न सदाचार,

तुम बिन है सब तर्क-कुतर्क, तुम बिन है स्वर्ग भी नर्क।
तुम बिन है न न्याय प्रणाली, तुम बिन है न कार्य प्रणाली,
तुम बिन है न सम्यक् मार्ग, तुम बिन है न मोक्षमार्ग।।
तुम तो आदि अन्त रहित, सर्व सत्य में सर्वत्र व्याप्त,
चेतन में तुम चेतन रूप, अचेतन में उसी ही रूप।
सर्वज्ञ द्वारा तुम सुज्ञात, सुदृष्टि द्वारा तुम पूजित,
तुम्हें न माने मिथ्यादृष्टि, तुम बिन चलती है सृष्टि।।
सूर्य न देखे जन्मान्ध व्यक्ति, अज्ञानी न जाने तुम्हारी शक्ति,
'कनकनन्दी' के साध्य-साधन, तुमसे ही मैं होता हूँ धन्य।
त्रैलोक्यनाथ के शासन तन्त्र, तुम्हें नमूँ मैं हे विश्वतन्त्र।।

प्रतिपक्ष(सापेक्ष-अनेकान्त) से पक्ष का अस्तित्व-ज्ञान एवं मूल्यांकन

(राग:1 छोटी-छोटी गैया...., 2. दुनियाँ में रहना है तो....)

झूठ न हो तो सच का ज्ञान न होता...
झूठ न हो तो ...सच का भान न होता...
झूठ न हो तो...सच का मान न होता...
झूठ न हो तो ...सच का भाव न होता...(स्थायी/प्रत्येक पद)
नास्ति न हो तो...अस्ति का भान न होता।
ज्ञेय न हो तो...ज्ञान का मान न होता।
बन्धन न हो तो...मोक्ष का भाव न होता।
पाप न हो तो...पुण्य का मूल्य न होता/(पुण्य भी श्रेष्ठ न होता)।
दु:ख न हो तो...सुख भी प्रिय न होता।
तम न हो तो...ज्योति का मूल्य न होता।
दुष्ट न हो तो...शिष्ट का मूल्य न होता।
मृत्यु न हो तो...जन्म का भान न होता।
रोग न हो तो...स्वास्थ्य का भान न होता।

छोटा न हो तो...बड़ा का भान न होता।
नीचा न हो तो...ऊँचा का भान न होता।
बायाँ न हो तो...दायाँ का भान न होता।
जीर्ण न हो तो...नया का मूल्य न होता।
जन्य न हो तो ...जनक का मान न होता।
पीछे न हो तो...आगे का मान न होता।
फैल न हो तो...पास का मूल्य न होता।
दीनता न हो तो...अहम् का भाव न होता।
स्थिति न हो तो...गति का भान न होता।
प्रतिपक्ष युक्त से...अस्तित्व भी होता।
दुःख से शिक्षा लोगे तो सुख पाओगे।
सुख में भूलोगे/(बिगड़ोगे) तो दुःख पाओगे।।
दोष से शिक्षा लो तो गुणी बनोगे।
गुणी से घृणा करो तो दोषी बनोगे।।
'कनकनन्दी' सबसे शिक्षा ही लेता।
जो शिक्षा लेता वही गुणी बनता।।

श्रेष्ठ से श्रेष्ठतम सत्य

(विभिन्न प्रकार के सत्य)

(रागः तुम ही मेरा उद्धार करो हे जननी दिव्यवाणी....)

सत्य को जानना सत्य को मानना सत्यमय जो आचार...2
वह ही नैतिक वैचारिक पूर्ण आध्यात्ममय प्रकार...2
सामाजिक सत्य न्याय में स्थित राजनीति में जो मान्य...2
ये सब सत्य है व्यवहार सत्य, व्यवहारे हुए मान्य...2
दार्शनिक सत्य वैचारिक सत्य विचार आधीन सत्य...2
वस्तुनिष्ठ सत्य द्रव्यगत सत्य यह है वैश्विक सत्य...2

आध्यात्मिक सत्य आत्मा में संस्थित आत्मा की है शुद्धावस्था...2
इसे ही कहते हैं शुद्ध परमात्मा, सच्चिदानन्द स्वरूपा...2
उत्तरोत्तर है श्रेष्ठ सत्य जानो, व्यवहार से आध्यात्म...2
आध्यात्म प्राप्ति के हेतु प्रयोजन, यथा सशरीर आत्मन्...2
आध्यात्म सत्य की प्राप्ति के निमित्त त्यजनीय आद्यसत्य...2
यथा तीर्थंकर राज्यादि त्याग के, पाते हैं आत्मिक सत्य...2
सत्य ही परमेश्वर है विश्व में, सत्य में सर्व संस्थित...2
'कनकनन्दी' का सर्वस्व ही सत्य उसे भजे दिन-रात...2

जैन धर्म में वर्णित महासत्ता एवं अवान्तर सत्ता

(जैन धर्म में वर्णित ब्रह्माण्डीय विज्ञान)

(रागः सत्यं शिवं सन्दरम्....अजी रूठकर....)
सत्य ही द्रव्य है, ऽऽद्रव्य में गुण है आऽऽ आऽऽ पर्यायमय द्रव्य हैऽऽ
जागोऽऽऽ द्रव्य को देखो, षड्द्रव्यमय विश्व हैऽऽ
द्रव्य गुण पर्याय हो ओ द्रव्य गुण पर्यायऽऽऽ...सत्य ही द्रव्य है...(स्थायी/धत्ता)
एक ही सत्य है, परम सत्ता लोकालोक में सत्ता
सर्वज्ञदेव ने इसे देखा...2
कण कण में है व्यापा...स्वतन्त्र अपनी सत्ताऽऽऽ...द्रव्य गुण पर्याय हो ओ(1)

उत्पाद व्यय वाला, ध्रौव्य सहित वाला, अव्यय अविनाशी वाला
अगुरुलघु सदा सत्ता वाला...2
शाश्वत् अकृत्रिम वाला...नित्य ही परिणमनऽऽऽ...उत्पाद व्यय ध्रौव्यम्(2)

जीव अजीव वाला, षड्द्रव्य वाला, चेतन अचेतन वालाऽऽ
लोक अलोक में है व्याप्त...2
मध्य में मनुष्य लोग वाला...स्वर्ग नरक वाला...ऊर्ध्व में सिद्धशिला...(3)

...द्रव्य गुण पर्याय हो ओ...
कर्म रहित वाला, सच्चिदानन्द वाला, त्रैलोक्य दर्शन वाला
आत्मरमण विज्ञान ज्योति वाला...2 ज्ञायक स्वरूप आत्मा...विमुक्त परम आत्मा

चरमध्येय वाला, वीतराग वाला...सिद्धों की जाओ शरण(4)
...द्रव्य गुण पर्याय हो ओ...।।
अष्ट कर्म बन्धनं, विमुक्त चिदानन्दं, निजानन्द शुद्ध स्वभावम्
'कनकनन्दी' का स्वभावम्...2 प्रत्येक जीव का भावम्
अन्तिम स्वशरणम् स्वयं में स्वरमणम्...सच्चिदानन्दभावम्(5)
...द्रव्य गुण पर्याय हो ओ...।।

जैन धर्म में वर्णित एकीकृत सिद्धान्त

शाश्वतिक परिणमनशील स्थायित्व द्रव्य (सत्य)

(परिणमनशील सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड)

(रागः सत्यं शिवं सुन्दरम्...'उत्पाद व्यय ध्रौव्ययुक्तं सत्'' सूत्र सम्बन्धी कविता...)
उत्पाद ही व्यय है...व्यय ही द्रव्य है...ध्रौव्य उभय है...ऽऽऽ
जानो द्रव्य को मानो...तीनों मय ही सत्यम्ऽऽऽ
उत्पाद व्यय ध्रौव्यंऽ...हो..ओ..उत्पादव्यय ध्रौव्यं...2...तीनो ही द्रव्य है...(स्थायी)
उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्तं सत्, तीनों ही पृथक-पृथक्
अनेकान्त से सिद्ध है...2.प्रत्येक द्रव्य में व्याप्त...
अगुरुलघु से व्याप्त...उत्पाद व्यय ध्रौव्यम्...2(1)
वैश्विक सत्य है सम्पूर्ण द्रव्य में युक्त, आगम युक्ति से युक्त...
सूक्ष्म स्थूल में भी है व्याप्त...2 मूर्ति अमूर्ति सहित...
शुद्ध-अशुद्ध संयुक्त...त्रिकाल घटित सत्य...उत्पन्न विगम स्थितम्...(2)
संसारी-मुक्त निहितं, जन्म-मरण ध्रुवत्वं...कर्म विनष्ट सिद्धत्वम्...
कटक केयूर काञ्चनम्...2 त्रय में कनक युक्तम्...
हर्ष-विषाद माध्यस्थं...त्रय दृष्टि युक्त ग्राहकम्...भिन्नाभिन्न समन्वितम्(3)
सत्य न उत्पाद व्ययं, पर्याय दृष्टि युक्तं, द्रव्य ही शाश्वत् सत्यम्...
द्रव्यमय है सर्व लोकम्...2 'कनकनन्दी' में युक्तम्...
सिद्धान्त एकीकृतं...वैश्विक परम सत्यं...लोकालोक व्याप्तम्..उत्पन्न विनिष्ट स्थतम्(4)

श्रुतज्ञान का सामान्य लक्षण

अत्थादो अत्यंतरमुवलंभं तं भणति सुदणाणं।
आभिणिबोहियपुव्वं णियमेणिह सद्दजं पमुहं।। 315।।- गो. जी.

मतिज्ञान के द्वारा निश्चित अर्थ का अवलम्बन लेकर उससे सम्बद्ध अन्य अर्थ को जानने वाले जीव के ज्ञान को, जो श्रुतज्ञानावरण और वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से उत्पन्न हुआ है, मुनीश्वर श्रुतज्ञान कहते हैं। वह ज्ञान नियम से अभिनिबोधिक पूर्व है अर्थात् अभिनिबोधिक यानी मतिज्ञान उसका कारण है। मतिज्ञानावरण के क्षयोपशम से पहले मतिज्ञान ही उत्पन्न होता है। पश्चात् उससे गृहीत अर्थ का अवलम्बन लेकर उसके बल से अन्य अर्थ को विषय करने वाला श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है; अन्य प्रकार से नहीं। नियम शब्द से यह अवधारण किया गया है कि मतिज्ञान की प्रवृत्ति के अभाव में श्रुतज्ञान नहीं होता। इस श्रुतज्ञान के प्रकरण में श्रुतज्ञान के अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक या शब्दजन्य और लिंगजन्य भेदों में से वर्णपदवाक्यात्मक शब्द से होने वाला श्रुतज्ञान प्रमुख है प्रधान है, क्योंकि देन-लेन, शास्त्र का अध्ययन आदि समस्त व्यवहार मूल वही है। अनक्षरात्मक अर्थात् लिंगजन्य श्रुतज्ञान एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय पर्यन्त जीवों में विद्यमान रहते हुए भी व्यवहार में उपयोगी न होने से अप्रधान होता है। 'श्रुयते' अर्थात् श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा जो ग्रहण किया जाता है, वह श्रुत अर्थात् शब्द है। उससे उत्पन्न अर्थज्ञान श्रुतज्ञान है। इस व्युत्पत्ति से भी अक्षरात्मक श्रुतज्ञानी की प्रधानता लक्षित होती है। अथवा 'श्रुत' यह रूढ़ि शब्द है। परमागम में मतिज्ञानपूर्वक होने वाले अन्य अर्थ के ज्ञान को कहने में रूढ़ है। फिर भी यथायोग्य निरुक्ति होती है। रूढ़ि शब्द अपने अर्थ को नहीं छोड़ते। जैसे कुशको जो लाता है, वह कुशल है। इस प्रकार कुशल आदि शब्द चतुर आदि अर्थों में रूढ़ हैं, फिर भी उनकी व्युत्पत्ति उसी प्रकार की जाती है। इसी प्रकार श्रुत के सम्बन्ध में जानना। 'जीव है' ऐसा कहने पर जो शब्द का ज्ञान होता है कि 'जीव', है' यह श्रोत्रेन्द्रिय से उत्पन्न हुआ मतिज्ञान है। और ज्ञान के द्वारा 'जीव है' इस शब्द के वाच्यरूप आत्मा के अस्तित्व में वाच्यवाचक सम्बन्ध के संकेत ग्रहणपूर्वक जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह अक्षरात्मक श्रुतज्ञान है। क्योंकि अक्षरात्मक शब्द से उत्पन्न हुआ है, इस प्रकार कार्य में कारण का उपचार किया है। तथा वायु के शीत स्पर्श के ज्ञान से वात प्रकृति वाले मनुष्य को जो उसके

स्पर्श में 'यह मेरे लिए अनुकूल नहीं है', ऐसा जो ज्ञान होता है, वह अनक्षरात्मक लिंगजन्य श्रुतज्ञान है, क्योंकि वह शब्दपूर्वक नहीं हुआ है।। 315

श्रुतज्ञान के अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक भेद

लोगाणमसंखमिदा अणक्खरप्पे हवंति छट्ठाणा।
वेरूवछट्ठवग्गपमाणं रूऊणमक्खरगं।। 316।।

श्रुतज्ञान के अक्षरात्मक और अनक्षरात्मक ये दो भेद हैं। अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान के पर्याय और पर्यायसमास दो भेद हैं। इसमें सर्वजघन्य ज्ञान से लेकर अपने उत्कृष्ट पर्यन्त असंख्यात लिये हुए हैं। अक्षरात्मक श्रुतज्ञान के संख्यात भेद हैं। सो द्विरूप वर्गधारा में उत्पन्न छठे वर्ग का, जिसका प्रमाण एकट्ठी है, उसके प्रमाण मे-से एक कम करने पर जितने अपुनरुक्त अक्षर होते हैं, उतने हैं। इसका आशय यह है कि विवक्षित अर्थ को प्रकट करने के लिए पुनरूक्त अक्षरों के ग्रहण करने पर उससे अधिक प्रमाण हो जाता है।। 316।।

पज्जायक्खरपदसंघादं पडिवत्तियाणि जोगं च।
दुगवारपाहुडं च य पाहुडयं वत्थु पुव्वं च।। 317।।

विशेषार्थ- दो से लेकर वर्ग करते जाने को द्विरूपवर्गधारा कहते हैं। जैसे दोका प्रथम वर्ग चार होता है। चार का वर्ग सोलह होता है। सोलह का वर्ग दो सौ छप्पन होता है। दो सौ छप्पन का वर्ग पैंसठ हजार पाँच सो छत्तीस होता है, जिसको पण्णट्ठी कहते हैं। पण्णट्ठी का वर्ग बादाल और बादाल का वर्ग एकट्ठी प्रमाण होता है, यही छठा वर्गस्थान है। इसमें एक कम करने से श्रुतज्ञान के समस्त अपुनरक्त अक्षर होते हैं। उतने ही अक्षरात्मक श्रुतज्ञान के भेद हैं।

श्रुतज्ञान के भेद

तेसिं च समासेहि य बीसविधं वा हुहोदि सुदणाणं।
आवरणस्स वि भेदा तत्तियमेत्ता हवंतित्ति।। 318।।

पर्याय, अक्षर, पद, संघात, प्रतिपत्ति, अनुयोग, प्राभृत प्राभृतक, प्राभृतक, वस्तु, पूर्व ये दस भेद होते हैं। इनके दस समास मिलाने से श्रुतज्ञान के बीस भेद होते हैं- अर्थात् पर्याय, पर्यायसमास, अक्षर, अक्षरसमास,पद, पदसमास, प्रतिपत्तिक,

प्रतिपत्तिकसमास, अनुयोग, अनुयोगसमास, प्राभृतक प्राभृतक, प्राभृतक प्राभृतकसमास, वस्तु, वस्तुसमास, पूर्व, पूर्वसमास, यह उनके आलाप का क्रम है। यहाँ अक्षरादिके द्वारा कहे जाने वाले अर्थ का ज्ञानरूप जो भावश्रुत है, उसकी विवक्षा होने से उनके बीस ही होने में हेतु कहते हैं कि श्रुतज्ञानावरण के भेद भी बीस ही होते हैं। यहाँ 'इति' शब्द हेतु के अर्थ में है। इसलिए श्रुतज्ञान के बीस भेद है।। 317-318।।

पर्याय नामक प्रथम श्रुतज्ञान का स्वरूप

णवरि विसेणं जाणे सुहुमजहण्णं तु पज्जयं णाणं।
पज्जायावरणं पुण तदणंतरणाणभेदम्मि।। 319।।

यह विशेष जानना कि पर्याय नामक प्रथम श्रुतज्ञान सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक का सबसे जघन्य श्रुतज्ञान होता है। किन्तु पर्यायज्ञान का आवरण उसके अनन्तर को ज्ञान का भेद है, जो उससे अनन्तभागवृद्धि को लिये हुए है; उस पर्याय समास ज्ञान के प्रथम भेद पर होता है। जो इस प्रकार है-उदयप्राप्त पर्याय ज्ञानावरण के समयप्रबद्ध का जो निषेक उदय में आया है, उसके अनुभाग के सर्वघाती स्पर्द्धकों के उदय का अभाव ही क्षय है तथा जो अगले निषेक सम्बन्धी सर्वघाती स्पर्द्धक सत्ता में वर्तमान है उनका उपशम है और देशघाती स्पर्धकों का उदय है। ऐसी क्षयोपशम पर्याय ज्ञानावरण की सदा रहती है। अतः पर्याय ज्ञानावरण के उदय से पर्याय समास ज्ञान का प्रथम भेद ही आवृत होता है; पर्यायज्ञान नहीं। यदि उसका भी आवरण हो जाये, तो जीव के गुण ज्ञान का अभाव होने पर गुणी जीव के भी अभाव का प्रसंग आता है। तथा अनुभाग रचना में स्थापित किया सिद्ध राशिका अनन्तवाँ भागमात्र जो श्रुतज्ञानावरण का द्रव्य अर्थात् परमाणु समूह है, वह क्रम हानि और वृद्धि से संयुक्त है, नाना गुणहानि स्पर्धक वर्गणात्मक है, उस श्रुतज्ञानावरण के द्रव्य में जिसका उदय रूप अनुभाग क्षीण हो गया है और जो सबसे थोड़ा तथा सबसे अन्तिम सर्वघाति स्पर्धक है, उसका नाम पर्यायज्ञानावरण है। इतने आवरण का कभी भी उदय नहीं होता। इसलिए भी पर्यायज्ञान निरावरण है।। 319।।

सुहमणिगोदअपज्जत्तयस्स ाादस्स पढमसमयम्हि।
हवदि हु सव्वजहण्णं णिच्चुग्घाडं णिरावरणं।। 320।।

अर्थ-सूक्ष्म निगोदिया लब्ध्यपर्याप्तक जीव के उत्पन्न होने के प्रथम समय में सबसे जघन्य ज्ञान होता है। इसी को पर्याय ज्ञान कहते हैं। इतना ज्ञान हमेशा ही निरावरण तथा प्रकाशमान रहता है।

पर्याय ज्ञान के स्वामी की और भी विशेषता

सुहमणिगोदअपज्जत्तगेसु सगसं भवेसु भमिऊण।
चरिमापुण्णतिवक्काणादिमवक्कट्ठियेव हवे।। 321।।

अर्थ-सूक्ष्मनिगोदिया लब्ध्यर्याप्तक जीव के अपने जितने भव (छह हजार बारह) सम्भव है उनमें भ्रमण करके अन्त के अपर्याप्त शरीर की तीन मोड़ाओं के द्वारा ग्रहण करने वाले जीव के प्रथम मोड़ा के समय में यह सर्व जघन्य ज्ञान होता है।

सुहमणिगोदअपज्जत्तयस्स जादस्स पढमसमयम्हि।
फासिंदियमदिपुव्वं सुदणाणं लद्धिअक्खरयं।। 322।।

अर्थ-सूक्ष्मनिगोदिया लब्धपर्याप्तक जीव के उत्पन्न होने के प्रथम समय में स्पर्शन इन्द्रिय जन्य मतिज्ञानपूर्वक लब्ध्यक्षररूप श्रुतज्ञान होता है।

भावार्थ-लब्धि नाम का श्रुतज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशमका है, और अक्षर नाम अविनश्वर का है;इसलिये इस ज्ञान को लब्ध्यक्षर कहते हैं; क्योंकि इस क्षयोपशम का कभी विनाश नहीं होता, कम से कम इतना क्षयोपशम तो जीव के रहता ही है।

पर्याय समास ज्ञान का निरूपण

अवरूवरिम्मि अणंतमसंखं संखं च भागवड्ढीए।
संखमसंखमणंतं, गुणवड्ढी होंति हु कमेण।। 323।।

अर्थ-सर्व जघन्य पर्याय ज्ञान के ऊपर क्रम से अनन्तभागवृद्धि असंख्यातभागवृद्धि संख्यात भागवृद्धि संख्यात गुणवृद्धि असंख्यातगुणवृद्धि अनंतन्तगुणवृद्धि ये छह वृद्धि होती हैं।

जीवाणं च य रासी, असंखलोगा वरं खु संखेज्जं।
भागगुणम्हि य कमसो, अवट्ठिदा होंति छट्ठाणे।। 324।।

अर्थ-समस्त जीवराशि, असंख्यात लोकप्रमाण राशि, उत्कृष्ट संख्यात राशि ये तीन राशि पूर्वोक्त अनन्तभागवृद्धि आदि छह स्थानों में भागहार और गुणाकार की क्रम

से अवस्थित राशि हैं।

भावार्थ-अनन्तभागवृद्धि और अनन्तगुणवृद्धि इनका भागहार और गुणाकार समस्त जीव राशि प्रमाण अवस्थित है, असंख्यातभागवृद्धि और असंख्यातगुणवृद्धि इनका भागहार और गुणाकार असंख्यातलोकप्रमाण अवस्थित है। संख्यातभागवृद्धि संख्यातगुणवृद्धि इनका भागहार और गुणाकार उत्कृष्ट संख्यात अवस्थित है।

उव्वंकं चउरंकं, पणछस्सतंक अट्ठअंकं च।
छव्वड्ढीणं सण्णा, कमसो संदिट्ठिकरणट्ठं।। 325।।

अर्थ-लघुरूप संदृष्टि के लिये क्रम से छह वृद्धियों की ये छह संज्ञाएँ हैं। अनन्तभागवृद्धि की उर्वङ्क असंख्यातभागवृद्धि की चतुरङ्क, संख्यातभागवृद्धि की पंचाङ्क संख्यातगुणवृद्धि की षडङ्क, असंख्यातगुणवृद्धि की सप्ताङ्क, अनन्तगुणवृद्धि की अष्टाङ्क।

भावार्थ-अनन्तभाग आदि 6 वृद्धियों के सूचंक क्रम से ये छह संकेत है।। 3,4,5,6,7, और 8।

अंगुलअसंखभागे, पुव्वगवड्ढीगदे दु परवड्ढी।
एक्क वारं होदि हु पुणो पुणो चरिमउड्ढित्ती।। 326।।

अर्थ-सूच्यंगुल के असंख्यातवें भागप्रमाण पूर्ववृद्धि हो जाने पर एक बार उत्तर वृद्धि होती है। यह नियम अंत की वृद्धि पर्यन्त समझना चाहिये।

भावार्थ-सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग जितना प्रमाण है उतनी बार अनन्तभागवृद्धि हो जाने पर एक बार असंख्यातभागवृद्धि होती है, इसके अनन्तर पुनः सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग का जितना प्रमाण है उतनी बार अनन्तभागवृद्धि होने पर फिर एक बार असंख्यातभागवृद्धि होती है। इसी क्रम से असंख्यात भागवृद्धि भी जब सूच्यंगुल के असंख्यातवें भागप्रमाण बार हो जाय तथा सूच्यंगुल के असंख्यातवें भागप्रमाण अनन्तभागवृद्धि होने पर एक बार संख्यातभागवृद्धि होती है। इस ही तरह अन्त की वृद्धि पर्यन्त जानना।

आदिमछट्ठाणम्हि य, पंच य वड्ढी हवंति सेसेसु।
छव्वड्ढीओ होंति हु, सरिसा सवत्थ पदसंखा।। 327।।

अर्थ- असंख्यात लोक प्रमाण षट्स्थानों में से प्रथम षट्स्थान में पाँच ही वृद्धि होती है, अष्टांक वृद्धि नहीं होती। शेष सम्पूर्ण षट्स्थानों में अष्टांकसहित छहों वृद्धि होती हैं। सूच्यंगुल का असंख्यातवाँ भाग अवस्थित है, इसलिये पदों की संख्या सब जगह सदृश ही समझनी चाहिये।

प्रथम षट्स्थान में अष्टांकवृद्धि क्यों नहीं होती

छट्ठाणाणं आदी, अट्ठंकं होदि चरिममुव्वंकं।
जम्हा जहण्णणाणं, अट्ठंकं होदि जिणदिट्ठं।। 328।।

अर्थ-सम्पूर्ण षट्स्थानों आदि के स्थान को अष्टांक और अन्त के स्थान को उर्वङ्क कहते हैं, क्योंकि जघन्य पर्यायज्ञान भी अगुरुलघु गुण के अविभाग प्रतिच्छेदों की अपेक्षा अष्टांक प्रमाण होता है, ऐसा जिनेन्द्र देव ने प्रत्यक्ष देखा है।

एक्कं खलु अट्ठंकं, सत्तंकं कंडयं तदो हेट्ठा।
रूवहियकंडएण य, गुणिदकमा जावमुव्वंकं। 329।।

अर्थ-एक षट्स्थान में एक अष्टांक होता है। और सप्तांक अर्थात् असंख्यातगुणवृद्धि, काण्डक-सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण हुआ करती है। इसके नीचे षडंक अर्थात् संख्यातकगुणवृद्धि और पंचांक अर्थात् संख्यातभागवृद्धि तथा चतुरंक-असंख्यातभागवृद्धि एवं उर्वक-अनंतभागवृद्धि ये चार वृद्धियाँ उत्तरोत्तर क्रम से एक अधिक सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग से गुणित है।

भावार्थ- असंख्यातगुणवृद्धि का प्रमाण सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण है। इसको एक अधिक सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग से गुणित करने पर जो प्रमाण हो उतनी बार संख्यातगुणवृद्धि होंगी- पुनः इसका भी एक अधिक सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग से गुणा करने पर जो प्रमाण हो उतनी बार असंख्यातभागवृद्धि होगी। इसी तरह आगे भी पूर्व प्रमाण को एक-एक अधिक सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग से गुणित करने पर जी प्रमाण हो उतनी उतनी बार क्रम से असंख्यातभागवृद्धि और अनन्तभागवृद्धि होंगी।उदाहरणार्थ कल्पना कीजिए कि सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग का प्रमाण 2 है। तो एक षट् स्थान में सप्तांक 2 बार, षडंक 2×3=6 बार, पंचाक 6×3=18 बार, चतुरंक 18×3=54 बार और उर्वक 54×3=162 बार जावेगा।

सम्पूर्ण षट्वृद्धियों का जोड़

सव्वसमासो णियमा, रूवाहियकंडस्स वग्गस्स।
विंदस्स य संवग्गो, होदि त्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं।। 330।।

अर्थ-एक अधिक काण्डक के वर्ग और धन को परस्पर गुणा करने से जो प्रमाण लब्ध आवे उतना ही एक षट्स्थानपतित वृद्धियों के प्रमाण जोड़ है, ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है।

भावार्थ-एक अधिक सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग को पांच जगह रखकर परस्पर गुणा करने से जो लब्ध आवे उतनी बार एक षट्स्थान में अनन्तभागवृद्धि आदि होते हैं।

उक्कस्ससंखमेत्तं, तत्तिचऊथेक्कदालछप्पण्णं।
सत्तदसमं च भागं, गंतूण य लद्धिअक्खरं दुगुणं।। 331

अर्थ-एक अधिक काण्ड के गुणित सूच्यंगुल के असंख्यात वें भागप्रमाण अनन्तभागवृद्धि के स्थान, और सूच्यंगुल के असंख्यातवें भागप्रमाण असंख्यातवृद्धि के स्थान, इन दो वृद्धियों की जघन्य ज्ञान के ऊपर हो जाने पर एक बार संख्यातभाग वृद्धि का स्थान होता है। इसके आगे उक्त क्रमानुसार उत्कृष्ट संख्यातमात्र संख्यातभाग वृद्धियों हो जाने पर उसमें प्रक्षेपक वृद्धि के होने से लब्ध्यक्षर का प्रमाण दूना हो जाता है। परन्तु प्रक्षेपक की वृद्धि कहाँ-कहाँ पर कितनी कितनी होती है यह बताते हैं। उत्कृष्ट संख्यातमात्र पूर्वोक्त संख्यातभागवृद्धि के स्थानों में से तीन-चौथाई भागप्रमाण स्थानों के हो जाने पर प्रक्षेपक और प्रक्षेपकप्रक्षेपक इन दो वृद्धियों जघन्य ज्ञान के ऊपर हो जाने से लब्ध्यक्षर का प्रमाण दूना हो जाता है। पूर्वोक्त संख्यातभागवृद्धियुक्त उत्कृष्ट संख्यातमात्र स्थानों के छप्पन भागों में से इकतालिस भागों के बीत जीने पर प्रक्षेपक और प्रक्षेपकप्रक्षेपक की वृद्धि होने से साधिक(कुछ अधिक) जघन्य का दूना प्रमाण हो जाता है। अथवा संख्यातभाग वृद्धि के उत्कृष्ट संख्यातमात्र स्थानों में से दशभाग में सातभाग प्रमाण स्थानों अनन्तर प्रक्षेपक प्रक्षेपकप्रक्षेपकके तथा पिशुली इन तीन वृद्धियों को साधिक जघन्य के ऊपर करने से साधिक जघन्य का प्रमाण दूना होता है।

एवं असंखलोगा, अणक्खरप्पे हबंति छट्ठाणा।

ते पज्जायसमासा, अक्खरगं उवरि वोच्छामि।। 332।।

अर्थ- इस प्रकार अनक्षरात्मक श्रुतज्ञान में लोकप्रमाण षट्स्थान होते हैं। ये सब ही पर्याय समास ज्ञान के भेद हैं। अब इसके आगे अक्षरात्मक श्रुतज्ञान का वर्णन करेंगे।

अर्थ-अन्त के उर्वक का अर्थाक्षर समूह में भाग देने से जो लब्ध आवे उसको अन्त के उर्वक से गुणा करने पर अर्थाक्षर ज्ञान का प्रमाण होता है ऐसा जिनेन्द्र देव ने कहा है।

भावार्थ-असंख्यात-लोक प्रमाण षट्स्थानों में अन्त के षट्स्थान की अन्तिम उर्वक-वृद्धि से युक्त उत्कृष्ट पर्यायसमास ज्ञान से अनन्तगुणा अर्थाक्षर ज्ञान होता है। यह अर्थाक्षर सम्पूर्ण श्रुतज्ञानरूप है। इसमें एक कम एकट्ठी का भाग देने से जो लब्ध आवे उतना ही अर्थाक्षर ज्ञान का प्रमाण होता है।

श्रुतनिबद्ध विषय का प्रमाण

पण्णवणिज्जा भावा, अणंतभागो दु अणभिलप्पाणं।

पण्णवणिज्जाणं पुण, अणंतभागो सुदणिबद्धो।। 334।।

अर्थ-अनभिलप्य पदार्थों के अनन्तवें भाग प्रमाण प्रज्ञापनीय पदार्थ होते हैं। और प्रज्ञापनीय पदार्थों के अनन्तवें भाग प्रमाण श्रुत में निबद्ध हैं।

भावार्थ-जो केवल केवलज्ञान के द्वारा जाने जा सकते हैं; किन्तु जिनका वचन के द्वारा निरूपण नहीं किया जा सकता है ऐसे पदार्थ अनन्तानन्त है। इस तरह के पदार्थों से अनन्तवें भाग प्रमाण वे पदार्थ हैं कि जिनका वचन के द्वारा निरूपण हो सकता है, उनको प्रज्ञापनीय भाव कहते है। जितने प्रज्ञापनीय पदार्थ हैं उनका भी अनन्तवाँ भाग श्रुत में निरूपित है।

एयक्खरादु उवरिं, एगेगेणक्खरेण वड्ढंतो।

संखेज्जे खलु उड्ढे पदणामं होदि सुवणाणं।। 335।।

अर्थ- अक्षर ज्ञान के ऊपर क्रम से एक-एक अक्षर की वृद्धि होते होते जब संख्यात अक्षरों की वृद्धि हो जाय तब पदनामक श्रुतज्ञान होता है। अक्षर ज्ञान के ऊपर और पदज्ञान के पूर्व तक जितने ज्ञान के विकल्प हैं वे सब

अक्षरसमास ज्ञान के भेद हैं।

एक पद के अक्षरों का प्रमाण

सोलहस्सयचउतीसा, कोडी तियसीदिलक्खयं चेव।
सत्तसहस्साट्ठसया, अट्ठासीदी य पदवण्णा।। 336।।

अर्थ-सोलहसौ चौंतीस कोटि तिरासी लाख सात हजार आठ सौ अठासी(16348307888) एक पद में अक्षर होते हैं।

भावार्थ-पद तीन तरह के होते हें-अर्थ पद, प्रमाण पद, मध्यम पद। इनमें से ''सफेद गौ को रस्सी से बाँधो'' ''अग्नि को लाओ'' इत्यादि अनियत अक्षरों के समूह रूप किसी अर्थ विशेष के बोधक वाक्य को अर्थपद कहते हैं। आठ आदिक अक्षरों के समूह को प्रमाणपद कहते हैं, जैसे अनुष्टुप् श्लोक के एक पाद में आठ अक्षर होते हैं। इस ही तरह दूसरे छन्दों के पदों में भी तत्तत् छन्द के लक्षण के अनुसार नियत संख्या में अक्षरों का प्रमाण न्यूनाधिक होता है। परन्तु इस गाथा में कहे हुए पद के अक्षरों का प्रमाण सर्वदा के लिये निश्चित है, इस ही को मध्यपद कहते हैं। परमागम में द्रव्यश्रुत का ज्ञान कराने के लिये जहाँ पदों का प्रमाण बताया गया है वहाँ यह मध्यम पद ही समझना चाहिये शेष अर्थपद और प्रमाणपद लोक व्यवहार के अनुसार हुआ करते हैं।

संघात श्रुतज्ञान

एयपदादों उवरिं, एगेगेणक्खरेण वड्ढंतो।
संखेज्जसहस्सपदे, उड्ढे संघादणाम सुदं।। 337।।

अर्थ- एक पद के आगे भी क्रम से एक-एक अक्षर की वृद्धि होते होते संख्यात हजार पदों की वृद्धि हो जाय उसको संघातनामक श्रुतज्ञान कहते हैं। एक पद के ऊपर और संघातनामक ज्ञान के पूर्व जितने ज्ञान के भेद हैं वे सब पदसमास के भेद हैं। यह संघात नामक श्रुतज्ञान चार गति में से एक गति के स्वरूप का निरूपण करने वाले अपुनरुक्त मध्यम पदों के समूह से उत्पन्न अर्थज्ञानरूप है।

प्रतिपत्तिक श्रुतज्ञान के स्वरूप

एक्कदरगदिणिरूवयसंघादसुदादु उवरि पुव्वं वा।

वण्णे संखेज्जे संघादे उड्ढम्हि पडिवत्ती।। 338।।

अर्थ-- चार गति में से एक गति का निरूपण करने वाले संघात श्रुतज्ञान के ऊपर पूर्व की तरह क्रम से एक-एक अक्षर की तथा पदों और संघातों की वृद्धि होते होते जब संख्यात हजार संघात की वृद्धि हो जाय तब एक प्रतिपत्ति नामक श्रुतज्ञान होता है।संघात और प्रतिपत्ति श्रुतज्ञान के मध्य में जितने ज्ञान के विकल्प हैं उतने ही संघातसमास के भेद हैं। यह ज्ञान नरकादि चार गतियों का विस्तृत स्वरूप जानने वाला है।

अनुयोग श्रुतज्ञान का स्वरूप-

चउगइसरूवरूवयपडिवत्तीदो दु उवरि पुव्वं वा।
वण्णे संखेज्जे पडिवत्तीउड्ढम्हि अणियोगं।। 339।।

अर्थ- चारों गतियों के स्वरूप का निरूपण करने वाले प्रतिपत्ति ज्ञान के ऊपर क्रम से पर्व की तरह एक-एक अक्षर की वृद्धि होते होते जब संख्यात हजार प्रतिपत्ति की वृद्धि हो जाय तब एक अनुयोग श्रुतज्ञान होता है। इसके पहले और प्रतिपत्ति ज्ञान के ऊपर सम्पूर्ण प्रतिपत्तिसमास ज्ञान के भेद हैं। अन्तिम प्रतिपत्तिसमासज्ञान के भेद में एक अक्षर की वृद्धि होने से अनुयोग श्रुतज्ञान होता है। इस ज्ञान के द्वारा चौदह मार्गणाओं का विस्तृत स्वरूप जाना जाता है।

प्राभृतप्राभृतक का स्वरूप

चौदसमग्गणसंजुदअणियोगादुवरि वड्ढिदे वण्णे।
चउरादीअणियोगे दुगवारं पाहुडं होदि।। 340।।

अर्थ-चौदह मार्गणाओं का निरूपण करने वाले अनुयोग ज्ञान के ऊपर पूर्वोक्त क्रम के अनुसार एक एक अक्षर की वृद्धि होते होते जब चतुरादि अनुयोगों की वृद्धि हो जााय तब प्राभृतप्राभृतक श्रुतज्ञान होता है। इसके पहले और अनुयोग ज्ञान के ऊपर जितने ज्ञान के विकल्प हैं वे सब अनुयोग समास के भेद जानना।

अहियारो पाहुडयं, एयट्ठो पाहुडस्स अहियारो।
पाहुडपाहुडणामं, होदि त्ति जिणेहि णिदिट्ठं।। 341

अर्थ- प्राभृत और अधिकार ये दोनों शब्द एक ही अर्थ के वाचक हैं।

अतएव प्राभृत के अधिकार को प्राभृतप्राभृत कहते हैं, ऐसा जिनेन्ददेव ने कहा है।

भावार्थ- वस्तुनाम श्रुतज्ञान के एक अधिकार को प्राभृत और अधिकार के अधिकार को प्राभृतप्राभृत कहते हैं।

प्राभृत का स्वरूप

दुगवारपाहुडादो, उवरिं वण्णे कमेण चउवीसे।

दुगवारपाहुडे संउड्ढेखलु होदि पाहुडयं।। 342

अर्थ-प्राभृतप्राभृत ज्ञान के ऊपर पूर्वोक्त कर्म से एक-एक अक्षर की वृद्धि होते होते जब चौबीस प्राभृतप्राभृत की वृद्धि हो जाय तब एक प्राभृत श्रुतज्ञान होता है। प्राभृत के पहले और प्राभृतप्राभृत के ऊपर जितने ज्ञान के विकल्प हैं वे सब ही प्राभृतप्राभृतसमास के भेद जानना। उत्कृष्ट प्राभृतप्राभृतसमास के भेद में एक अक्षर की वृद्धि होने से प्राभृत ज्ञान होता है।

वस्तु श्रुतज्ञान का स्वरूप

वीसं वीसं पाहुडअहियारे एक्कवत्थुअहियारो।

एक्केक्कवण्ण उड्ढी, कमेण सव्वत्थ णायव्वा।।343

अर्थ-पूर्वोक्त क्रमानुसार प्राभृत ज्ञान के ऊपर एक-एक अक्षर की वृद्धि होते होते जब क्रम से बीस प्राभृत की वृद्धि हो जाय तब एक वस्तु अधिकार पूर्ण होता है। वस्तु ज्ञान के पहले और प्राभृत ज्ञान के ऊपर जितने विकल्प हैं वे सब प्राभृतसमास ज्ञान के भेद हैं। उत्कृष्ट प्राभृतसमास में एक अक्षर की वृद्धि होने से वस्तु नामक श्रुतज्ञान पूर्ण होता है।

भावार्थ- गाथा में 'वीसं-वीसं'' ऐसा वीप्सा वचन दिया है। इससे ऐसा समझना चाहिये कि एक एक वस्तु अधिकार में बीस बीस प्राभृत होते हैं और एक-एक प्राभृत में चौबीस चौबीस प्राभृत प्राभृत होते हैं। अक्षर समास के प्रथम भेद से लेकर उत्कृष्ट भेद पर्यन्त एक एक अक्षर की वृद्धि होती है। उसके बाद पद संघातादिक की भी वृद्धि उसी क्रम से पूर्वसमास के अन्तिम भेद तक-क्रियाविशालसमास के उत्कृष्ट स्थान पर्यन्त होती जाती है।

पूर्व ज्ञान के भेदों की संख्या

दस चोदसट्ठ अट्ठारसयं बारं च बार सोलं च।
वीसं तीसं पण्णारसं च दस चदुसु वत्थूणं।। 344।।

अर्थ- पूर्व ज्ञान के चौदह भेद हैं जिनमें से प्रत्येक में क्रम से दश, चौदह, आठ, अठारह, बारह, बारह, सोलह, बीस, तीस, पन्द्रह, दश, दश, दश, दश वस्तु नामक अधिकार हैं।

चौदह पूर्व के नाम

उप्पायपुव्वगाणियविरियपवादत्थिणत्थियपवादे।
णाणासच्चपवादे आदाकम्मप्पवादे य।। 345।।
पच्चक्खाणे विज्जाणुवादकल्लाणपाणवादे य।
किरियाविसालपुव्वे कमसोथ तिलोयविंदुसारे य।। 346।।

अर्थ-उत्पादपूर्व, आग्रायणीयपूर्व, वीर्यप्रवाद, अस्तिनास्तिप्रवाद, ज्ञानप्रवाद, सत्यप्रवाद, आत्मप्रवाद, कर्मप्रवाद, प्रत्याख्यान, वीर्यानुवाद, कल्याणवाद, प्राणवाद, क्रियाविशाल त्रिलोकबिन्दुसार, इस तरह ये क्रम से पूर्वज्ञान के चौदह भेद हैं।

भावार्थ- वस्तुज्ञान के ऊपर एक-एक अक्षर की वृद्धि के क्रम से पद संघातआदि की वृद्धि होते-होते जब क्रम से दश वस्तु की वद्धि हो जाय तब पहला उत्पादपूर्व होता है। इसके आगे क्रम से अक्षर पद संघातआदि की वृद्धि होते-होते जब चौदह वस्तु की वृद्धि हो जाय तब दूसरा आग्रायणीय पूर्व होता है। इसके आगे भी उसी प्रकार क्रम से अक्षर पद संघात आदि की वृद्धि होते-होते जब क्रम से आठ वस्तु की वृद्धि हो जाय तब तीसरा वीर्यप्रवाद होता है। इसके आगे क्रम से अक्षरादिक की वृद्धि होते होते जब अठारह वस्तु की वृद्धि हो जाय तब चौथा अस्तिनास्तिप्रवाद होता है। इस ही तरह आगे के पाँचवें आदिक पूर्व भी क्रम से बारह, बारह, सोलह, बीस तीस, पन्द्रह, दश, दश, दश, दश वस्तु की वृद्धि होने से होते हैं। अर्थात् अस्तिनास्तिप्रवाद के ऊपर क्रम से बारह वस्तु की वृद्धि होने से पाँचवाँ ज्ञानप्रवाद और ज्ञानप्रवाद के ऊपर भी क्रम से बारह वस्तु की वृद्धि होने से सत्यप्रवाद होता हैं इस ही तरह आगे के आत्मप्रवाद आदिक का प्रमाण भी समझना चाहिये।

चौदह पूर्व के समस्त वस्तु और उनके अधिकारभूत समस्त प्राभृतों के जोड़ का प्रमाण

पणणउदिसया वत्थू, पाहुडया तियसहस्सणवयसया।
एदेसु चोद्दसेसु वि, पुव्वेसु हवंति मिलिदाणि।। 347।।

अर्थ- इन चौदह पूर्वो के सम्पूर्ण वस्तुओं का जोड़ एकसौ पंचानवे (195)होता है। और एक-एक वस्तु में बीस बीस प्राभृत होते हैं, इसलिये सम्पूर्ण प्राभृतों का प्रमाण तीन हजार नौ सौ (3900) होता है।

अत्थक्खरं च पदसंघातं पडिवत्तियाणिजोगं च।
दुगवारपाहुडं च य पाहुडयं वत्थु पुव्वं च।। 348।।
कमवण्णुत्तरवड्ढिय, ताण समासा य अक्खरगदाणि।
णाणवियप्पे वीसं, गंथे, बारस य चोद्दसयं।। 349।।

अर्थ- अर्थाक्षर, पद, संघात, प्रतिपत्तिक, अनुयोग,प्राभृतप्राभृत, प्राभृत, वस्तु, पूर्व, ये नव तथा क्रम से एक-एक अक्षर की वृद्धि के द्वारा उत्पन्न होने वाले अक्षरसमास आदि नव इस तरह अठारह भेद द्रव्यश्रुत के होते हैं। पर्याय और पर्यायसमास के मिलाने से बीस भेद ज्ञानरूप श्रुत के होते हैं। यदि ग्रन्थरूप श्रुत की विवक्षा की जाय तो आचारङ्ग आदि बारह और उत्पादपूर्व आदि चौदह भेद होते हैं।

भावार्थ- द्रव्यश्रुत और भावश्रुत इस तरह से श्रुत के दो भेद किये गये हैं, उनमें शब्दरूप और ग्रन्थरूप सब द्रव्यश्रुत हैं और जो ज्ञानरूप है वह सब भावश्रुत है। गाथा के अन्त में जो ''च'' है उसे अंगबाह्य सामायिक आदि चौदह प्रकीर्णकों का भी ग्रहण कर लेना चाहिये।

द्वादशाङ्ग के समस्त पदों की संख्या

बारुत्तरसयकोडी, तेसीदी तह य होंति लक्खाणं।
अट्ठावण्णसहस्सा पंचेव पदाणि अंगाणं।। 350।।

अर्थ- द्वादशांग के समस्त पद एक सौ बारह करोड़ ब्यासी लाख अट्ठावन हजार पाँच सौ (1128358005) होते हैं।

अंगबाह्य अक्षर कितने हैं उनका प्रमाण

अडकोडिएयलक्खा अट्ठसहस्सा य एयसदिगं च।
पण्णत्तरि वण्णाओ, पइण्णयाणं पमाणं तु।। 351।।
अष्टकोट्येकलक्षाणि अष्टसहस्राणि च एकशतकं च।
पंचसप्ततिः वर्णाः प्रकीर्णकानां प्रमाणं तु।। 351

अर्थ- आठ करोड़ एक लाख आठ हजार एक सौ पचहत्तर(80108175) प्रकीर्णक(अंगबाह्य) अक्षरों का प्रमाण है।

तेत्तीस वेंजणाइं, सत्तावीसा सरा तहा भणिया।
चत्तारि य जोगवहा, चउसट्ठी मूलवण्णाओ।। 352।।

अर्थ- तेतीस व्यंजन सत्ताईस स्वर चार योगवाह इस तरह कुल चौंसठ मूलवर्ण होते हैं।

भावार्थ- स्वर के बिना जिन का उच्चारण न हो सके ऐसे अर्धाक्षरों को व्यंजन कहते हैं। उनके क् ख् से ह् पर्यन्त तेतीस भेद हैं। अ इ उ ऋ लृ ए ऐ ओ औ ये नव स्वर हैं, इनके ह्रस्व दीर्घ प्लुतकी अपेक्षा सत्ताईस भेद होते हैं। अनुस्वार विसर्ग जिह्वामूलीय उपध्मानीय ये चार योगवाह हैं। सब मिलकर चौंसठ अनादिनिधन मूलवर्ण हैं।

यद्यपि दीर्घ लृ वर्ण संस्कृत में नहीं है तब भी अनुकरण में अथवा देशान्तरों की भाषा में आता है, इसलिए चौंसठ वर्णों में इसका भी पाठ है।

चउसट्ठिपदं विरलिय, दुगं च दाउण संगुणं किच्चा।
रूऊणं च कए पुण, सुदणाणस्सक्खरा होंति।। 353।।

अर्थ- उक्त चौंसठ अक्षरों का विरलन करके प्रत्येक के ऊपर दो अङ्क देकर परस्पर सम्पूर्ण दो के अङ्कों का गुणा करने से लब्ध राशि में एक घटा देने पर जो प्रमाण रहता है उतने ही श्रुतज्ञान के अपुनरुक्त अक्षर होते हैं।

वे अक्षर कितने हैं उसका प्रमाण

एकट्ठ च य य छस्सत्तयं च च य सुण्णसत्ततियसत्ता।
सुण्णं णव पण पंच य एक्कं छक्केक्कगो य पणगं च।। 354।।

अर्थ- परस्पर गुणा करने से उत्पन्न होने वाले अक्षरों का प्रमाण इस प्रकार- एक आठ चार चार छह सात चार चार शून्य सात तीन सात शून्य नव पाँच पाँच एक

भावार्थ- 18446744073709551625 इतने अंगप्रवृष्ट और अंगबाह्य श्रुत के समस्त अपुनरुक्त अक्षर है। पुनरुक्त अक्षरों की संख्या का नियम नहीं है।

इन अक्षरों में से अंग प्रविष्ट और अंगबाह्य श्रुत के अक्षरों का विभाग

मज्झिमपदक्खरवहिदवण्णा ते अंगपुव्वगपदाणि।
सेसक्खरसंखा ओ, पइण्णयाणं पमाणं तु।। 355।।

अर्थ- मध्यम पद के अक्षरों का जो प्रमाण है उसका समस्त अक्षरों के प्रमाण में भाग देने से जो लब्ध आवे उतने अंग और पूर्वगत मध्यम पद होते हैं। शेष जितने अक्षर रहें उतना अंगबाह्य अक्षरों का प्रमाण है।

भावार्थ- पहले मध्यम पद के अक्षरों का प्रमाण बताया है कि एक मध्यम पद में सौलह सौ चौंतीस करोड़ तिरासी लाख सात हजार आठ सौ अठासी अक्षर होते हैं। जब इतने अक्षरों का एक पद होता है तब समस्त अक्षरों के कितने पद होंगे इस तरह त्रैराशिक करने से-अर्थात् फलराशि एक मध्यम पद और इच्छा राशि समस्त अक्षरों के प्रमाण का परस्पर गुणा कर उसमें प्रमाण राशि एक मध्यम पद के समस्त अक्षरों के प्रमाण का भाग देने से जो लब्ध आवे वह समस्त मध्यम पदों का प्रमाण 1128358005 होता है। इन समस्त मध्यम पदों के जितने अक्षर हुए वे अंगप्रविष्ट अक्षर हैं और जो शेष अक्षर रहे वे अंगबाह्य अक्षर[2] 801081175 है। गाथाओं में जो शब्द भव्यों को सम्बोधन करने के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। अर्थात् हे भव्यों! अंग पूर्वके पदों का और प्रकीर्णकों के अक्षरों का प्रमाण इस प्रकार समझो।

अंगो के और पूर्वो पदों की संख्या

आयारे सुद्दयडे, ठाणे समवायणामगे अंगे।
तत्तो विक्खापण्णत्तीए णाहस्स धम्मकहा।। 356।।
तोवासयअज्झयणे, अंतयडे णुत्तरोववाददसे।
पण्हाणं वायरणे, विवायसुत्ते य पदसंख्या।। 357।।

अर्थ- आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग, व्याख्याप्रज्ञप्ति, धर्मकथांग,

उपासकाध्ययनांग, अन्तकृद्दशांग, अनुत्तरौपपादिकदशांग, प्रश्नव्याकरण और विपाकसूत्र इन ग्यारह अंगों के पदों की संख्या क्रम से निम्नलिखित है।

अट्ठारस छत्तीसं, बादालं अडकडी अड वि छप्पण्णं।
सत्तरि अट्ठावीसं, चउदालं सोलससहस्स।। 358।।
इगिदुगपंचेयारं, तिवीसदुतिणउदिलक्ख तुरियादी।
चुलसीदिलक्खमेया, कोडी य विवागसुत्तम्हि।। 359।।

अर्थ- आचारांग में अठारह हजार पद हैं, सूत्रकृतांग में छत्तीस हजार, स्थानांग में बियालीस हजार, समवायांग में एक लाख चौंसट हजार, व्याख्याप्रज्ञप्ति में दो लाख अट्ठाइस हजार, धर्मकथांग में पाँच लाख छप्पन हजार, उपासकाध्ययनांग में ग्यारह लाख सत्तर हजार अंतकृद्दशांग में तेईस लाख अट्ठाईस हजार, अनुत्तरौपपादिक दशांग में बानवे लाख चवालिस हजार, प्रश्न व्याकरण अंग में तिरानवे लाख सोलह हजार पद हैं। तथा ग्यारहवें विपाकसूत्र अंग में एक करोड़ चौरासी लाख पद हैं।

सम्पूर्ण पदों का जोड़

वापणनरनोनानं, एयारंगे जुदी हु वादम्हि।
कनजतजमताननमं, जनकनजयसीम बाहिरे वण्णा।। 360।।

अर्थ- पूर्वोक्त ग्यारह अंगों के पदों का जोड़ चार करोड़ पन्द्रह लाख दो हजार (41502000) होता है। बारहवें दृष्टिवाद अंग में सम्पूर्ण पद एक अरब आठ करोड़ लाख छप्पन हजार पाँच (1086856005 होते हैं। अंगबाह्य अक्षरों का प्रमाण आठ करोड़ एक लाख आठ हजार एक सौ पचहत्तर (80108175) है।

बारहवें अंग के भेद और उनके पदों का प्रमाण

चंदरविजंबुदीवयदीवसमुद्दयवियाहपण्णत्ती।
परियम्मं पंचविहं सुत्तं पढमाणिजोगमदो।। 361
पुव्वं जलथलमाया आगासयरूवगयमिमा पंच।
भेदा हु चूलियाए तेसु पमाणं इणं कमसो।। 362।।

अर्थ- बारहवें दृष्टिवाद अंग के पाँच भेद हैं- परिकर्म सूत्र प्रथमानुयोग पूर्वगत चूलिका। इसमें परिकर्म के पाँच भेद हैं- चन्द्रपज्ञप्ति सूर्यप्रज्ञप्ति जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति

द्वीपसागरप्रज्ञप्ति व्याख्याप्रज्ञप्ति। सूत्र का अर्थ सूचित करने वाला है इस भेद में जीव अबंधक ही है, अकर्ता ही है, निर्गुण ही है अभोक्ता ही है, स्वप्रकाशक ही है, परप्रकाशक ही है,अस्तिरूप ही है, नास्तिरूप ही है, इत्यादि क्रियावाद अक्रियावाद अज्ञान विनयरूप 363 मिथ्यामतों को पूर्वपक्ष में रखकर दिखाया गया है। प्रथमानुयोग का अर्थ है कि प्रथम अर्थात् मिथ्यादृष्टि या अव्रतिक अव्यूत्पन्न श्रोता को लक्ष्य करके जो प्रवृत्त हो। इसमें 63 शलाका पुरुषों आदि का वर्णन किया गया है। पूर्वगत के चौदह भेद है, जिनका वर्णन आगे करेंगे। चूलिका के पाँच भेद है; जलगता स्थलगता मायागता आकाशगता रूपगता। अब इनके पदों का प्रमाण क्रम से बताते हैं।

गतनम मनगं गोरम मरगत जवगातनोननं जजलक्खा।
मननन धममननोननननामं रनधजधरानन्जलादी।। 363।।
याजकनामेनाननमेदाणि पदाणि होंति परिकम्मे।
कानवधिवाचनाननमेसी पुण चूलियाजोगो।। 364।।

अर्थ- क्रम से चन्द्रप्रज्ञप्ति में छत्तीस लाख पाँच हजार; सूर्यप्रज्ञप्ति में पाँच लाख तीन हजार, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में तीन लाख पच्चीस हजार, द्वीपसागरप्रज्ञप्ति में बावन लाख छत्तीस हजार, व्याख्याप्रज्ञप्ति में चौरासी लाख छत्तीस हजार पद हैं। सूत्र में अठासी लाख पद हैं। प्रथमानुयोग में पाँच हजार पद हैं। चौदह पूर्वों में पंचानवे करोड़ पचास लाख पाँच पद हैं। पाँचों चुलिकाओं में से प्रत्येक में दो करोड़ नौ लाख नवासी हजार दो सौ पद हैं। चन्द्राप्रज्ञप्ति आदि पांच प्रकार के परिकर्म के पदों का जोड़ एक करोड़ इक्यासी लाख पाँच हजार है। पाँच प्रकार की चूलिकाके पदों का जोड़ दश करोड़ उनचास लाख छयालीस हजार (104946000) है

भावार्थ- यहाँ पर जो अक्षर तथा पदों का प्रमाण बताया है वह अपुनरुक्त अक्षर तथा पदों का प्रमाण समझना।

1. अक्षरों से अंकों का बोध कराने की रीति गाथा न. 158 की टीकामें कटपयपुरस्थवर्णेः आदि गाथा द्वारा बताई गई हैं। उसी के अनुसार अक्षरों से अंकों की जानकर पदों की प्रमाण संख्या समझ लेनी चाहिये- चन्द्रप्रज्ञप्ति के गतनमनोननं- 3605000। सूर्यप्रज्ञाप्ति के मनगंनोननं 503000। जम्बूद्वीप्रज्ञप्ति के गोरम नोनन- 325000। द्वीपसागरप्रज्ञप्ति के मरगतनोनमं 5236000। व्याख्याप्रज्ञप्ति के जवगातनोननं-

8436000। सूत्र के जललक्खा-8800000। प्रथमानुयोग के मननन-5000। चौदह पूर्वों के धममननोननननामं - 955000005। प्रत्येक चूलिका के रनधजधराननं-20989200। परिकर्म के याजकनामे नानम- 18105000। चूलिका के कानवधिवाचनाननं-104946000। यही प्रमाण टीका में वाक्य द्वारा बताया गया है।

चौदह पूर्वों में से प्रत्येक पूर्व के पदों का प्रमाण

पण्णट्ठदाल पणतीस तीस पण्णास पण्ण तेरसदं।
णउदी दुदाल पुव्वे पणवण्णा तेरससयाइं।। 365।।
छस्सयपण्णासाइं चउसयपण्णास छसयपणुवीसा।
विहि लक्खेहि दु गुणिया पंचम रूऊण छज्जुदा छेट्ठे।। 366

अर्थ- दोनों गाथाओं में उत्पादपूर्व आदि 15 पूर्वों की बताई गई संख्या को दो लाख से गुणा करना चाहिये। विशेष यह है कि इस तरह से गुणित करने पर जो संख्या उत्पन्न हो उनमें से पांचवें पूर्वकी संख्या निकालने के लिए एक कम कर देना चाहिये और छट्ठे पूर्व का प्रमाण जानने के लिये छह जोड़ देना चाहिये। ऐसा करने से पूर्वों का नियत प्रमाण निकल आता है। दो लाख से गुणा जिस जिस संख्या के साथ करना चाहिये वह उत्पादपूर्वादिकी गाथोक्त संख्या क्रम से इस प्रकार है-उत्पादपूर्व की 50, आग्रायणीय 48, वीर्यप्रवाद 35, अस्तिनास्तिप्रवाद 30, ज्ञानप्रवाद 50, सत्यप्रवाद 50, आत्मप्रवाद 1300, कर्मप्रवाद 90, प्रत्याख्यान 42, विद्यानुवाद 55, कल्याणवाद 1300, प्राणवाद 650 क्रियाविशाल 450, त्रिलोकबिन्दुसार 625।

भावार्थ- ऐसा करने पर प्रत्येक पूर्व के पदों का जो प्रमाण होगा वह इस प्रकार है-चौदह पूर्वों में से क्रम से प्रथम उत्पादपूर्व में एक करोड़ पद हैं। दूसरे आग्रायणीय पूर्व में छयानवे लाख पद हैं। तीसरे वीर्यप्रवाद में सत्तर लाख पद हैं। चतुर्थ अस्तिनास्तिप्रवाद पूर्व में साठ लाख पद हैं। पाँचमें ज्ञानप्रवाद में एक कम एक करोड़ (9999999) पद है। छट्ठे सत्यप्रवाद पूर्व में एक करोड़ घह (1000006) पद हैं। सातवें आत्मप्रवाद में छब्बीस करोड़ पद हैं। आठवें कर्मप्रवाद पूर्व में एक करोड़ अस्सी लाख पद हैं। नौवें प्रत्याख्यान पूर्व में चउरासी लाख पद हैं। दशवें विद्यानुवाद पूर्व में एक करोड़ दस लाख पद हैं। ग्यारहवें कल्याणवाद पूर्व में छब्बीस करोड़ पद हैं। बारहवें प्राणवाद पूर्व में तेरह करोड़ पद हैं। तेंरहवें क्रियाविशाल पूर्व में

नौ करोड़ पद है। चौदहवें त्रिलोकबिन्दुसार में बारह करोड़ पचास लाख पद हैं। इन चौदह पूर्वों में से किस पूर्व में कितने कितने पद हैं यह इन दो गाथाओं में बता दिया है। किन्तु अब प्रकरण पाकर यहाँ पर द्वादशांग तथा चौदह पूर्वों में किस किस विषय का वर्णन है यह संक्षेप से विशेष बताया जाता है। प्रथम आचारांग में किस तरह आचरण करे ? किस तहर खड़ा हो? किस तरह बैठे ? किस तरह शयन करे ? किस तरह भाषण करे ? किस तरह भोजन करे ? जिससे कि पापबन्ध न हो। अर्थात् किस तरह से इन क्रियाओं के तथा अन्य भी इस तरह की क्रियाओं के करने पर भी पाप का बन्ध नहीं होता ?'' इत्यादि प्रश्नों के अनुसार ''यत्नपूर्वक आचरण करे, यत्नपूर्वक खड़ा हो, यत्नपूर्वक बैठे, यत्नपूर्वक शयन करे, यत्नपूर्वक भाषण करे, यत्नपूर्वक भोजन करे, इस तरह से पाप का बन्ध नहीं होता।'' अर्थात् किसी भी क्रिया के यत्नाचार पूर्वक प्रमाद रहित होकर करने पर पाप का बन्ध नहीं होता। इत्यादि उत्तररूप वाक्यों द्वारा मुनियों के समस्त आचरण का वर्णन है दूसरे सूत्रकृतांग में ज्ञानविनय आदि निर्विघ्न अध्ययनक्रिया का अथवा प्रज्ञाप्रभा कल्पाकल्प छेदोपस्थापना आदि व्यवहारधर्मक्रियाका तथा स्वसमय और परसमयका स्वरूप सूत्रों के द्वारा बताया गया है। तीसरे स्थानांग में सम्पूर्ण द्रव्यों के एक से लेकर कितने विकल्प हो सकते हैं उन विकल्पों का वर्णन किया है। जैसे सामान्य की अपेक्षा से जीवद्रव्य का एक ही स्थान(विकल्प=भेद) है, संसारी और मुक्तकी अपेक्षा से दो भेद हैं, उत्पाद व्यय ध्रौव्य की अपेक्षा से तीन भेद हैं, चार गतियों से चार भेद हैं। इस ही तरह पुद्गल आदिक द्रव्यों के भी विकल्प समझना। चौथे समवायांग में सम्पूर्ण द्रव्यों में परस्पर किस किस धर्म की अपेक्षा से सादृश्य है यह बताया है। पाँचवें व्याख्याप्रज्ञप्ति अंग में जीव है या नहीं ? वक्तव्य है अथवा अवक्तव्य है ? नित्य है या अनित्य है ? एक है या अनेक है ? इत्यादि गणधरदेव के साठ हजार प्रश्नों का व्याख्यान है। छट्ठे नाथधर्मकथा अथवा ज्ञातृधर्मकथा अंग में जीवादि वस्तुओं का स्वभाव, तीर्थंकरों का माहात्म्य, तीर्थकरों की दिव्यध्वनि का समय तथा माहात्म्य, उत्तम क्षमा आदि दश धर्म, सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रयधर्म का स्वरूप बताया है। तथा गणधर इन्द्र चक्रवर्ती आदि की कथा उपकथाओं का वर्णन है। सातवें उपासकाध्ययन अंग में उपासकों की (श्रावकों की) सम्यग्दर्शनादि ग्यारह प्रतिमासम्बन्धी व्रत गुण शील आचार तथा दूसरे क्रियाकाण्ड और उनके

मन्त्रादिकों का सविस्तार वर्णन किया है। आठवें अन्तकृद्दशांग में प्रत्येक तीर्थंकरके तीर्थ में जो दश दश मुनि चार प्रकार का उपसर्ग सहन करके संसार के अन्त को

1. कथं चरे, कथं चिट्ठे कथमा से कथं सए, कथं भुंजीज्ज भासेज्ज जदी पावं ण बंधई' इसके उत्तर में ''जदंचरे जदं चिटठे जदमासे जदं सये, जदं भुंजोज्ज भासेज्ज एवं पावं ण बंधई'' इत्यादि।
2. काचरंते-मोक्षमार्गमाराधयान्त अस्मिन्ननेनेति वा आचारः।
3. सूत्रे-कृतं-करणं-क्रिया विशेषः वर्ण्यते यस्मिन् तत् सूत्रकृतम्।
4. एकाद्येकोत्तराणि स्थानानि तिष्ठन्ति यस्मिन् तत् स्थानं।
5. द्रव्यक्षेत्रकालभावानाश्रित्य जीवाद्यर्थां संग्रहेण-सादृश्यसामान्येन अवेयन्ते ज्ञायन्ते यस्मिन् तत् समवायम्।
6. वि-विविधाः आख्याः- गणधरदेवकृतषष्टिसहस्रप्रश्नानि प्र-प्रकर्षेण ज्ञाप्यन्ते यत्र सा व्याख्याप्रज्ञप्तिः।
7. नाथा-त्रिलोकेश्वरस्वामिनस्तीर्थंकरास्तेषां धर्मकथा। अथवा ज्ञातृणां तीर्थंकरादीनां धर्मकथा।
8. आहारादिदानैः पूजाविधानैश्च संघमुपासंते उपासकास्ते अधीयंते-पठयन्ते-वर्ण्यन्ते यस्मिन् तत् उपासकाध्ययनं।
9. एक तीर्थकर के अनन्तर जब तक दूसरा तीर्थंकर उत्पन्न न हो तब तक के समय को प्रथम तीर्थंकर का तीर्थ कहते हैं।

प्राप्त हुए उनका वर्णन है। नौवे अनुत्तरोपादिकदशांग में प्रत्येक तीर्थंकरके तीर्थ में होने वाले उन दश-दश दश मुनियों का वर्णन है जो कि घोर उपसर्ग को सहन करके अन्त में समाधिके द्वारा अपने प्राणों का त्याग करके विजय आदि पाँच प्रकार के अनुत्तर विमानों में उत्पन्न हुए। दशवें प्रश्न व्याकरण अंग में दूतवाक्य नष्ट मुष्टि चिन्ता आदि अनेक प्रकार के प्रश्नों के अनुसार तीन काल सम्बन्धी धन-धान्यादिका लाभालाभ सुख दुःख जीवन मरण जय पराजय आदि फलका वर्णन है। और प्रश्न के अनुसार आक्षेपणी विक्षेपणी संवेजनी निर्वेजनी इन चार प्रकार की कथाओं का वर्णन है।

ग्यारहवें विपाकसूत्र में द्रव्य क्षेत्र काल भाव के अनुसार शुभाशुभ कर्मों की तीव्र मंद मध्यम आदि अनेक प्रकार की अनुभाग- शक्ति के फल देने रूप विषय का वर्णन है। बारहवें दृष्टिवाद अंग में तीन सौ त्रेसठ मिथ्या मतों का वर्णन और उनका निराकरण है। दृष्टिवाद अंग के पाँच भेद हैं- परिकर्म सूत्र प्रथमानुयोग पूर्वगत चूलिका। परिकर्म में गणित के करणसूत्रों का वर्णन है। इसके पाँच भेद हैं, चन्द्रप्रज्ञप्ति सूर्यप्रज्ञप्ति जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति द्वीप सागरप्रज्ञप्ति व्याख्याप्रज्ञप्ति। चन्द्रप्रज्ञप्ति में चन्द्रमा सम्बन्धी विमान आयु परिवार ऋद्धि गमन हानि वृद्धि पूर्ण ग्रहण अर्ध ग्रहण चतुर्थांद्यंश ग्रहण आदि का वर्णन है। इसी प्रकार सूर्यप्रज्ञप्ति में सूर्य सम्बन्धी आयु परिवार गमन ग्रहण आदि का वर्णन है। जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में जम्बूद्वीपसम्बन्धी मेरु कुलाचल महाह्रद (तलाव) क्षेत्र कुण्ड वेदिका वान व्यन्तरों के आवास महानदी आदि का वर्णन है। द्वीपसागरप्रज्ञप्ति में असंख्यात द्वीप और समुद्रों का स्वरूप तथा वहाँ पर होने वाले अकृत्रिम चैत्यालयों आदि का वर्णन है। व्याख्याप्रज्ञप्ति में रूपी अरूपी जीव अजीव द्रव्यों का भव्य अभव्य-भेद प्रमाण लक्षणों का अनन्तसिद्ध परम्परासिद्धों का तथा दूसरी वस्तुओं का भी वर्णन है। दृष्टिवाद के दूसरे भेद-सूत्र में तीनसौ त्रेसठ मिथ्यादृष्टियों का पूर्व पक्षपूर्वक निराकरण है। तीसरे भेद प्रथमानुयोग में त्रेसठ शलाका पुरुषों का वर्णन है। चौथे पूर्व के चौदह भेद हैं। उनमें किस किस विषय का वर्णन है यह संक्षेप से क्रम से बताते हैं। उत्पादपूर्व में प्रत्येक द्रव्य के उत्पाद व्यय ध्रौव्य और उनके संयोगी धर्मों का वर्णन है। आग्रायणीय पूर्व में द्वादशांग में प्रधानभूत सातसो सुनय तथा दुर्नय पंचास्तिकाय षड् द्रव्य सप्त तत्व नव पदार्थ आदि का वर्णन है। वीर्यानुवाद में आत्मवीर्य परवीर्य उभयवीर्य बालवीर्यं तपोवीर्य गुणवीर्य पर्यायवीर्य आदि अनेक प्रकार के वीर्य (सामर्थ्य) का वर्णन है। अस्तिनास्तिप्रवाद में स्यादस्ति स्यान्नास्ति आदि सप्तभंगी का वर्णन है। ज्ञानप्रवाद में मति श्रुत अवधि मनःपर्यय केवलरूप प्रमाण ज्ञान, तथा कुमति कुश्रुत विभंगरूप अप्रमाण ज्ञान के स्वरूप संख्या विषय फल का वर्णन है। सत्यप्रवाद में आठ प्रकार के शब्दोंच्चारण के स्थान[2], पाँच प्रयत्न[3], वाक्यसंस्कार के कारण, शिष्ट दुष्ट शब्दों के प्रयोग, लक्षण[4] वचन के भेद बारह प्रकार की भाषा[5] अनेक प्रकार के असत्यवचन, दश प्रकार का सत्यवचन वाग्गुप्ति मौन आदि का वर्णन है। आत्मप्रवाद में आत्मा के कर्तृत्व आदि का वर्णन है। कर्मप्रवाद में मूलोत्तर प्रकृति तथा बंध उदय

उदीरणा आदि की अनेक अवस्थाओं का वर्णन है। प्रत्याख्यानपूर्व में नाम स्थापना द्रव्य क्षेत्र काल भाव, पुरुष के संहनन आदि की अपेक्षा से सदोष वस्तु का त्याग, उपावास की विधि, पाँच समिति, तीन गुप्ति आदि का वर्णन है। विद्यानुवाद में अंगुष्ठप्रसेना आदि सातसौ अल्पविद्या, तथा रोहिणी आदि पाँच सौ महाविद्याओं का स्वरूप सामर्थ्य मन्त्र तन्त्र व्यंजन छिन्न इन आठ महानिमित्तों का फल और अन्तरिक्ष भौम अंग स्वर स्वप्न लक्षण व्यंजन छिन्न इन आठ महानिमित्तों का वर्णन है। कल्याणवाद में तीर्थंकरादिके गर्भावतरणादि कल्याण, उनके कारण पुण्यकर्म षोडश भावना आदि का, तथा चन्द्र सूर्य ग्रह नक्षत्रों के तारका एवं ग्रहण शकुन आदि के फल का वर्णन है। प्राणावाद में कायचिकित्सा आदि आठ प्रकार के आयुर्वेद का, इडा पिंगला आदि का, दश प्राणों के उपकारक अपकारक द्रव्यों का गतियों के अनुसार वर्णन किया है। क्रिया विशाल में संगीत छंद अलंकार पुरुषों की बहत्तर कला स्त्री के चौंसठ गुण, शिल्पादि विज्ञान, गर्भाधानादि क्रिया, नित्य नैमित्तिक क्रियाओं का वर्णन है। त्रिलोकबिन्दुसार में लोक का स्वरूप, छत्तीस परिकर्म, आठ व्यवहार, चार बीज, मोक्ष का स्वरूप, उसके गमन का कारण, क्रिया, मोक्ष सुख के स्वरूप का वर्णन है। दृष्टिवादनामक बारहवें अंग का पांचवा भेद चूलिका है। उसके पांच भेद हैं, जलगता, स्थलगता, मायागता, आकाशगता, रूपगता। इनमें से जलगता में जलगमन अग्निस्तम्भन अग्निभक्षण अग्नि का आसन अग्नि प्रवेश आदि के मन्त्र तन्त्र तपश्चर्या आदि का वर्णन है। स्थलगता में मेरु कुलाचल भूमि आदि में प्रवेश शीघ्रगमन आदि के कारण मन्त्र तन्त्र आदि का वर्णन है। मायागता में इन्द्रजाल सम्बन्धी मन्त्रादिका वर्णन है। आकाशगता में आकाशगमन के कारण मन्त्र तंत्र आदि का वर्णन है। रूपगता में सिंहादिक अनेक प्रकार के रूप बनाने के कारणभूत मन्त्रादिका वर्णन है।

अंगबाह्य श्रुत के भेद

सामइयचउवीसत्थयं तदो वंदणा पडिक्कमणं।
वेणइयं किदियम्मं दसवेयालं च उत्तरज्झयणं।। 367।।
कप्पववहारकप्पाकप्पियमहकप्पियं च पुंडरियं।
महपुंडरीयणिसिहियमिदि चोद्दसमंगबाहिरयं।। 368।।

अर्थ- सामायिक चतुर्विंशस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, वैनयिक, कृतिकर्म, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन,कल्पव्यवहार, कल्पाकल्प्य, महाकल्प्य, पुंडरीक, महापुंडरीक, निषिद्विका ये अंगबाह्यश्रुत के चौदह भेद है ।

श्रुतज्ञान का महात्म्य

सुदकेवलं च णाणं, दोण्णि वि सरिसाणि होंति बोहादो।
सुदणाणं तु परोक्खं, पच्चक्खं केवलं णाणं।। 369।।

अर्थ- ज्ञान की अपेक्षा श्रुतज्ञान तथा केवलज्ञान दोनों ही सदृश हैं। परन्तु दोनों में अन्तर यही है कि श्रुतज्ञान परोक्षा है और केवलज्ञान प्रत्यक्ष है।

भावार्थ-जिस तरह श्रुतज्ञान सम्पूर्ण द्रव्य और पर्यायों को जानता है उस ही तरह केवल ज्ञान भी सम्पूर्ण द्रव्य और पर्यायों को जानता है। विशेषता इतनी ही है कि श्रुतज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता से होता है, इसलिये परोक्ष-अविशद अस्पष्ट है। इसकी अमूर्त पदार्थों में और उनकी अर्थपर्यायों तथा दूसरे सूक्ष्म अंशों में स्पष्ट रूप से प्रवृत्ति नहीं होती। किन्तु केवलज्ञान निरावरण होने के उपरान्त समस्त पदार्थों और उनके सम्पूर्ण गुणों तथा पर्यायों को स्पष्टरूप से विषय करता है। स्थूल अंश को अवधिज्ञान की तरह साक्षात्कार करने में असमर्थ है। किन्तु समस्त ज्ञानावरण और वीर्यान्तराय के क्षय से उत्पन्न केवलज्ञान पूर्ण रूप से स्पष्ट होता है। मूर्त अमूर्त, अर्थपर्याय, व्यंजनपर्याय, स्थूल अंश, सूक्ष्म अंश सभी में उसकी प्रवृत्ति है और सभी को साक्षात् जानता है। अक्ष अर्थात् आत्मा से ही जो ज्ञान होता है, परकी अपेक्षा नहीं करता, उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। उपात्त इन्द्रियादि और अनुपात्त प्रकाशादि पर कारणों की अपेक्षा से होने वाला ज्ञान परोक्ष है। इस प्रकार निरुक्ति से सिद्ध लक्षणों के भेद से श्रुतज्ञान और केवलज्ञान में समानता नहीं है। स्वामी समन्तभद्र ने भी निरुक्ति से अपने आप्तमीमांसा ग्रन्थ में कहा है-

स्याद्वाद अर्थात् श्रुतज्ञान और केवलज्ञान दोनों ही सर्व तत्त्वों के प्रकाशक हैं, किन्तु भेद यही है कि केवलज्ञान साक्षात् प्रत्यक्ष जानता है और श्रुतज्ञान परोक्ष जानता है। जो इन दोनों ज्ञानों में से एक का भी विषय नहीं है, वह अवस्तु है।।

अध्ययाय IV

अवधिज्ञान का कथन

अवहीयदित्ति ओही सीमाणाणेत्ति वण्णियं समये।
भवगुणपच्चयविहिय जमीहिणाणेत्ति णं बेंति।। 370।।

'अवधीयते' अर्थात् द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव के द्वारा जिसका परिमाण किया जाता है, वह अवधि है। अर्थात् जैसे मति, श्रुत और केवलज्ञान का विषय द्रव्यादि की अपेक्षा अपरिमित है, वैसा इसका नहीं है। परमागम में जो तीसरा सीमा विषयक ज्ञान कहा है उसे अर्हन्त आदि अवधिज्ञान कहते हैं। भव अर्थात् नरकादि पर्याय और गुण अर्थात् सम्यग्दर्शन विशुद्धि आदि। भव और गुण जिन के कारण हैं वे भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय नामक अवधिज्ञान हैं। इस तरह अवधिज्ञान के दो भेद हैं।।

भवपच्चइगो सुरणिरयाणं तित्थेवि सव्वअंगुत्थो।
गुणपच्चइगो णरतिरियाणं संखादिचिन्हभवो।। 371

उनमें से भवप्रत्यय अवधिज्ञान देवों, नारकियों और चरमशरीरी तीर्थंकरों के होता है। तथा यह समस्त आत्मा के प्रदेशों में वर्तमान अवधिज्ञानावरण और वीर्यान्तराय नामक दो कर्मों के क्षयोपशम से उत्पन्न होता है, इसलिए इसे सर्वांग से उत्पन्न कहा जाता है। गुण-प्रत्यय अवधिज्ञान पर्याप्त मनुष्यों के और संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त तिर्यंचोके हि होता है। और वह उनके शंख आदि चिह्नों से उत्पन्न होता है। अर्थात् नाभि से ऊपर पद्म, स्वस्तिक,गच्छ, कलश आदि शुभ चिह्नों से युक्त आत्माप्रदेशों में स्थित अवधिज्ञानावरण और वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होता है। भवप्रत्यय अवधिज्ञान में भी सम्यग्दर्शन, विशुद्धि आदि गुण रहते हैं फिर भी उसकी उत्पत्ति में उन गुणों की अपेक्षा नहीं होती, मात्र भवधारण करने से ही अवधिज्ञान होता है, इसलिए उसे भवप्रत्यय कहते हैं। गुणप्रत्यय अवधिज्ञान में यद्यपि मनुष्य और तिर्यंच का भव रहता है, फिर भी अवधिज्ञान की उत्पत्ति में उसकी अपेक्षा नहीं होती, केवल सम्यग्दर्शनादि गुणों के कारण ही अवधिज्ञान प्रकट होता है, इसलिए वह गुणप्रत्यय कहा जाता है।

गुणपच्चइगो छद्धा अणुगवट्ठिदपवड्ढमाणिदरा।

देसीही परमोही सव्वोहित्ति य तिधा ओही।। 372।।

गुण प्रत्यय अवधिज्ञान, अनुगामी, अननुगामी, अवस्थित, अनवस्थित, वर्धमान, हीयमान भेद से छह प्रकार का है। उनमें से जो अवधिज्ञान अपने स्वामी जीव का अनुगमन करता है, वह अनुगामी है। वह तीन प्रकार का है- क्षेत्रानुगामी, भवानुगामी और उभयानुगामी। जो 1वधिज्ञान अपने उत्पत्ति से अन्य क्षेत्र में जाने वाले जीव के साथ जाता है, किन्तु भवान्तर में साथ नहीं जाता, वह क्षेत्रानुगामी है। जो उत्पत्तिक्षेत्र से स्वामी का मरण होने पर दूसरे भव भी साथ जाता है, वह भवानुगामी है। जो अपने उत्पत्ति क्षेत्र और भव से अन्यत्र भरत, ऐरावत, विदेह आदि क्षेत्र में और देव, मनुष्य आदि के भव में जीव का अनुगमन करता है, वह उभयानुगामी है। जो अवधिज्ञान अपने स्वामी का अनुगमन नहीं करता, वह अननुगामी है। वह भी क्षेत्रानुगामी, भवानुगामी, उभयानुगामी के भेद से तीन प्रकार का है। जो अवधि अन्य क्षेत्र में नहीं जाता, अपने उत्पत्ति क्षेत्र में ही नष्ट हो जाता है, भवान्तर में जाये या न जावे, वह क्षेत्रानुगामी है। जो अन्य भव में साथ नहीं जाता, अपने उत्पत्तिभव में ही छूट जाता, अन्य क्षेत्र में जाये या न जाये, वह भवानुगामी है। जो न अन्य क्षेत्र में साथ जाता है और न अन्य भव में साथ जाता है अपने उत्पत्ति क्षेत्र और भव में ही छूट जाता है, वह क्षेत्र भवानुगामी है। जो हानि-वृद्धि के बिना सूर्यमण्डल की तरह एक रूप ही रहता है, वह अवस्थित है। जो कभी बढ़ता है, कभी घटता है, कभी तद्वस्थ रहता है,वह अनवस्थित है। जो शुक्लपक्ष के चन्द्रमण्डल की तरह अपने उत्कृष्टपर्यन्त बढ़ता है, वह वर्धमान है। जो कृष्ण पक्ष के चन्द्रमण्डल की तरह अपने क्षयपर्यन्त घटता है, वह हीयमान है। तथा सामान्य से अवधिज्ञान देशावधि, परमावधि, सर्वावधि के भेद से तीन प्रकार है। इस प्रकार गुणप्रत्यय देशावधि छह प्रकार है। परमावधि सर्वाविधि नही।

भवपच्चइगो ओहो देसोही होदि परमसव्वोही।
गुणपच्चइगो णियमा णियमा देसोही वि य गुणे होदि।। 373।।

पूर्वोक्त भवप्रत्यय अवधि नियम से देशावधि ही होता है, क्योंकि देव, नारकी और गृहस्थ अवस्था में तीर्थंकर के परमावधि, सर्वावधि नहीं होते। परमावधि और सर्वावधि नियम से गुणप्रत्यय ही होते हैं; क्योंकि संयमगुण के अभाव में से दोनों नहीं

होते। देशावधि भी दर्शनविशुद्धि आदि गुणों के होने पर होता है। इस प्रकार गुणप्रत्यय तो तीनों ही अवधि होते हैं। किन्तु भवप्रत्यय देशावधि ही है, यह निश्चित हुआ।।

देसोहिस्स य अयरं णरतिरिये होदि संजदम्मि वरं।
परमोही सव्वोही चरमसरीरस्स विरदस्स।। 374।।

देशावधिज्ञान का जघन्य भेद संयमी या असंयमी मनुष्यों और तिर्यचों के ही होता है; देवों और नारकियों के नहीं होता। किन्तु देशवाधिका सर्वोत्कृष्ट भेद नियम से सकलसंयमी मनुष्य के ही होता है, शेष तीन गतियों में नहीं होता; क्योंकि वहाँ महाव्रत नहीं होते। परमावधि सर्वावधि जघन्य भी और उत्कृष्ट भी मनुष्यगति में ही चरमशरीरी महाव्रती के ही होते हैं। चरम अर्थात् संसार के अन्त में होने वाले उसी भव से मोक्ष के कारण रत्नत्रय की आराधना करने वाले जीव के होने वाला वज्रवृषभनाराच संहनन से युक्त शरीर जिसका है, उसी के होते हैं। वही चरमशरीरी है।।

पडिवादी देसोही अप्पडिवादी हवंति सेसा ओ।
मिच्छत्तं अविरमणं ण य पडिवज्जंति चरिमदुगे।। 375।।

सम्यक्त्व और चारित्र से च्युत होकर मिथ्यात्व और संयम में आने को प्रतिपात कहते हैं। और जिसका प्रतिपात होता है, वह प्रतिपाती है। देशावधि ही प्रतिपाती है। शेष परमावधि सर्वावधि दोनों अप्रतिपाती ही है। 'चरिमदुगे' अर्थात् परमावधि सर्वावधि जिनके होते हैं, वे जीव मिथ्यात्व और अविरति को प्राप्त नहीं होते। इस कारण वे दोनों अप्रतिपाती हैं और देशावधिज्ञान प्रतिपाती भी है अप्रतिपाती भी है, यह निश्चित हुआ।

दव्वं खेत्तं कालं भावं पडि रूवि जाणदे ओही।
अवरादुक्कस्सो त्ति य वियप्परहिदो दु सव्वोहि।। 376।।

अवधिज्ञान के जघन्य भेद से लेकर उत्कृष्ट भेद पर्यन्त असंख्यातलोक प्रमाण भेद हैं। वह द्रव्य,क्षेत्र, काल और भाव मर्यादा के अनुसार रूपी पुद्गल द्रव्य और उससे सम्बद्ध संसारी जीवों के प्रत्यक्ष रूप से जानता है। किन्तु सर्वावधिज्ञान जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट भेद से रहित है, अवस्थित है, उसमें हानि-वृद्धि नहीं होती। इसका अर्थ कि वह परम उत्कर्ष को प्राप्त है, क्योंकि अवधिज्ञानावरण का सर्वोत्कृष्ट क्षयोपशम वहीं होता है। इससे यह निश्चित होता है कि देशावधि और परमावधि के

जघन्य, मध्यम उत्कृष्ट भेद होते हैं।।

णोकम्मुरालसंचं मज्झिमजोगाजियं सविस्सचयं।
लोयविभत्तं जाणदि अवरोही दव्वदो णियमा।। 377।।

मध्यम योग के द्वारा उपार्जित नोकर्म औदारिक शरीर के संचय को, जो डेढ़ गुण हानि, प्रमाण समयबद्धों का समूह रूप है और अपने योग्य विस्रसोपचय के परमाणुओं से संयुक्त है उसमें लोकराशि से भाग देने पर जो एक भाग मात्र द्रव्य होता है, उसे जघन्य देशावधि ज्ञान जानता है। उससे कम को वह नहीं जानता। जघन्ययोग के द्वारा उपार्जित नोकर्म औदारिक शरीर का संचय उससे अल्प होने से सूक्ष्म होता है। उसको जानने की शक्ति इस ज्ञान की नहीं है। और उत्कृष्ट योग से उपार्जित नोकर्म औदारिक का संचय स्थूल होता है, उसको जानने का निषेध नहीं है। तथा विस्रसोपचय रहित सूक्ष्म होता है, इसलिए उसको जानने की शक्ति नहीं है। इस प्रकार उक्त संचय के घनलोक के प्रदेश प्रमाण खण्ड करके उनमें-से एकखण्डरूप अतीन्द्रिय पुद्गल स्कन्ध को सबसे जघन्य देशावधिज्ञान प्रत्यक्ष जानता है, इस प्रकार द्रव्य का नियम कहा है।।

सुहुमणिगोदअपज्जत्तयस्स जादस्स तदियसमयम्मि।
अवरोगाहणमाणं जहण्णयं ओहिखेत्तं तु।। 378।।

सूक्ष्म निगोद लब्ध्यपर्याप्त के उत्पत्ति के तीसरे समय में जो जघन्य अवगाहना का प्रमाण पहले कहा है, वह जघन्य देशावधि ज्ञान के विषयभूत क्षेत्र का प्रमाण होता है। इतने क्षेत्र में पूर्वोक्त प्रमाण वाले जितने जघन्य द्रव्य होते हैं, उन सबको जघन्य देशावधिज्ञान जानता है। उस क्षेत्र से बाहर स्थित को नहीं जानता। इस प्रकार जघन्य देशावधिज्ञान के क्षेत्र की सीमा कही।।

अवरोहिखेत्तदीहं वित्थारुस्सेहय ण जाणामो
अण्णं पुण समकरणे अवरोगाहणपमाणं तु।। 379

हम जघन्य देशावधि ज्ञान के विषयभूत क्षेत्र की लम्बाई, चौड़ाई, ऊँचाई नहीं जानते, क्योंकि इस काल में उसका उपदेश नहीं प्राप्य है। किन्तु परम गुरु के उपदेश की परम्परा से इतना जानते हैं कि जघन्य अवगाहना के प्रमाण का समीकरण करने पर क्षेत्रफल घनांगुल के असंख्यातवें भाग मात्र होता है।।

अवरोगाहणमाणं उस्सेहंगुलअसंखभागस्स।

सूइस्स य घणपदरं होदि हु तक्खेत्तसमकरणे।। 380।।

प्रश्न होता है कि वह सूक्ष्म निगोद लब्ध्यपर्याप्तक की जघन्य अवगाहना कैसी है ? इसका उत्तर यह है कि उस जघन्य अवगाहना का आकार नियत नहीं है। फिर भी क्षेत्र खण्डन विधान के द्वारा भुज, कोटि और वेध का समीकरण करने पर, उत्सेधांगुल को असंख्यात से भाजित करके एक भाग प्रमाण भुज कोटि और वेध को परस्पर में गुणा करने पर घनांगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण क्षेत्रफल होता है। उसीके समान जघन्य देशावधिज्ञान-का क्षेत्र है।

विशेषार्थ-आमने-सामने दो दिशाओं में से किसी एक दिशा सम्बन्धी प्रमाण को भुज कहते हैं। शेष दो दिशाओं में से किसी एक दिशा सम्बन्धी प्रमाण को कोटि कहते हैं। ऊँचाई- के प्रमाण को वेध कहते हैं। व्यवहार में इन्हें ऊँचाई, चौड़ाई लम्बाई कहते हैं। यहा जघन्य क्षेत्र की लम्बाई, चौड़ाई, ऊँचाई एक सी नहीं है, कमती-बढ़ती है। किन्तु क्षेत्रखण्डन विधान के द्वारा समीकरण करने पर ऊँचाई, चोड़ाई, लम्बाई का प्रमाण उत्सेधांगुल के असंख्यातवें भाग मात्र होता है। उनको परस्पर में गुणा करने पर घनांगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण घनक्षेत्र फल होता है। इतना ही प्रमाण जघन्य अवगाहनाका है और इतना ही जघन्य देशावधिके क्षेत्र है।। 380।।

अवरं तु ओहिखेत्तं उस्सेहं अंगुलं हवे जम्हा।

सुहुमोगाहणमाणं उवरि पमाणं तु अंगुलयं।। 381

जघन्य देशावधिज्ञान का विषय क्षेत्र जो जघन्य अवगाहना के समान घनांगुल के असंख्यातवें भाग मात्र कहा है, वह उत्सेधांगुल व्यवहार अंगुल की अपेक्षा कहा है, प्रमाणांगुल या आत्मांगुल की अपेक्षा नहीं, क्योंकि सूक्ष्म निगोद लब्ध्यपर्याप्त की जघन्य अवगाहना प्रमाण जघन्य देशावधि का क्षेत्र है। और परमागम में यह नियम कहा है कि शरीर, घर, ग्राम नगर आदि का प्रमाण उत्सेधांगुल से ही मापा जाता है। इसलिये व्यवहार अंगुल का ही आश्रय लिया है। आगे 'अंगुलमावलियाए' आदि गाथासूत्रों में कहे गये काण्डकों में अंगुल का प्रमाण प्रमाणांगुल से लिया है। उससे आगे भी जो हस्त, गव्यूति योजन भरत आदि प्रमाण क्षेत्र कहा है, वह सब प्रमाणांगुल से ही लिया है।।

अवरोहिखेत्तमज्झे अवरोही अवरदव्वमवगमइ।
तद्दव्वस्सवगाहो उस्सेहासंखघणपदरो।। 382।।

जघन्य अवधिज्ञान के क्षेत्र के मध्य में स्थित पूर्वोक्त जघन्य द्रव्य को जघन्य देशावधि ज्ञान जानता है। अर्थात् उस क्षेत्र के मध्य में औदारिक शरीर के संचय को लोक से भाग देने पर एक भाग प्रमाण जो असंख्यात खण्ड स्थित हैं, उनको जानता है। उस जघन्य पुद्गल स्कन्ध से ऊपर एक-दो आदि अधिक प्रवेश वाले स्कन्धों को वह नहीं जानता, ऐसा नहीं है। क्योंकि जो ज्ञान सूक्ष्म को जानता है, वह स्थूल को जानने में समर्थ होता है। द्रव्य की अवगाहना का प्रमाण जघन्य अवधि के विषयभूत प्रमाण से असंख्यात गुणाहीन होता है; तथापि घनांगुल के असंख्यातवें भाग मात्र ही होता है। उसके भुजा, कोटि और बेध सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग मात्र हैं।।

काल की अपेक्षा जघन्य अवधिज्ञान आवली के असंख्यात वें भागमात्र अतीत और अनागतकाल को जानता है। अर्थात् अपने विषयभूत एक द्रव्य की अतीत और अनागत व्यंजनपर्यायों को आवली के असंख्यातवें भाग मात्र जानता है, क्योंकि व्यवहारकाल के और द्रव्य के पर्याय स्वरूप के बिना अन्य स्वरूप सम्भव नहीं है। भाव की अपेक्षा उस जघन्य द्रव्यगत वर्तमान पर्यायों को काल के असंख्यातवें भाग जानता है अर्थात् जघन्य अवधिका विषय जो आवली के असंख्यातवें भाग मात्र काल है, उसके असंख्यातवें भागमात्र अर्थपर्यायों को जानता है।।

देशावधिज्ञान के द्वितीय आदि विकल्पों के विषयभूत द्रव्यादि

आवलि असंखभागं तीद भविस्सं च कालदो अवरं।
ओही जाणदि भावे काल असंखेज्जभागं तु।।383।।
अवरद्दव्वादुवरिमदव्ववियप्पाय होदि धुवहारो।
सिद्धाणंतिमभगो अभव्वसिद्धादणंतगुणो।। 384।।

जघन्य देशावधि ज्ञान के विषयभूत द्रव्य से ऊपर द्वितीय आदि अवधिज्ञान के भेदों के विषयभूत द्रव्यों को लाने के लिए सिद्ध राशि का अनन्तवाँ भाग और अभव्य राशि से अनन्त गुणा ध्रुवभागहार होता है।।

विशेषार्थ- पूर्वपूर्व द्रव्य में जिस भागहार का भाग देने से आगे के भेद के विषयभूत द्रव्य का प्रमाण आता है, वह ध्रुव भागहार है। जैसे जघन्य देशावधिज्ञान के

विषयभूत द्रव्य में भाग देने से जो प्रमाण आता है, वह उसके दूसरे भेद के विषयभूत द्रव्य का प्रमाण होता है।

धुवहारकम्मवग्गणगुणगारं कम्मवग्गणं गुणिदे।
समयपबद्धपमाणं जाणिज्जो ओहिविसयम्मि।। 385।।

देशावधिज्ञान के विकल्पों में दो घटानें पर जितना प्रमाण रहे, उतनी जगह ध्रुवहारों को स्थापित करके परस्पर में गुणा करने पर जितना प्रमाण होता है, उतना कार्मण वर्गणा का गुणाकार होता है। और परमावधिज्ञान के विकल्पों में दो अधिक करने पर जितना प्रमाण हो, उतनी जगह ध्रुवहारों को स्थापित करके परस्पर में गुणा करने पर जितना प्रमाण हो, वह कार्मणवर्गणा होती है। कार्मणवर्गणा के गुणाकार से कर्मणवर्गणा को गुणा करने पर जो प्रमाण हो, वह अवधिज्ञान का विषय समयप्रबद्ध जानना। अर्थात् जो जघन्य देशावधिका विषय भूत द्रव्य कहा था, उसे ही यहाँ समयप्रबद्ध के रूप में स्थापित किया है। इसमें ही ध्रुवहार का भाग दे-देकर आगे के विकल्पों के विषयभूत द्रव्य लायेंगे।

मणदव्ववग्गणाण वियप्पाणंतिमसमं खु धुवहारो।
अवरुक्कस्सविसेसा रूवहिया तव्वि यप्पा हु।। 386।।

मनोद्रव्यवर्गणा के जितने भेद हैं उनके अनन्तवें भाग की संख्या के बराबर ध्रुवहार का प्रमाण है। मनोवर्गणा के जघन्य को मनोवर्गणा के उत्कृष्ट में से घटाकर जो प्रमाण शेष रहे उसमें एक जोड़ने पर मनोवर्गणा के भेदों का प्रमाण होता है।।

मनोवर्गणा के जघन्य और उत्कृष्ट भेद का प्रमाण

अवरं होदि अणंतं अणंतभागेण अहियमुक्कस्सं।
इदि मणभेदाणंतिमभागो दव्वम्मि धुवहारो।। 387।।

मनोवर्गणा का जघन्य भेद अनन्त प्रमाण है। अर्थात् अनन्त परमाणुओं के स्कन्ध रूप जघन्य मनोवर्गणा है। उसमें अनन्त का भाग देने से जो प्रमाण आवे, उसे उस जघन्य भेद में जोड़ने पर उसीके उत्कृष्ट भेद का प्रमाण होता है। इस प्रकार मनोद्रव्य वर्गणा के विकल्पों के अनन्तवें भाग अवधिज्ञान के विषयभूत द्रव्यों के विकल्पों में ध्रुवहार का प्रमाण है।

धुवहारस्स पमाणं सिद्धाणंतिमपमाणमेत्तं पि।
समयपबद्धणिमित्तं धुवहारसंवग्गो।। 388।।
होदि अणंततिममागो तग्गुणगारोवि देसओहिस्स।
दोऊणगद्व्वभेदपमाणं धुवहारसंवगग्गो।। 389।।

यद्यपि ध्रुवहार का प्रमाण सिद्ध राशि के अनन्तवें भाग है, किन्तु अवधिज्ञान के विषयभूत समयप्रबद्ध का प्रमाण लाने के लिए पहले कहे कार्मणवर्गणा के गुणाकारका अनन्तवाँ भाग है। और वह गुणकार, देशावधिज्ञान के द्रव्य की अपेक्षा भेदों में दो घटाकर जो प्रमाण शेष रहे, उतनी जगह ध्रुवहारों को रखकर परस्पर में गुणा करने से जो प्रमाण हो, उतना है। इतना प्रमाण कैसे कहा, सो, कहते हैं- देशावधिज्ञान के विषयभूत द्रव्य की रचना में उत्कृष्ट अन्तिम भेद का विषय कार्मणवर्गणा में एक बार ध्रुवहार का भाग देने से जो प्रमाण आवे, उतना है। उसके नीचे द्विचरम भेद का विषय कार्मणवर्गणा प्रमाण है। उनके नीचे त्रिचरम भेद का विषय कार्मणवर्गणा को एक बार ध्रुवहार से गुणा करने पर जो प्रमाण हो, उतना है। उसके नीचे चतुर्थ चरम भेद का विषय दो बार ध्रुवहार से कार्मणवर्गणा को गुणा करने पर जो प्रमाण हो, उतना है। इस प्रकार एक बार अधिक ध्रुवहार से कार्मणवर्गणा को गुणा करते-करते दो कम देशावधि के द्रव्य भेद प्रमाण ध्रुवहारों को परस्पर में गुणा करने से जो गुणाकार का प्रमाण हुआ, उससे कार्मणवर्गणा को गुणा करने पर जो प्रमाण होता है, वही जघन्य देशावधिज्ञान के विषयभूत द्रव्य का प्रमाण है जो लोक से भाजित नोकर्म औदारिक शरीर का संचय प्रमाण है।

विशेषार्थ- यहाँ उत्कृष्ट भेद से लेकर जघन्य भेद पर्यन्त रचना कही है, इससे इस प्रकार गुणाकार का प्रमाण कहा है। यदि जघन्य से लेकर उत्कृष्ट भेदपर्यन्त रचना की जावे, तो क्रम से ध्रुवहार का भाग देते जाइए। अन्तिम भेद में कार्मणवर्गणा को एक बार ध्रुवहार से भाग देने पर द्रव्य का प्रमाण आ जाता है।

देशावधि के द्रव्य की अपेक्षा विकल्प

देशावधि के विषयभूत क्षेत्र की अपेक्षा जितने विकल्प हैं, उनको सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग से गुणा करने पर देशावधि के विषयभूत अपेक्षा भेद होते हैं। और वे क्षेत्र की अपेक्षा विकल्प इस प्रकार हैं- देशावधि के उत्कृष्ट क्षेत्र में जघन्य क्षेत्र को

घटाने पर जो प्रदेश का प्रमाण शेष रहता है, उतने क्षेत्र की अपेक्षा विकल्प हैं। उनको ही सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग से गुणा करके एक जोड़ने पर देशाविध के द्रव्य की अपेक्षा विकल्प होते हैं। वह कैसे यह कहते हैं- जघन्य द्रव्य को ध्रुवहार से भाग देते-देते सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग मात्र द्रव्य के भेद बीतने पर जघन्य क्षेत्र के ऊपर एक प्रदेश बढ़ता है। इसी प्रकार लोकप्रमाण उत्कृष्ट देशावधिक्षेत्र पर्यन्त जानना। इसका आशय यह है कि सूच्यंगुल के असंख्यातवें भागपर्यन्त द्रव्य के विकल्प होने तक क्षेत्र वही रहता है जो जघन्य भेद का विषय था। इतने विकल्प बीतने पर क्षेत्र में एक प्रदेश की वृद्धि होती है। पुनः सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग द्रव्य के विकल्प होने तक क्षेत्र एक प्रदेश अधिक उतना ही रहता है। उसके पश्चात् क्षेत्र में पुनः एक प्रदेश बढ़ता है। इस तरह प्रत्येक सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग द्रव्य के विकल्प होने पर क्षेत्र में एक-एक प्रदेश की वृद्धि, उत्कृष्ट क्षेत्र लोक पर्यन्त प्राप्त होने तक होती है। इसी से क्षेत्र की अपेक्षा विकल्पों को सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग से गुणा करने पर द्रव्य की अपेक्षा विकल्प कहे हैं। इनमें पहला द्रव्य का भेद पीछे से मिलाया, वह अवशेष था, अतः एक को मिलाना कहा।

देशावधि के जघन्य और उत्कृष्ट क्षेत्र

अंगुल असंखभागं अवरं उक्कस्सयं हवे लोगो।
इदि वग्गणगुणगारो असंख धुवहार संवग्गो।।391

जघन्य देशावधिक का विषयभूत क्षेत्र सूक्ष्म निगोद लब्ध्यपर्याप्त की जघन्य अवगाहना प्रमाण घनांगुल का असंख्यात वें भाग मात्र होता है। उत्कृष्ट जगत् श्रेणि का घनरूप लोक-प्रमाण है। इस प्रकार देशावधि के समस्त द्रव्य की अपेक्षा विकल्पों में दो कम करके उतनी बार ध्रुवहारों को परस्पर में गुणा करने पर जो प्रमाण होता है, वही कार्मण वर्गणा का गुणकार होता है।।

वर्गणा का प्रमाण

वग्गणरासिपमाणं सिद्धाणंतिमपमाणमेत्तंपि।
दुगसहियपरमभेदपमाणबहाराणसंवग्गो।। 392।।

कार्मण वर्गणा राशि का प्रमाण सिद्ध राशि के अनन्त वें भाग है, तथापि परमावधि के समस्त भेदों में दो मिलाने पर जितना प्रमाण हो, उतनी बार ध्रुवहारों को

परस्पर में गुणा करने पर जो प्रमाण हो, उतना है।

परमावधि के भेद

परमावहिस्स भेदा सगओगाहणवियप्पहदहेऊ।
इदि धुवहारं वग्गणगुणगारं वग्गणं जाणे।।393

तैजस्कायिक की अवगाहना के विकल्पों से तेजस्कायिक जीवराशि को गुणा करने पर जो प्रमाण हो, उतने परमावधिके भेद हैं। तथा अग्निकायिक की जघन्य अवगाहना के प्रमाण को अग्निकायिक की उत्कृष्ट अवगाहना के प्रमाण में से घटाकर जो शेष बचे, उसमें एक जोड़ने पर अग्निकाय की अवगाहना के भेद होते हैं। इस प्रकार ध्रुवहार का प्रमाण, वर्गणा के गुणकार का प्रमाण और वर्गणा का प्रमाण जानना।

देसोहि अवरदव्वं धुवहारेणवहिदे हवे बिदियं।
तदियादिवियप्पेसु वि असंखवारोत्ति एस कमो।। 394।।

जो देशावधिज्ञान का विषय जघन्य द्रव्य पहले कहा था, उसकी ध्रुवहार से एक बार भाग देने पर देशावधि के दूसरे भेद का विषयभूत द्रव्य होता है। इसी प्रकार ध्रुवहार का भाग दूसरे भेद के विषयभूत द्रव्य में देने पर तीसरे भेद के विषयभूत द्रव्य का प्रमाण आता है। ऐसा ही क्रम असंख्यात बार पर्यन्त करना चाहिए।।

देसोहिमज्झभेदे सविस्ससोवचयतेजकम्मंगं।
तेजोभासमणाणं वग्गणयं केवलं जत्थ।। 395।।
पस्सदि ओही तत्थ असंखेज्जाओ हवंति दीउवही।
वासाणि असंखेज्जा होंति असंखेज्जगुणिदक्कमा।। 396।।
तत्तो कम्मइयस्सिगिसमयपबद्धं विविस्ससोपचयं।
धुवहारस्स विभज्जं सव्वोहि जाव ताव हवे।। 397।।

देशावधिज्ञान के मध्यम भेदों में से जहां देशावधिज्ञान विस्रसोपचय सहित तैजस शरीर रूप स्कन्ध को जानता है, उससे आगे जहाँ विस्रसोपचय सहित कार्मणस्कन्ध को जानता है, उससे आगे जहाँ विस्रसोपचय रहित तैजस वर्गणा को जानता है, उससे आगे जहाँ विस्रसोपचय रहित भाषावर्गणा को जानता है, उससे आगे जहाँ विस्रसोपचयरहित मनोवर्गणा को जानता है, वहाँ इन पाँचों स्थानों में क्षेत्र असंख्यात द्वीप समुद्र और काल असंख्यात वर्ष होता है। तथापि उत्तरोत्तर असंख्यात

गुणितक्रम होता है। अर्थात् पहले से दूसरे, दूसरे से तीसरे, तीसरे से चौथे और चौथे से पाँचवें भेद सम्बन्धी क्षेत्र, काल परिमाण असंख्यात गुणा है।

उसके पश्चात् उस मनोवर्गणा को ध्रुवहार से बार-बार भाजित करते -करते जिस भेद में विस्रसोपचयरहित कार्मणशरीर का एक समयप्रबद्ध उत्पन्न होता है उसी में आगे भी ध्रुवहार का भाग तब तक दिया जाता है जब तक सर्वावधिज्ञान का विषय आता है।

एदम्मि विभज्जंते दुचरिमदेसावहिम्मि वग्गणयं।
चरिमे कम्मइयस्सिगिवग्गणमिगिवारभजिदं तु।। 398।।

इस कार्मण समयप्रबद्ध में ध्रुवहार से भाग देने पर देशावधि के द्विचरम भेद में कार्मणवर्गणारूप द्रव्य उसका विषय होता है। और अन्तिम भेद में ध्रुवहार से एक बार भाजित कार्मणवर्गणा द्रव्य होता है।

अंगुल असंखभागे दव्ववियप्पे गदे दु खेत्तम्मि।
एगागासपदेसो वड्ढदि संपुण्णलोगोत्ति।। 399।।

सूच्यंगुल के असंख्यातवें भागमात्र द्रव्य की अपेक्षा भेदों के होने पर जघन्य क्षेत्र के ऊपर आकाश का प्रदेश बढ़ता है। यह क्रम तब तक करना जब तक सर्वोत्कृष्ट देशावधिज्ञान का विषयभूत क्षेत्र सम्पूर्ण लोक हो।

आवलि असंखभागो जहण्णकालो कमेण समयेण।
वड्ढदि देसोहिवरं पल्लं समऊणयं जाव।। 400।।

जघन्य देशावधि का विषयभूत काल आवलीका, असंख्यातवाँ भाग है। वह क्रम से ध्रुववद्धि और अध्रुववृद्धि के रूप से एक-एक समय करके तब तक बढ़ता है जब तक उत्कृष्ट देशावधि का विषय एक समय कम पल्य होता है।

अंगुल असंखभागं धुवरूवेण य असंख वारं तु।
असंखसंखं भागं असंखबारं तु अध्दुवगे।। 401।।
धुवअद्धुवरूवेण ण अवरे खेत्तम्मि वड्ढिदे खेत्ते।
अवरे कालम्मि पुणो एक्केक्कं वड्ढदे समयं।। 402।।

घनांगुल को आवली से भाग देने पर घनांगुलका असंख्यातवाँ भाग होता है। इतना ही ध्रुवरूप से वृद्धि का प्रमाण होता है। यह वृद्धि प्रथमकाण्ड के अन्तिम भेद

पर्यन्त असंख्यातवार होती है। पुनः उसी प्रथम काण्डक में अध्रुववृद्धि की विवक्षा होने पर उस वृद्धि का प्रमाण घनांगुल का असंख्यातवाँ भाग और संख्यातवाँ भाग होता है। अध्रुववृद्धि भी प्रथम काण्डक के अन्तिम भेद पर्यन्त असंख्यातवार होती है।

उक्त ध्रुववृद्धि के प्रमाण से या अध्रुववृद्धि के प्रमाण से जघन्य देशावधि के विषयभूत क्षेत्र के ऊपर क्षेत्र के बढ़ने पर जघन्यकाल के ऊपर एक-एक समय बढ़ता है।

विशेषार्थ-पहले कहा था कि द्रव्य की अपेक्षा सूच्यंगुल के असंख्यातवें भाग भेद बीतने पर क्षेत्र में एक प्रदेश बढ़ता है। यहाँ कहते हैं कि जघन्य ज्ञान के विषयभूत क्षेत्र के ऊपर एक-एक प्रदेश बढ़ते-बढ़ते घनांगुल के असंख्यातवें भाग प्रदेश बढ़ने पर जघन्य देशावधि के विषयभूत काल में एक समय की वृद्धि होती है। इस प्रकार क्षेत्र में इतनी वृद्धि होने पर काल में एक समय की वृद्धि आगे भी होती है, इसे ध्रुववृद्धि कहते हैं। और पूर्वोक्त प्रकार से ही कभी घनांगुल के असंख्यातवें भाग और कभी घनांगुल के संख्यातवें भाग प्रदेश की वृद्धि होने पर काल में एक समय की वृद्धि के होने को अध्रुववृद्धि कहते हैं।।

संखातीदा समया पढमे पव्वम्मि उभयदो वड्ढी।
खेत्तं कालं अस्सिय पढमादी कंडये वोच्छं।। 403।।

इस प्रकार पहले काण्डक में ध्रुवरूप और अध्रुवरूप से एक-एक समय बढ़ते-बढ़ते असंख्यात समय की वृद्धि होती है। सो प्रथमकाण्डक के उत्कृष्टकाल के समयों में जघन्य काल के समयों को घटाने पर जो शेष रहे उतने असंख्यात समयों की वृद्धि प्रथम काण्डक में होती है। इस तरह प्रथमकाण्डक के उत्कृष्ट क्षेत्र के प्रदेशों में उसके जघन्य क्षेत्र के प्रदेशों को घटाने पर जो शेष रहे उतने प्रदेशप्रमाण प्रथम काण्ड में क्षेत्र वृद्धि होती है। इन वृद्धिरूप क्षेत्र और काल को जघन्य क्षेत्र और जघन्य काल में जोड़ने पर प्रथम काण्ड के अन्तिम विकल्प के क्षेत्र और काल होते हैं। अर्थात् वृद्धि रूप प्रदेशों के परिमाण को जघन्य क्षेत्र घनांगुल के असंख्यातवें भाग से मिलाने पर प्रथम काण्डक के अन्तिम भेद के क्षेत्र का प्रमाण होता है। इसी प्रकार वृद्धि रूप समयों के परिमाण को जघन्य काल आवली के असंख्यातवें भाग में जोड़ने पर प्रथम काण्डक के अन्तिम भेद में काल का प्रमाण होता है। आगे क्षेत्र और काल को

लेकर उन्नीस काण्डक कहेंगे, ऐसा प्रतिज्ञा आचार्य की है।

अंगुलमावलियाए भागमसंखेज्जदो वि संखेज्जा।
अंगुलमावलियंतो आवलियं चांगुलपुधत्तं।। 404।।

प्रथम काण्डक में जघन्य क्षेत्र घनांगुल के असंख्यातवें भाग और जघन्य काल आवली का असंख्यातवाँ भाग है। उत्कृष्ट क्षेत्र घनांगुल का संख्यातवाँ भाग और उत्कृष्ट काल आवली का संख्यातवाँ भाग है। द्वितीयकाण्डक में क्षेत्र घनांगुल प्रमाण और काल कुछ कम आवली है। तीसरे काण्डक में क्षेत्र घनांगुल पृथक्त्व प्रमाण है और काल आवली पृथक्त्व प्रमाण है।

आवलियपुधत्तं पुण हत्थं तह गाउयं गुहूत्तं तु।
जोयणभिण्णमुहुत्तं दिवसंतो पण्णुवीसं तु।। 405।।

चतुर्थ काण्डक में काल आवली पृथक्त्व और क्षेत्र एक हाथ प्रमाण है। पाँचवे काण्डक में क्षेत्र एक कोस प्रमाण काल अन्तर्मुहूर्त है। छठे काण्डक में क्षेत्र एक योजन और काल भिन्न मुहूर्त है। सप्तम काण्डक में काल कुछ कम एक दिन और क्षेत्र पच्चीस योजन है।

भरहम्मि अद्धमासं साहियमासं च जंबूदीवम्मि।
वासं च मणुवलोए वासपुधत्तं च रुजगम्हि।। 406।।

अष्टमकाण्ड में क्षेत्र भरतक्षेत्र और काल आधामास है। नौवें काण्डक में क्षेत्र जम्बूद्वीप काल कुछ अधिक एक मास है। दसवें काण्डक में क्षेत्र मनुष्य लोक, काल एक वर्ष है। ग्यारहवें काण्ड में क्षेत्र रुचकद्वीप काल वर्षपृथक्त्व है।

संखज्जपमे वासे दीवसमुद्दा हवंति संखेज्जा।
वासम्मि असंखेज्ज दीवसमुद्दा असंखेज्जा।। 407।।

बाहरवें काण्ड में क्षेत्र संख्यात द्वीप-समुद्र और काल संख्यात वर्ष है। आगे तेरहवें आदि काण्डकों में जो तेजस आदि द्रव्य की अपेक्षा स्थान कहे हैं, उनमें क्षेत्र असंख्यात द्वीप समुद्र हैं और काल असंख्यात वर्ष है। दोनों ही आगे-आगे क्रम से असंख्यातगुने असंख्यातगुने होते हैं। अन्त के उन्नीस वें काण्डक में द्रव्य तो कार्मणवर्गणा में ध्रुवहार का भाग देने से जो प्रमाण आवे, उतना है। क्षेत्र सम्पूर्ण लोक है और काल एक समय कम पल्य प्रमाण है।

कालविसेसेणावहिदखेत्तविसेसो धुवा हवे वड्ढी।

अद्धुववड्ढी वि पुणो अविरुद्धं इट्ठकंउम्मि।। 408।।

विवक्षित काण्ड के अपने उत्कृष्ट क्षेत्र में जघन्य क्षेत्र को और अपने उत्कृष्ट काल में जघन्य काल को घटाने पर जो शेष राशि रहती है, उसको क्षेत्र विशेष और काल विशेष कहते हैं। प्रथम काण्डक के काल विशेष से क्षेत्र विशेष में भाग देने पर ध्रुववृद्धि का प्रमाण होता है। सूच्यंगुल के असंख्यातवें भागमात्र द्रव्य के विकल्पों के बीतने पर क्षेत्र में एक प्रदेश बढ़ता है। इस क्रम से जघन्य क्षेत्र के ऊपर आवली से भाजित घनांगुल प्रमाणप्रदेश जघन्य क्षेत्र के ऊपर बढ़ते हैं। इतने प्रदेश जघन्य क्षेत्र के ऊपर बढ़ने पर जघन्य काल के ऊपर एक समय बढ़ता है। इस प्रकार प्रथम काण्डक के अन्त पर्यन्त ध्रुववृद्धि से जितने समय बढ़े, उन्हें जघन्यकाल में मिलाने पर आवलीका संख्यातवाँ भाग प्रथम काण्डक का उत्कृष्ट काल होता है। इसी तरह जितने जघन्य क्षेत्र के ऊपर प्रदेश बढ़ें, उन्हें जघन्य क्षेत्र में मिलाने पर घनांगुलका संख्यातवाँ भाग प्रमाण उत्कृष्ट क्षेत्र प्रथम काण्ड का होता है। इसी प्रकार सब काण्डकों में ध्रुववृद्धि का प्रमाण लाना चाहिए। अध्रुववृद्धि भी विवक्षित काण्ड में उस-उस क्षेत्रकाल का विरोध न करते हुए लानी चाहिए।

अंगुल असंखभागं संखं वा अंगुलं च तस्सेव।

संखमसंखं एवं सेढीपदरस्स अद्धुवगे।।409

घनांगुल के असंख्यातवें भाग मात्र अथवा घनांगुल के संख्यातवें भाग मात्र, अथवा घनांगुलमात्र, अथवा संख्यात घनांगुलमात्र, अथवा असंख्यात घनांगुलमात्र, अथवा श्रेणी के असंख्यातवें भागमात्र, अथवा श्रेणी के संख्यातवें भाग मात्र अथवा श्रेणिप्रमाण, अथवा संख्यात श्रेणिमात्र, अथवा असंख्यात श्रेणिमात्र, अथवा प्रतर के असंख्यातवें भाग, अथवा प्रतर के संख्यातवें भाग अथवा प्रतर मात्र अथवा संख्यात प्रतर मात्र अथवा असंख्यात प्रत्तरमात्र प्रदेश बढ़ा-बढ़ाकर काल में एक-एक समय बढ़ता है। इस प्रकार अध्रुववृद्धि का क्रम है।

कम्मइयवग्गणं धुवहारेणिगिवारभाजिदे दव्वं।

उक्कस्सं खेत्तं पुण लोगो संपुण्णओ होदि।। 410।।

कार्मणवर्गणा को एक बार ध्रुवहारसे भाजित करने पर देशावधि का उत्कृष्ट

द्रव्य होता है और उत्कृष्ट क्षेत्र सम्पूर्ण लोक है।

पल्ल समऊणकाले भावेण असंखलोगमेत्ता हु।

दव्व स्स य पज्जाया बरदेसोहिस्स विसया हु।। 411

देशावधिका उत्कृष्ट काल एक समयहीन पल्य है और भाव असंख्यात लोकप्रमाण है। काल और भावशब्द से द्रव्य की पर्याय उत्कृष्टदेशावधिज्ञान के विषय होती हैं। ऐसा जानना।

विशेषार्थ-एक समयहीन एक पल्य प्रमाण अतीतकाल में हुई और उतने ही प्रमाण आगामी काल में होने वाली द्रव्य की पर्यायों को उत्कृष्ट देशावधि जानता है। भाव से असंख्यात लोक प्रमाण पर्यायों को जानता है।

काले चउण्ह उड्ढी कालो भजिदव्व खेत्तउड्ढी य।

उड्ढीए दव्वपज्जय भजिदव्वा खेत्तकाला हु।। 412।।

अवधिज्ञान के विषय में जब काल की वृद्धि होती है, तब द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, चारों की वृद्धि होती है। जब क्षेत्र की वृद्धि होती है, तब काल की वृद्धि भजनीय है, हो या न हो। जब द्रव्य और भाव की वृद्धि होती है, तब क्षेत्र और काल की वृद्धि भजनीय है। यह सब युक्ति युक्त ही है।

परमावधिज्ञान का कथन

देसावहिवरदव्वं धुवहारेणवहिदे हये णियमा।

परमावहिस्स अवरं दव्वपमाणं तु जिणदिट्ठं।। 413।।

देशावधिके उत्कृष्ट द्रव्य को ध्रुवहार से भाग देने पर परमावधि के विषयभूत जघन्य द्रव्य का प्रमाण होता है, ऐसा जिनदेव ने कहा है।

परमावधि के उत्कृष्ट द्रव्य का प्रमाण

परमावहिस्स भेदा सग ओगाहणवियप्प हद तेऊ।

चरिमे हारपमाणं जेट्ठस्स य होदी दव्वं तु।।414

तेजस्कायिक जीवों की अवगाहना के भेदों से तेजस्कायिक जीवों की संख्या को गुणा करने पर जो प्रमाण आता है, उतने परमावधिज्ञान के भेद हैं। उनमें-से सबसे उत्कृष्ट अन्तिम भेद के विषयभूत द्रव्य ध्रुवहार प्रमाण ही होता है। अर्थात् ध्रुवहारका

जितना परिमाण हैं, उतने परमाणुओं के समूहरूप सूक्ष्म स्कन्ध को जानता है।।

सव्वावहिस्स एक्को परमाणू होदि णिवियप्पो सो।
गंगामहाणइस्स पवाहोव्व धुवो हवे हारो।। 415।।

उस परमावधिके सर्वोकृष्ट द्रव्य को एक बार ध्रुवहार से भाग देने पर एक परमाणु मात्र सर्वावधिज्ञान का विषयभूत द्रव्य होता है। यह ज्ञान निर्विकल्प ही होता है। इसमें जघन्य उत्कृष्ट भेद नहीं है। वह ध्रुवहार गंगा महानदी के प्रवाह की तरह है। जैसे गंगा महानदी का प्रवाह हिमाचल से अविच्छिन्न निरन्तर बहता हुआ पूर्व समुद्र में जाकर ठहरता है, वैसे ही वह ध्रुवहार भी देशावधि के विषयभूत जघन्य द्रव्य से सर्वावधिके उत्कृष्ट द्रव्य पर्यन्त बहता हुआ परमाणु पर आकर ठहरता है। सर्वावधिका विषय परमाणु और सर्वावधि ये दोनों ही निर्विकल्प है।

परमोहिदव्वभेदा जैत्तियमेत्ता हु तेत्तिया होंति।
तस्सेव खेत्तकालवियप्पा विसया असंखगुणिदकमा।। 416।।

परमावधिज्ञान के विषयभूत द्रव्य की अपेक्षा जितने भेद कहे हैं, उतने ही भेद उसके विषयभूत क्षेत्र और काल की अपेक्षा होते हैं। फिर भी अपने-अपने जघन्य से अपने-अपने उत्कृष्ट पर्यन्त क्रम से असंख्यात गुणित क्षेत्र व काल होते हैं।

आवलिअसंखभागा इच्छिदगच्छधणमाणमेत्ताओ।
देसावहिस्स खेत्ते काले वि य होंति संवग्गे।। 417

परमावधि के विवक्षित क्षेत्र और विवक्षित काल के भेद में उस भेद का जितना संकलित धन हो, उतने प्रमाण आवली के असंख्यातवें भागों को परस्पर में गुणा करने पर जो प्रमाण आवे, उतना देशावधि के उत्कृष्ट क्षेत्र और उत्कृष्ट काल में गुणकार होते हैं। वे गुणकार प्रथम भेद में एक, दूसरे भेद में तीन, तीसरे भेद में छह, चतुर्थ भेद में दस, पंचम भेद में पन्द्रह इस प्रकार अन्तिम भेद पर्यन्त जानना।

विशेषार्थ-जिस नम्बर के भेद की विवक्षा हो, एक से लगाकर उस भेद पर्यन्त के एक-एक अधिक अंकों को जोड़ने से जो प्रमाण आवे उतना ही उसका संकलित धन होता है। जैसे प्रथम भेद में एक ही अंक है, अतः उसका संकलित धन एक जानना। दूसरे भेद में एक और दो को जोड़ने पर संकलित धन तीन होता है। तीसरे भेद में एक, दो तीन को जोड़ने से संकलित धन छह होता है। चौथे भेद में उसमें चार

जोड़ने से संकलित धन दस होता है। पाँचवे भेद में पाँच का अंक और जोड़ने से संकलित धन पन्द्रह होता है। सो पन्द्रह जगह आवली के असंख्यातवें भागों को रखकर परस्पर में गुणा करने से जो परिणाम हो, वहीं पाँचवें भेद का गुणकार होता है। इस गुणकारसे उत्कृष्ट देशाविध के क्षेत्र लोक को गुणा करने पर जो प्रमाण आवे, उतना परमावधि के पाँचवे भेद के विषयभूत क्षेत्र का परिमाण होता है। तथा इसी गुणकार से देशावधि के विषयभूत उत्कृष्ट काल एक समय हीन एक पल्य में गुणा करने पर पाँचवे भेद में काल का परिमाण होता है। इसी तरह सब भेदों में जानना।।

गच्छसमा तक्कालियतीदे रूऊणगच्छधणमेत्ता।
उभये वि य गच्छस्स धमणेत्ता होंति गुणगारा।। 418।।

गच्छ के समान धन और गच्छ से तत्काल अतीत जो विवक्षित भेद से पहला भेद, सो विवक्षित गच्छ से एक कम गच्छ का जो संकलित धन, इन दोनों को मिलाने से गच्छ का संकलित धन प्रमाण गुणकार होता है। उदाहरण कहते हैं- जितनेवाँ भेद विवक्षित हो, उसके प्रमाण को गच्छ कहते हैं। जैसे विवक्षित भेद चौथा सो गच्छ का प्रमाण चार हुआ। और तत्काल अतीत तीसरा भेद तीन, उसका गच्छ धन छह हुआ। पहला गच्छ चार और यह छह मिलकर दस होते हैं। इतना ही विवक्षित गच्छ चार का संकलित धन होता है। यही चतुर्थ भेद का गुणकार होता है। इसी प्रकार सब भेदों में जानना।

परमावहिवरखेत्तेणवहिदउक्कस्स ओहिखेत्तं तु।
सव्वावहिगुणगारो काले वि असंखलोगो दू।। 419।।

उत्कृष्ट अवधिज्ञान क्षेत्र कहते हैं। द्विरूपधनाधनधारा में लोक, गुणकारशलाका वर्गशलाका, अर्धच्छेदशलाका, अग्निकाय की स्थिति परिमाण और अवधिज्ञान के उत्कृष्ट क्षेत्र का परिमाण, ये स्थान असंख्यात-असंख्यात वर्गस्थान जाने पर उत्पन्न होते हैं। इसलिए पाँच बार असंख्यात लोक प्रंमाण परिमाण से लोक को गुणा करने पर सर्वावधिज्ञान के विषयभूत उत्कृष्ट क्षेत्र का परिमाण आता है। उसमें उत्कृष्ट परमावधिज्ञान के विषयभूत क्षेत्र का भाग देने पर जो परिमाण आवे, वह सर्वावधिज्ञान के विषयभूत क्षेत्र का परिमाण लाने के लिए गुणकार होता है। इससे परमावधिज्ञान के विषयभूत उत्कृष्ट क्षेत्र को गुणा करने पर सर्वावधिज्ञान के विषयभूत उत्कृष्ट क्षेत्र का परिमाण आता है।

तथा सर्वावधि के विषयभूत काल का परिमाण लाने के लिए असंख्यात लोक गुणकार है। इस असंख्यात लोक प्रमाण गुणकार से परमावधि के विषयभूत सर्वोत्कृष्ट काल के गुणा करने पर सर्वावधिज्ञान के विषयभूत काल का परिमाण होता है।

दो कारण सूत्र

इच्छिदरासिच्छेदं दिण्णच्छेदेहि भाजिदे तत्थ।
लद्धमिददिण्णरासीणब्भासे इच्छिदो रासी।। 420।।

यह कारणसूत्र होने से सब जगह लग सकता है। इसका अर्थ-इच्छित राशि के अर्धच्छेदों को देय राशि के अर्धच्छेदों से भाग देने पर जो प्रमाण आवे, उसको एक-एक करके पृथक-पृथक स्थापित करे। और उस एक-एक के ऊपर जिस देयराशि के अर्धच्छेदों से भाग दिया था, उसी देयराशि को रखकर परस्पर गुणा करने पर इच्छितराशि का प्रमाण आता है। जैसे इच्छित राशि दो सौ छप्पन 256 के अर्धच्छेद आठ 81 देयराशि चौंसठ का चौथा भाग 14/4 सोलह। उसके अर्धच्छेद चार। क्योंकि भाज्यराशि चौंसठ के अर्धच्छेद छह है। उसमें से भागहार चार के अर्धचछेद दो घटाने से शेष चार अर्धच्छेद बचते हैं। इन चार अर्धच्छेदों का भाग आठ अर्धच्छेदों में देने से जो लब्ध आया सो दो का विरलन करके एक एक पर देयराशि चौंसठ के चतुर्थ भाग सोलह रखकर परस्पर में गुणा करने से इच्छितराशि 256 उत्पन्न होती है। इसी प्रकार पल्य प्रमाण या सूच्यंगुल प्रमाण या जगतश्रेणी प्रमाण अथवा लोकप्रमाण जो भी इच्छित राशि हो, उसके अर्धच्छेदों में देयराशि आवली के असंख्यातवें भाग के अर्धच्छेदों से भाग देने पर जो प्रमाण आवे, उसका एक-एक के रूप में विरलन करके प्रत्येक के ऊपर आवली का असंख्यातवाँ भाग रखकर परस्पर में गुणा करने पर इच्छित राशि पल्य आदि उत्पन्न होती है।

दिण्णच्छेदेणवहिदलोगच्छेदेण पदधणे भजिदे।
लद्धमिदलोगगुणणं परमावहिचरमगुणगारो।। 421

देयराशि के अर्धच्छेदों का भाग लोकराशि के अर्धच्छेदों में देने पर जो प्रमाण आवे, उससे विवक्षित पद के संकलित धन में भाग दें। उससे जो प्रमाण आवे, उतनी जगह लोक- राशि को रखकर परस्पर में गुणा करने पर जो प्रमाण आवे, वह विवक्षित पद सम्बन्धी क्षेत्र या काल का गुणकार होता है। इसी प्रकार परमावधि के अन्तिम भेद

में गुणकार जानना। जैसे देयराशि चौंसठ का चौथा भाग अर्थात् सोलह, उसके अर्धच्छेद चार,, उसका भाग दो सौ छप्पन के अर्धच्छेद आठ में देने पर दो लब्ध आया। उसका भाग विवक्षित पद तीन के संकलित धन छह में से तीन आया। सो तीन जगह दो सौ छप्पन रखकर परस्पर में गुणा करने से जो प्रमाण होता है, वही तीसरे स्थान में गुणकार जानना। इसी तरह यथार्थ में देयराशि आवली का असंख्यातवाँ भाग, उसके अर्धच्छेद आवली के अर्धच्छेदों में से भाजक असंख्यात के अर्धच्छेदों को घटाने पर जो प्रमाण रहे, उतने हैं। सो वे संख्यातहीन परीतासंख्यात के मध्यम भेद प्रमाण होते हैं। इनका भाग लोकराशि के अर्धच्छेदों में देने पर जो प्रमाण आवे, उसका भाग परमावधि के विवक्षित भेद के संकलित धन में देने से जो प्रमाण आवे, उतनी जगह लोकराशि को स्थापित करके परस्पर में गुणा करने पर जो प्रमाण आवे, सो उस भेद में गुणकार होता है। उस गुणकार से उत्कृष्ट क्षेत्र लोक प्रमाण को गुणा करने पर जो प्रमाण आवे, उतना उस भेद में क्षेत्र का परिमाण होता है। तथा इसी गुणकार से देशावधि के उत्कृष्ट काल समयहीन पल्य को गुणा करने पर उसी भेदसम्बन्धी काल का परिमाण आता है। इसी तरह परमावधिज्ञान के अन्तिम भेद में आवली के असंख्यातवें भाग के अर्धच्छेदों का भाग लोक के अर्धच्छेदों में देने से जो प्रमाण आवे, उसका भाग परमावधिज्ञान के अन्तिम भेद के संकलित धन में देने पर जो लब्ध आवे, उतनी जगह लोकराशि को रखकर परस्पर में गुणा करने पर परमावधि का अन्तिम गुणकार होता है। सो इस प्रकार त्रैराशिक करना-आवली के असंख्यातवें भाग के अर्धच्छेदों का लोक के अर्धच्छेदों में भाग देने से जो प्रमाण आता है, उतने आवलीके असंख्यातवें भागों को रखकर परस्पर में गुणा करने से यदि एक लोक होता है, तो यहाँ अन्तिम भेद के संकलित धन प्रमाण आवली के असख्यातवें भागों को रखकर परस्पर में गुणा करने से कितने लोक होंगे। ऐसा त्रैराशिक करने पर जितना प्रमाण आवे, उतने लोकप्रमाण अन्तिम भेद का गुणकार होता है। इससे देशावधि के उत्कृष्ट क्षेत्र लोक को अथवा उत्कृष्टकाल समयहीन पल्य को गुणा करने पर परमावधि के उत्कष्ट क्षेत्र और काल का परिमाण होता है।

आवलि असंखभागा जहण्णदव्वस्स होंति पज्जाया।
कालस्स जहण्णादो असंखगुणहीनमेत्ता हु।। 422।।

जघन्य देशावधि के ज्ञान के विषयभूत द्रव्य की पर्याय आवली के असंख्यातवें भाग प्रमाण है; तथापि उसके विषयभूत जघन्य काल से असंख्यातगुणा हीन है।

सव्वोहित्तिय कमसो आवलियसंखभागगुणिदकमा।
दुव्वाणं भावाणं पदसंख्या सरिसगा होंति।। 423।।

देशावधि के विषयभूत द्रव्य के पर्यायरूप भाव जघन्य देशावधि से सर्वावधिज्ञान पर्यन्त क्रम से आवली के असंख्यातवें भाग प्रमाण से गुणित हैं। अर्थात् देशावधि के विषयभूत द्रव्य की अपेक्षा जहाँ जघन्य भेद है, वहाँ ही द्रव्य के पर्यायरूप भाव की अपेक्षा आवली के असंख्यातवें भाग प्रमाण भाव को जानने रूप जघन्य भेद हैं। जहाँ द्रव्य की अपेक्षा दूसरा भेद है, वहीं भाव की अपेक्षा उस प्रथम भेद को आवली के असंख्यातवें भाग से गुणा करने पर जो प्रमाण आवे, उस प्रमाण भाव को जानने रूप दूसरा भेद है। इसी प्रकार सर्वावधिपर्यन्त जानना। इस तरह अवधिज्ञान के जितने भेद द्रव्य की अपेक्षा हैं, उतने ही भाव की अपेक्षा हैं। अतः द्रव्य और भाव की अपेक्षा स्थान समान है।

सत्तमखिदिम्मि कोसं कोसस्सद्धं पवड्ढदे ताव।
जाव य पढमे णिरये जोयणमेक्कं हवे पुण्णं।। 424।।

सातवी पृथ्वी में अवधिज्ञान का विषयभूत क्षेत्र एक कोस है। उससे ऊपर प्रत्येक पृथ्वी में आधा-आधा कोस बढ़ता जाता है। इस तरह प्रथम नरक में सम्पूर्ण योजन क्षेत्र होता है।

तिर्यचगति और मनुष्यगति में

तिरिए अवरं ओघो तजालंवे य होदि उक्कस्सं।
मणुए ओघं देवे जहाकमं सुगुणह बोच्छामि।। 425।।

तिर्यंचजीव में देशावधिज्ञान जघन्य से लेकर उत्कृष्ट से तेजसशरीर जिस भेद का विषय है, उस भेद पर्यन्त होता है। सामान्य अवधिज्ञान के वर्णन में वहाँ तक द्रव्यादि विषय जो कहे हैं, वे सब होते हैं। मनुष्य में देशावधि के जघन्य से लेकर सर्वावधिज्ञान पर्यन्त जो सामान्य कथन किया है, वह सब होता है। आगे यथाक्रम देवगति मैं कहूँगा। उसे सुनो।

देवगति में

पणुबीसजोयणाइं दिवसंतं च म कुमारभोम्माणं।
संखेज्जगुणं खेत्तं बहुगं कालं तु जोइसिगे।। 426।।

भवनवासी और व्यन्तरों में अवधिज्ञान का विषयभूत क्षेत्र जघन्य से पच्चीस योजन है और काल कुछ कम एक दिन है। तथा ज्योतिषी देवों में क्षेत्र तो इससे संख्यातगुणा है और काल बहुत है।

असुराणमसंखेज्जा कोडीओ सेसजोइसंताणं।
संखातीदसहस्सा उक्कस्सोहीण विसओ दु।। 427।।

असुरकुमार जाति के भवनवासी देवों के अवधिज्ञान का उत्कृष्ट विषयक्षेत्र असंख्यात कोटि योजन प्रमाण हैं शेष नौ प्रकार के भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषीदेवों के असंख्यात हजार योजन है।।

असुराणमसंखेज्जा वरिसा पुण सेसजोइसंताणं।
तस्संखेज्जदिभागं कालेण य होदि णियमेण।। 428।।

असुरकुमारों का उत्कृष्ट काल असंख्यात वर्ष है। शेष नौ प्रकार के भवनवासी व्यन्तर और ज्योतिषी देवों के उत्कृष्ट अवधिज्ञान का काल उक्त काल के संख्यातवें भाग है।।

भवणतियाणमधोधो थोवं तिरिएण होदि बहुगं तु।
उड्ढेण भवणवासी सुरगिरिसिहरोत्ति पस्संति।। 429।।

भवनवासी, व्यन्तरों और ज्योतिषी देवों के नीचे की ओर अवधिज्ञान विषयक्षेत्र थोड़ा है, किन्तु तिर्यक् रूप से बहुत है। भवनवासी अपने निवासस्थान से ऊपर मेरुपर्वत के शिखरपर्यन्त अवधिदर्शन के द्वारा देखते हैं।।

सक्कीसाणा पढमं बिदियं सणक्कुमारमाहिंदा।
तदियं तु बह्म लांतव सुक्कसहस्सारया तुरियं।। 430।।

सौधर्म और ऐशान स्वर्गों के देव अवधिज्ञान के द्वारा प्रथम नरक पृथ्वीपर्यन्त देखते हैं। सनत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्गो के देव दूसरी पृथ्वीपर्यन्त देखते हैं। ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर और लान्तव-कापिष्ठ स्वर्गों के देव तीसरी पृथ्वी पर्यन्त देखते हैं। शुक-महाशुक्र और शतार सहस्रार स्वर्गों के देव चतुर्थ पृथ्वीपर्यन्त देखते हैं।।

आणदपाणदवासी आरण तह अच्चुदा य पस्संति।
पंचमखिदिपेरंतं छट्ठिं गेवेज्जगा देवा।। 431

आनत-प्राणत तथा आरण-अच्युत स्वर्गो के वासी देव पाँचवी पृथ्वीपर्यन्त देखते हैं तथा नौ ग्रैवेयाकों के देव छठी पृथ्वीपर्यन्त देखते हैं।।

सव्वं च लोयनालिं पस्संति अणुत्तरेसु जे देवा।
सक्खेत्ते य सकम्मे रूवगदमणंतभागं च।। 432।।

नौ अनुदिशों और पाँच अनुत्तर में जो देव हैं, वे समस्त लोकनाली अर्थात् त्रसनाली को देखते हैं। सोधर्म आदि के देव अपने-अपने स्वर्ग के विमान के ध्वजादण्ड के शिखरपर्यन्त देखते हैं। जो अनुदिश और पाँच अनुत्तरों के देव ऊपर अपने-अपने विमान के शिखरपर्यन्त और नीचे बाह्य तनुवातवलयपर्यन्त देखते हैं। सो अनुदिश विमान वाले तो कुछ अधिक तेरह राजु लम्बी एक राजू चौड़ी समस्त लोकनाली को देखते हैं और अनुत्तर विमान वाले चार सौ पच्चीस धनुष कम इक्कीस योजन से हीन चौदह राजू लम्बी एक राजू चौड़ी समस्त त्रसनाली को देखते हैं। यह कथन क्षेत्र के परिमाण का नियामक नहीं है, किन्तु उस-उस स्थान का नियामक है। क्योंकि अच्युत स्वर्ग तक के देव विहार करके जब अन्यत्र जाते हैं, तो उतने ही क्षेत्र में उनके अवधिज्ञान की उत्पत्ति मानी गयी है। अर्थात् अन्यत्र जाने पर भी अवधिज्ञान उसी स्थान तक जानता है, जिस स्थान तक उसके जानने की सीमा है; जैसे अच्युत स्वर्ग का देव अच्युत स्वर्ग में रहते हुए पाँचवी पर्यन्त जानता है वह यदि विहार करके नीचे तीसरे नरक जावे, तो भी पाँचवी पृथ्वीपर्यन्त ही जानता है; उससे आगे नहीं जानता। अस्तु, अपने क्षेत्र में अर्थात् अपने-अपने विषयभूत क्षेत्र के प्रदेश समूह में से एक प्रदेश घटाना चाहिए और अपने-अपने अवधिज्ञानावरण कर्मद्रव्य में एक बार ध्रुव हारका भाग देना चाहिए। ऐसा तब तक करना चाहिए, जब तक प्रदेश समूह की समाप्ति हो। इससे देवों में अवधिज्ञान के विषयभूत द्रव्य में भेद सूचित किया है अर्थात् सब देवों के अवधिज्ञान के विषयभूत द्रव्य समान नहीं हैं।।

कप्पसुराणं सगसग ओहीखेत्तं विविस्ससोवचयं।
ओहीदव्वपमाणं संठाविय धुवहारेण हरे।। 433।।
सगसगखेत्तपदेसलायपमाणं समप्पदे जाव।
तत्थतणचरिमखंडं तत्थतणोहिस्स दव्वं तु।। 434।।

कल्पवासी देवों के अपने-अपने अवधि ज्ञान के क्षेत्र को और अपने-अपने विस्रसोपचय रहित अवधिज्ञानावरण द्रव्य को स्थापित करके क्षेत्र में एक प्रदेश कम करना और द्रव्य में एक बार ध्रुवहार का भाग देना। ऐसा तब तक करना चाहिए, जब तक अपने-अपने अवधि ज्ञान के क्षेत्र सम्बन्धी प्रदेशों का परिमाण समाप्त हो। ऐसा करने से जो अवधिज्ञानावरण कर्मद्रव्य का अन्तिम खण्ड शेष रहता है, उतना ही उस अवधिज्ञान के विषयभूत द्रव्य का परिमाण होता है।

विशेषार्थ-जैसे सौधर्म-ऐशान स्वर्गवालों का क्षेत्र प्रथम नरक पृथ्वीपर्यन्त कहा है। सो पहले नरक से पहला दूसरा स्वर्ग डेढ़ राजू ऊँचा है। अतः अवधिज्ञान का क्षेत्र उनका एक राजू लम्बा-चौड़ा और डेढ़ राजू ऊँचा हुआ। इस घनरूप डेढ़, राजू क्षेत्र के जितने प्रदेश हों, उन्हें एक जगह स्थापित करें। और जिस देव का जानना हो, उस देव के अवधि ज्ञानावरण कर्मद्रव्य को एक जगह स्थापित करें। इसमें विस्रसोपचय के परमाणु नहीं मिलाना। इस अवधिज्ञानावरण कर्म द्रव्य के परमाणुओं में एक बार ध्रुवहार का भाग दें और प्रदेशों में से एक कम कर दें। भाग देने से जो प्रमाण आया, उसमें दुबारा ध्रुवहारका भाग दें और प्रदेश में एक कम कर दें। इस तरह तब तक भाग दे, जब तक सब प्रदेश समाप्त हों। अन्तिम भाग देने पर जो सूक्ष्म पुद्गलस्कन्ध शेष रहे, उतने प्रमाण पुद्गलस्कन्ध को सौधर्म-ऐशान स्वर्ग का देव जानता है। इसी प्रकार सानत्कुमार-माहेन्द्र स्वर्ग के देवों के धन रूप चार राजू प्रमाण क्षेत्र के प्रदेशों का जितना प्रमाण है, उतनी बार उनके अवधिज्ञानावरण द्रव्य में ध्रुव हार का भाग देते-देते जो प्रमाण रहे, उतने परमाणुओं के स्कन्ध को उनका अवधि ज्ञान जानता है। ब्रह्म-बह्मोत्तर स्वर्ग के देवों के साढ़े पाँच राजू, लान्तव-कापिष्ठवालों के छह राजू, शुक्र-महाशुक्रवालों के साढ़े सात राजू, शतार-सहस्रारवालों के आठ राजु, आनत प्राणतवालों के साढ़े नौ राजू, आरण-अच्युतवालों के दस राजू, ग्रैवेयकवालों के ग्यारह राजू, अनुदिशवालों के कुछ अधिक तेरह राजू, अनुत्तर विमानवालों के कुछ कम चौदह राजू क्षेत्र का परिमाण जानकर पूर्वोक्त विधान करने पर देवों के अवधिज्ञान के विषयभूत द्रव्य का परिमाण होता है। अर्थात् सबके अवधिज्ञान के विषयभूत क्षेत्र के प्रदेशों के जो प्रमाण हो, उतनी बार अवधिज्ञानावरण द्रव्य में ध्रुवहार का भाग देते-देते जो प्रमाण रहे, उतने परमाणुओं के स्कन्ध को वे-वे देव अवधिज्ञान द्वार जानते हैं।।

सोहम्मीसाणाणमसंखेज्जा ओ हु वस्सकोडीओ।
उवरिमकप्पचउक्के पल्लासंखेज्जभागा दु।। 435।।
तत्तो लांतवकप्पप्पहुडी सव्वटठसिद्धिपेरंतं।
किंचूण पल्लमेत्तं कालपमाणं जहाजोग्गं।। 436।।

सौधर्म और ऐशान स्वर्ग के देवों के अवधिज्ञान का विषयभूत काल असंख्यात वर्ष कोटि है। उनसे ऊपर चार कल्पों में अर्थात् सानतकुमार, माहेन्द्र, ब्रह्म और ब्रह्मोत्तर स्वर्गों के देवों के अवधिज्ञान का विषयभूत काल यथायोग्य पल्य के असंख्यातवें भाग हैं। उनसे ऊपर लान्तव स्वर्ग से लेकर सर्वार्थसिद्धिपर्यन्त देवों के यथायोग्य कुछ कम पल्य प्रमाण हैं।।

देवों के अवधिज्ञान का विषयभूत काल यथायोग्य पल्य के असंख्यातवें भाग हैं। उनसे ऊपर लान्तव स्वर्ग से लेकर सवार्थसिद्धिपर्यन्त देवों के यथायोग्य कुछ कम पल्य प्रमाण हैं।।

जोइसियंताणोही खेत्ता उत्ता ण होंति घणपदरा।
कप्पसुराणं च पुणो विसरित्थं आयदं होदि।। 437।।

ज्योतिषी देव पर्यन्त तीन प्रकार के देवों के अर्थात् भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिष्क देवों के जो अवधिज्ञान का विषयभूत क्षेत्र कहा है, वह समचतुरस्र अर्थात् बराबर चौकोर घनरूप नहीं है, क्योंकि आगम में उसकी लम्बाई, चौड़ाई, ऊँचाई बराबर एक समान नहीं कही है। इससे शेष रहे जो मनुष्य नारक, तिर्यंय, उनके अवधिज्ञान का विषयभूत क्षेत्र समान चौकोर घनरूप है, यह अर्थ निकलता है। कल्पवासी देवों के अवधिज्ञान का विषयक्षेत्र विसदृश आयत है अर्थात् लम्बा बहुत और चौड़ा कम है।।

अध्याय V

गौतम गणधर स्वामी की जीवनी

(गुरु पूर्णिमा, वीरशासन जयन्ती एवं दीपावली पर्व का इतिहास
सुनो सुनो हे! दुनियावालो गोतम स्वामी की दिव्य कहानी।
जिसे सुनकर तुम जानोगे कैसे बने ? वे महाज्ञानी...(टेक)...

यह कहानी है सच्ची कहानी हजार तीन वर्ष पुरानी।
महावीर बुद्ध समकालीन ऐतिहासिक है अच्छी कहानी।।(1)

महावीर स्वामी सर्वज्ञ हुए दिन छयासठ व्यतीत हुए।
समवशरण देव रचाया तथापि उपदेश न हुआ।
असंख्य देव नर-नारी पशु दिव्यध्वनि बिना उदास हुए।
चिन्तित इन्द्र विचार किया किन कारणों से यह सब हुआ।। (2)

अवधिज्ञान से उन्होंने जाना योग्य शिष्य बिना यह सब हुआ।
उन्होंने ब्राह्मण वेश बनाया इन्द्रभूति के पास पहुँचा।।
इन्द्रभूति थे गौतम गोत्री महापण्डित व मिथ्यादृष्टि।
जाति में ब्राह्मण क्रियाकाण्डी हिंसा यज्ञ में वे प्रवीण।। (3)

उनके पाँच सौ शिष्य भी थे प्रसिद्ध आचार्य घमण्डी थे।
उन्हें ले आये इन्द्र-ब्राह्मण दूर से देखा वो समवशरण।।
देव आगमन जब देखता आश्चर्यचकित वह हो जाता।
मेरे यज्ञ में ये क्यों न आये निर्ग्रन्थ साधु के पास क्यों आये।। (4)

देख के मानस्तम्भ दूर से मानगलित हुआ शीघ्र से।
समवशरण मध्य में गया शंका-समाधान प्रभु से पाया।।
सोचते मन में यह क्या हुआ मेरे प्रश्न को वो कैसे जाने।
प्रभु तो थे सर्व अन्तरयामी सभी के भावों के पारगामी।। (5)

इसी से उनका मिथ्यात्व टूटा/(गया) सम्यग्दृष्टि बने शिष्यत्व पाया।
अन्तमुहूर्त में हुए गणधर चार ज्ञानधारी ऋद्धि प्रवर।।
प्रभु की दिव्यध्वनि निकली गणधर स्वामी ने उसे भी झेली।
दिव्यज्ञान सर्व प्राणी को मिला आध्यात्म प्रकाश सर्वत्र फैला।। (6)

गौतम अब गणधर बना गुरुपूर्णिमा पर्व भी बना।
दिव्य ध्वनि जिस दिन खिरी वीरशासन जयन्ती चली।।
निर्वाण जब प्रभु का हुआ गौतम को केवलज्ञान भी हुआ।
दीपावली पर्व तब से हुआ दोनों उत्सवों का संगम हुआ।। (7)

इसी से शिक्षा मिले अनेक ज्ञानी बनना है तो बनो सम्यक्।
मोक्ष प्राप्ति हेतु मोह को त्यागो मोक्ष में अनन्त सुख को भोगो।।
विनम्र बने योग्य सुशिष्य सुशिष्य ही पाये ज्ञान विशेष।
शिक्षा हेतु यह कविता रची कनकनन्दी की लेखनी चली/(रची) ।। (8)

मेरे आदर्श : गणधर

(महान् ज्ञानी गणधर की जिज्ञासा-नम्रता-साधना-उपलब्धि)

(चालः- उडिया....,बंगला...., क्या मिलिये...)

धन्य! धन्य हो आपश्री गणधर महान्
चारज्ञान व चौषठ ऋद्धि से सम्पन्न।
तथापि सर्वज्ञ तीर्थकर के उपदेश सुनते हो,
विश्वहित हेतु ही ग्रन्थित भी करते हो।। (1)

आपका ज्ञान तो इन्द्र से भी महान् (श्रेष्ठ),
आपका वैभव तो चक्री से भी ज्येष्ठ।
तन-मन-इन्द्रिय बल से सम्पन्न,
तो भी आप सर्वज्ञ को करते नमन।। (2)

जब तक आप न बनते हो सर्वज्ञ,
अनन्त ज्ञान दर्शन सुख वीर्यवान्।
जब तक आप रहते हो प्रमुख शिष्य
ज्ञानार्जन करते (हो) बनने हेतु सर्वज्ञ।। (3)

सर्वज्ञ प्रवचन करते दिन में तीन बार,
आप की जिज्ञासा से करते चौथे बार/(4 बार)।
उस ज्ञान को आप करते हो ग्रन्थित,
ग्यारह अंग (व) चौदह पूर्व में व्यवस्थित।। (4)

उस ज्ञान को परम्पराचार्य करते अध्ययन,
शिष्यगणों को भी कराते अध्यापन।

उस ज्ञान का किंचित अंश हमें भी प्राप्त,
जिससे हम आप से भी उपकृत।। (5)

सर्वज्ञ का ज्ञान होता है अनन्त,
सात सौ अठारह भाषा में करते उपदेश।
उसका अनन्तवाँ भाग आप समझते
तो भी दीन-हीन-अहंकारी न होते।। (6)

शिक्षा-दीक्षा-आयु से आप बड़े होते,
कुछ सर्वज्ञ आप से आयु से छोटे होते।
तो भी आप सर्वज्ञ को करते नमन,
आज्ञा पालन से लेकर विनयवान्/(विनयकर्म)।। (7)

इससे मुझे शिक्षा मिलती विभिन्न,
सनम्र सत्यग्राहीपना व गुणग्रहण।
सर्वज्ञ बनने तक बनूँ जिज्ञासु शिष्य,
दीन-हीन-अहंकार को करूँ निःशेष।। (8)

उपलब्धियों का न करूँ दुरूपयोग,
क्षुद्र उपलब्धियों का मैं न करूँ गर्व (मद)
अनन्त ज्ञान दर्शन सुखवीर्य हेतु प्रयत्न,
इन्द्र चक्रवर्ती के वैभव से भी विरक्त।। (9)

आपने प्रश्न किया हजार साठ,
आपका आदर्श मुझे लगता श्रेष्ठ।
अज्ञानी मोही दंभी से (आप) कल्पनातीत,
तवसम बनने हेतु 'कनक' का प्रयत्न।। (10)

मनः पर्ययज्ञान

चिंतियमंचितियं वा अद्धं चिंतयमणेयमेयगयं।
मणपज्जवं ति उच्चइ जं जाणइ तं खु णरलोए।। 438।।

चिन्तित-जिसका पूर्व में चिन्तन किया था। अचिन्तित जिसका आगामी काल में चिन्तन करेगा, अर्धचिन्तित जिसका पूर्ण रूप से चिन्तन नहीं किया, इत्यादि अनेक प्रकार का जो अर्थ दूसरे के मन में स्थित है, उसको जो ज्ञान जानता है, वह मनःपर्यय कहा जाता है। दूसरे मन में स्थित अर्थ मन हुआ, उसे जो जानता है, वह मनःपर्यय है। इस ज्ञान की उत्पत्ति और प्रवृत्ति मनुष्य क्षेत्र में ही होती है, उसके बाहर नहीं।।

मणपज्जवं च दुविहं उजुविउलमदित्ति उजुमदी तिविहा।
उजु मणवयणे काये गदत्थविसयत्ति णियमेण।। 439

वह मनःपर्यय सामान्य से एक होने पर भी भेदविवक्षा से ऋजुमतिमनःपर्यय विपुल मतिमनःपर्यय, इस तरह दो प्रकार के। सरल काय वचन, और मन के द्वारा किया गया जो अर्थ दूसरे के मन में स्थित है, उसको जानने से निष्पन्न हुई मति जिसकी है, वह ऋजुमति है और ऋजुमति और मनःपर्यय ऋजुमतिमनःपर्यय है। तथा सरल अथवा कुटिल काय-वचन-मन के द्वारा किया गया जो अर्थ दूसरे के मन में स्थित है, उसको जानने से निष्पक्ष या अनिष्पन्न मति जिसकी है, वह विपुलमति है। विपुलमति और मनःपर्यय विपुलमति मनः पर्यय है। अथवा ऋजु और विपुलमति जिनकी है, वे ऋजुमति, विपुलमति मनःपर्यय है। ऋजुमतिमनःपर्यय नियम से तीन प्रकार का है- सरल मन के द्वारा चिन्तित मनोगत अर्थ को जानने वाला, सरल वचन के द्वारा कहे गये मनोगत अर्थ को जानने वाला और सरल काय से किये गये मनोगत अर्थ को जानने वला।।

विउलमदीवि य छद्धा उजुगाणुजुवयणकायचित्तगयं।
अत्थं जाणदि जम्हा सद्दत्थगया हु ताणथा।। 440।।

विपुलमति मनःपर्यय छह प्रकार का है- क्योंकि वह सरल और कुटिल मन-वचन काय से किये गये मनोगत अर्थ को जानात है। अतः ऋजु मनोगत अर्थ को विषय करने वाला ऋजु वचनगत अर्थ को विषय करने वाला, ऋजुकायगत अर्थ को विषय करने वाला तथा कुटिल मनोगत अर्थ को विषय करने वाला, कुटिल वचनगत अर्थ को विषय करने वाला, कुटिल कायगत अर्थ को विषय करने वाला इस तरह छह प्रकार का है। उन ऋजुमति और विपुलमति मनःपर्यय के विषय शब्दगत और अर्थगत होते हैं। यथा-किसी सरल मन से निष्पन्न व्यक्ति ने त्रिकालवर्ती पदार्थों के

विषय मे चिन्तन किया, सरल वचन से निष्पन्न होते हुए उन पदार्थों का कथन किया और सरल काय से निष्पन्न होकर उनको किया। फिर भूल गया, काल का अन्तराल पड़ने पर स्मरण नहीं कर सका। आ करके पूछता है अथवा चुप बैठता है, तब ऋजुमति मनःपर्यय ज्ञान जान लेता है। तथा सरल या कुटिल मन-वचन काय से किये गये त्रिकालवर्ती पदार्थों को विचार किया, गहा या शरीर से किया। पीछे भूल गया और समय बीतने पर स्मरण नहीं कर सका। आकर पूछता है। या चुप बैठता है, तब विपुलमति मनः पर्ययज्ञानी जानता है।।

तियकालविसयरूविं चिंतंतं वट्टमाणजीवेण।

उजुमदिणाणं जाणदि भुदभविस्सं च विउलमदी।। 441

त्रिकालवर्ती पुद्गल द्रव्य वर्तमान जीव के द्वारा चिन्तवन किया गया हो, तो उसे ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान जानता है। और त्रिकालवर्ती पुद्गलद्रव्य भूतकाल में चिन्तवन किया गया हो, भविष्यत् काल में चिन्तन किया जाने वाला हो या वर्तमान में चिन्तवन किया जाता हो, तो उसे विपुलमतिमनःपर्ययज्ञान जानता है।।

सव्वंगअंगसंभवचिण्हादुप्पज्जदे जहा ओही।

मणपज्जवं च दव्वमणादो उपज्जदे णियमा।। 442।।

जैसे भवप्रत्यय अवधिज्ञान सर्वांग से उत्पन्न होता है और गुणप्रत्यय अवधिज्ञान शरीर में प्रकट हुए शंख आदि शुभ चिह्नों से उत्पन्न होता है, वैसे ही मनःपर्ययज्ञान द्रव्यमन से ही उत्पन्न होता है, ऐसा नियम है, शरीर के अन्य प्रदेशों में उत्पन्न नहीं होता।।

हिदि होदि हु दव्वमणं वियसिय अट्ठच्छदारविंदं वा।

अंगोवंगुदयादो मणवग्गणखंददो णियमा।443।।

अंगोपांग नामकर्म के उदय से मनोवर्गणारूप स्कन्धों के द्वारा हृदय स्थान में मन की उत्पत्ति होती है। वह खिले हुए आठ पाँखुड़ी के कमल के समान होता है।।

णोइंदियत्ति सण्णा तस्स हवे सेसइंदियाणं वा।

वत्तत्ताभावादो मण मणपज्जं च तत्थ हवे।। 444।।

उस द्रव्यमन का नो इन्द्रिय नाम सार्थक है, क्योंकि जैसे स्पर्शन आदि इन्द्रियों का स्थान और विषय प्रकट है, वैसा मनका नहीं है। इसलिए ईषत् अर्थात् किंचित्

इन्द्रिय होने से उसका नाम नोइन्द्रिय है। उस द्रव्यमन में भावमन और मनःपर्ययज्ञान उत्पन्न होते हैं।।

मणपज्जवं च णाणं सत्तसु विरदेसु सत्तइड्ढीणं।
एगादिजुदेसु हवे वड्ढंतविसिट्ठचरणेसु।।445

प्रमत्तसंयत से क्षीणकषाय पर्यन्त सात गुणस्थानों में, बुद्धि-तप-विक्रिया-औषध-रस-बल और अक्षीण नामक सात ऋद्धियों में से एक-दो तीन आदि ऋद्धियों के धारी तथा जिनका विशिष्ट चारित्र वर्धमान होता है, उन महामुनियों में ही मनःपर्ययज्ञान होता है;अन्यत्र नहीं।।

इंदियणोइंदियजोगादि पेक्खित्तु उजुमदी होदि।
णिरवेक्खिय विउलमदी ओहि वा होदि णियमेण।। 446।।

ऋजुमतिमनःपर्यय अपने और अन्य जीवों के स्पर्शन आदि इन्द्रियाँ, मन और मन-वचन-काय योगों की अपेक्षा से ही उत्पन्न होता है। और विपुलमतिमनःपर्यय अवधिज्ञान की तरह उनकी अपेक्षा के बिना ही उत्पन्न होता है।।

पडिवादी पुण पढमा अप्पडिवादी हु होदि बिदिया हु।
सुद्धो पढमो बोहो सुद्धतरो बिदियबोहो दु।। 447।।

प्रथम ऋजुमति मनःपर्यय प्रतिपाती होता है। जो ऋजुमति मनःपर्ययज्ञानी क्षपक श्रेणी आरोहण करके क्षीणकषाय हो जाता है;यद्यपि वह वहाँ से गिरता नहीं है, किन्तु जो उपशम श्रेणी पर आरोहण करके उपशान्त कषाय नामक ग्यारहवें गुणस्थानवर्ती होता है, चारित्रमोह का उद्रेक होने से उसका प्रतिपात होता है। किन्तु दूसरा विपुलमतिमनःपर्यय अप्रतिपाती है। ऋजुमति मनःपर्यय विशुद्ध है, क्योंकि प्रतिपक्षी कर्म का क्षयोपशम होने पर आत्मा की निर्मलता रूप विशुद्धि से उत्पन्न होता है। किन्तु विपुलमतिमनःपर्यय अतिशय विशुद्ध होता है।।

परमणसिद्धियमट्ठं ईहामदिणा उजुट्ठियां लहिय।
पच्छा पच्चक्खेण य उजुमदिणा जाणवे णियमा।।448

दूसरे के मन में सरलता रूप से विचार किया गया जो अर्थ स्थित है उसे पहले ईहामतिज्ञान के द्वारा प्राप्त करके पीछे ऋजुमतिज्ञान से मनःपर्ययज्ञानी नियम से प्रत्यक्ष जानता है।।

चिंतियमचिंतियं वा अद्धं चिंतियमणेय भेयगयं।

ओहिं वा विउलमदी लहिऊण विजाणए पच्छा।। 449।।

चिन्तित, अचिन्तित, अथवा अर्धचिन्तित इत्यादि अनेक भेद रूप दूसरे के मनोगत अर्थ को पहले प्राप्त करके पीछे विपुल मति मनःपर्यय अवधिज्ञान की तरह प्रत्यक्ष जानता है।।

दव्वं खेत्तं कालं भावं पडि जीवलक्खियं रूविं।

उजुविउलमदी जाणदि अवरवरं मज्झिमं च तहा।। 450।।

द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव को लेकर जीव के द्वारा चिन्तित पुद्गल द्रव्य और उससे सम्बद्ध जीवद्रव्य को जघन्य मध्यम उत्कृष्ट भेद के लिए हुए ऋजुमति और विपुलमति मनःपर्यय जानते हैं।।

अवरं दव्वमुरालियसरीरणिज्जिण्णसमयबद्धं तु।

चक्खुंदियणिज्जिण्णं उक्कस्सं उजुमदिस्स हवे।। 451।।

ऋजुमति मनःपर्यय औदारिक शरीर के निर्जीण समय प्रबद्धरूप जघन्य द्रव्य को जानता है और उत्कृष्टद्रव्य के रूप में चक्षु इन्द्रिय के निर्जीर्णद्रव्य को जानता है। वह कितना है सो कहते हैं-औदारिक शरीर की अवगाहना संख्यात घनांगुल है। उसके विस्रसोपचय सहित औदारिक शरीर के समय प्रबद्ध परमाणुओं की निर्जरा होती है। तब चक्षु इन्द्रिय की अभ्यन्तर निर्वृत्ति के प्रदेश प्रचय में कितनी निर्जरा हुई, ऐसा त्रैराशिक करने पर जितना परिमाण आवे, उतने परमाणुओं के स्कन्ध को ऋजुमति उत्कृष्ट रूप से जानता है।।

मणदव्ववग्गणाणमणंतिमभागेण उजुगउक्कस्सं।

खंडिदमेत्तं होदि हु विउलमदिस्सावरं दव्वं।।452।।

मनोद्रव्य वर्गणा के विकल्पों के अनन्तवें भागरूप ध्रुवहार से ऋजुमति के विषय उत्कृष्ट द्रव्य में भाग देने पर जो प्रमाण आता है, उतना विपुलमति के विषयभूत जघन्यद्रव्य का परिमाण होता है।।

अट्ठण्ह कम्माणं समयपबद्धं विविस्ससोवचयं।

धुवहारेणिगिवारं भजिदे विदियं हवे दव्वं।। 453।।

आठो कर्मों के विस्रसोपचय रहित सामान्य समय प्रबद्ध में ध्रुवहार से एक बार

भाग देने पर जो एक खण्ड आता है, वह विपुलमति का विषय द्वितीयद्रव्य होता है।।

तब्बिदियं कप्पाणमसंखेज्जाणं च समयसंखसमं।

धुवहारेणवहरिदे होदि हु उक्कस्सयं दव्वं।। 424।।

विपुलमति के विषयभूत उस दूसरे द्रव्य में असंख्यात कल्पकाल के समयों की संख्या जितनी है, उतनी बार ध्रुवहार से भाग देने पर विपुलमति के विषयभूत सर्व उत्कृष्टद्रव्य आता है।।

गाउयपुधत्तमवरं उक्कस्सं होदि जोयणपुधत्तं।

विउलमदिस्स य अवरं तस्स पुधत्तं वरं खु णरलोयं।। 455।।

ऋजुमति का विषयभूत जघन्य क्षेत्र गव्यूति पृथक्त्व अर्थात् दो-तीन कोस है। और उत्कृष्ट क्षेत्र योजन पृथक्त्व अर्थात् सात-आठ योजन है। विपुलमति का विषयभूत जघन्य क्षेत्र योजन पृथक्त्व अर्थात् आठ-नौ योजन है और उत्कृष्ट क्षेत्र मनुष्य लोक है।।

णरलोएति य वयणं विक्खंभणियामयं ण वट्टस्स।

जम्हा तग्घणपदरं मणपज्जवखेत्ततमुद्दिट्ठं।। 456।।

विपुलमति का विषय उत्कृष्ट क्षेत्र का कथन करते हुए जो मनुष्यलोक कहा है, वह मनुष्य लोक के विष्कम्भ का निश्चायक है; गोलाई का नहीं। अर्थात् मनुष्यलोक तो गोलाकार है; वह नहीं लेना चाहिए। क्योंकि पैंतालीस लाख योजन प्रमाण समचतुरस्र घनप्रतर अर्थात् समान चौकोर घनप्रतर रूप मनःपर्यय का उत्कृष्ट विषयक्षेत्र कहा है। अर्थात् पैंतालीस लाख योजन लम्बा उतना ही चौड़ा लेना क्योंकि मानुषोत्तर पर्वत के बाहर चारों कोनों में स्थित देवों और तीर्यंचों के द्वारा चिन्तित अर्थ को भी उत्कृष्ट विपुलमति जानता है।।

दुगतिगभवा हु अवरं सत्तट्ठभवा हवंति उक्कस्सं।

अडणवभवा हु अवरमसंखेज्जं विउलउक्कस्सं।। 457।।

काल की अपेक्षा ऋजुमतिका जघन्य विषय दो-तीन भव होते हैं। और उत्कृष्ट सात आठ भव होते हैं। विपुलमति का जघन्य विषय आठ-नौ भव होते हैं और उत्कृष्ट पल्य का असंख्यातवां भाग है।।

आवलिअसंखभागं अवरं च वरं च वरमसंखगुणं।

तत्तो असंखगुणिदं असंखलोगं तु विउलमदी।। 458।।

भाव की अपेक्षा ऋजुमति का जघन्य विषय आवलीका असंख्यातवाँ भाग है। उत्कृष्ट भी उतना ही है, किन्तु जघन्य से असंख्यातगुणा है। उससे विपुलमति का जघन्य विषय असंख्यातगुणा है और उत्कृष्ट असंख्यात लोक है।।

मज्झिमदव्वं खेत्तं कालं भावं च मज्झिमं णाणं।
जाणदि इदि मणपज्जयणाणं कहिदं समासेण।। 459।।

ऋजुमति और विपुलमति के जघन्य और उत्कृष्ट भेद अपने-अपने जघन्य और उत्कृष्ट द्रव्य-क्षेत्र-काल और भावों को जानते हैं। तथा मध्यमभेद अपने-अपने मध्यम क्षेत्र-काल-भाव- को जानते हैं। इस प्रकार मनःपर्ययज्ञान का संक्षेप से कथन किया।।

अध्याय VI

क्या है भगवान् का स्वरूप ?

(चालः 1. तुम दिल की धड़कन....2, सायोनारा....3. छोटी-छोटी गैया....)

द्रव्य-भाव-नोकर्म से रहित, होते है 'शुद्ध जीव'।
इन्हें ही कहते है 'सच्चिदानंद या 'भगवन्' सिद्ध जीव।
समस्त विभाव-बंधन रहित, होते हैं 'शुद्ध जीव'।
सत्य-शिव-सुन्दर होते हैं, 'परमात्म' होते हैं युक्तजीव'।।
तन-मन इंन्द्रिय-राग-द्वेष परे, होते है 'शुद्ध-बुद्ध'।
अनंतगुणों से सहित होने से होते (हैं) परम-समृद्ध।।
अनंतज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य, अस्तित्व वस्तुत्व आदि।
प्रमेयत्व अगुरुलघुत्व, सूक्ष्मत्व-अव्याबाधादि।।
राग-द्वेष-मोह-काम-क्रोधादि से, रहित होते हैं 'भगवान्'।
जन्म-जरा-मृत्यु-रोग-शोक-भय, चिंता-खेद से विहीन।।
शत्रु-मित्र व अपना-पराया, आकर्षण व विकर्षण।
रहित होते हैं 'भगवान्' संकल्प-विकल्प से भिन्न।।
सत्य-समता-शांति से युक्त, होते हैं ज्ञाता व दृष्टा।
किसी से वे न करते विद्वेष, नहीं करते वे (कुछ) अनिष्ट।।
तीन लोक व तीन काल को जानते वे युगपत।

उनके लिए अज्ञात कुछ न होता, वे जानते सब एक साथ।
अनंतसुख-सम्पन्न होते, जो हैं इंद्रियातीत।
अव्याबाध वह आत्मिक सुख, तन-मन से भी अतीत।।
त्रिकालवर्ती तीन लोक के, जितने हैं देव-मानव।
इनके सुख से भी अनंतगुणित, सुख पाते हैं शुद्ध जीव।।
ऐसी ही शक्ति व आत्म वैभव से, युक्त होते (हैं) भगवान्।
सादि अक्षय-अनंत काल तक वे, होते हैं सुख-सम्पन्न।।
अभी तक अनंत जीव, बन गये है सिद्ध-भगवान्।
स्व-स्व-अष्टकर्म नष्ट कर, बन गये हैं शुद्ध भगवान्।।
सिद्ध बनने के पहले वे, करते (है) घातिया-नाश।
अरिहंत केवली तीर्थंकर, आदि उनके ही नाम-विशेष।।
समवशरण में तीर्थंकर देव, देते हैं दिव्य-उपदेश।
अहिंसद्य-सत्य-अचौर्य-ब्रह्मचर्य, व अपरिग्रह का संदेश।।
अनेकान्तात्मक वस्तु व्यवस्था, का करते हैं उपदेश।
अणु से लेकर ब्रह्माण्ड तक, का करते हैं उपदेश।।
आत्म विकास हेतु गुणस्थानों का, देते हैं दिव्य-संदेश।
द्रव्य,तत्त्व व पदार्थ आदि का, देते हैं उपदेश।।
अघातिया को भी नाश करके, वे बनते है 'सिद्धजीव'।
'सिद्धजीव' ही है 'परमशुद्ध', जिसे कहते हैं 'मुक्तजीव'।।
इसी अवस्था को प्राप्त करने हेतु, विधेय धर्म-अशेष।
'कनकनन्दी' का यह ही लक्ष्य, इसी हेतु ही हर प्रयास।।

भगवान् का स्वरूप

(चालः 1. सायोनारा....2. शत-शत वंदन....।)
सर्वज्ञ कथित जैन धर्म में, जो भगवान् का वर्णन हुआ।
उसका कथन कर रहा हूँ, जैसा वर्णन आचार्यों ने किया।
भगवान् हैं, 'सच्चिदानन्द' 'सत्य-शिव-सुन्दर' अमृत धाम।
शुद्ध-बुद्ध-आनन्द परम-पुरुष, अनंत ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्यवान्।। 1

द्रव्यकर्म-नोकर्म से रहित, जन्म-जरा-मृत्यु रोग से मुक्त।
अमूर्तिक स्वयंभू स्वयंपूर्ण, उत्पाद व्यय व ध्रौव्य से युक्त।।
स्वयं ही कर्त्ता1 स्वयं ही कर्म2, स्वयं ही करण3, स्वयं ही संप्रदान4।
स्वयं ही होते अभिन्न षट्कारक, अपादान5 तथा अधिकरण6।।2।।
अतएव भगवान् होते हैं स्वाधीन स्वावलम्बी व परमश्रेष्ठ।
अव्याबाध व अनाकुलमय, टंकोत्कीर्णमय स्व में स्थित।।
क्रोध-मान-माया-लोभ रहित, हास्य-रति-अरति व भय-शोक।
काम-मोह-ईर्ष्या-घृणा (से) रहित, समता-शांति व क्षमादियुक्त।3।।
ज्ञाता दृष्टा होते विश्व का, नहीं होते किसी के कर्त्ता व हर्त्ता।
समस्त विभाव व विकार रिक्त, निर्मल निर्विकार स्वयं में संस्थित।।
यह अवस्था है परम-अवस्था, हर जीव की भी शुद्ध अवस्था।
आध्यात्मिक-क्रम-विकास द्वारा, भव्यजीव प्राप्त करते यह अवस्था।।4।।
चौरासी लाख योनि के मध्य में, मनुष्य प्राप्त करते यह अवस्था।
जो आत्मविश्वास ज्ञान चारित्र द्वारा, प्राप्त करते हैं जो शुद्ध अवस्था।।
इसी अवस्था की प्राप्ति हेतु ही, राजा-महाराजा भी बनते (हैं) साधु।
इसी अवस्था की प्राप्ति हेतु ही 'कनक' बना आध्यात्मिक साधु।। 5।।

भगवान् को पूर्णतः जानते हैं भगवान् छद्मस्थ पूर्णतः नहीं

(भव्यजीव श्रद्धा-प्रज्ञा-साधना से बनते हैं भगवान्)

(चाल : 1. सुनो सुनो ऐ दुनिया....2. सायोनारा....3.भातुकली....4.छोटी-छोटी गैया....5. तुम दिल की....।)

भगवान् को जानने हेतु, स्वयं को बनना होगा भगवान्।
अन्यथा न होगा पूर्णतः परिज्ञान, श्रद्धा-प्रज्ञा से आंशिक ज्ञान।। (स्थायी)
इसके कारण अनेक होते है, भगवान् में होते अनंत-गुण।
अनंत गुणों को जानते हेतु, चाहिए अनंत ज्ञान-गुण।।
भगवान् के बिना अन्य को होता है, संख्यात व असंख्यात ज्ञान।
मति-श्रुतज्ञानी जानते संख्यात, अवधि-मनःपर्यय असंख्यातज्ञान।। 1

सिद्ध भगवान् तो होते अमूर्तिक, जो होता केवलज्ञान गम्य।

छद्मस्थ जीव न जान पाते, अमूर्तिक श्रुतज्ञान से परोक्ष गम्य।
विशाल वट वृक्ष स्व-बीज से बनता, बीज से विशाल होता है वृक्ष।
शक्ति रूप में बीज में निहित, वृक्षाकार न होता है बीज।। 2।।

तथाहि जीव/(भव्य) में भगवान् निहित,भव्य/(जीव) ही बने है भगवान्।
तथापि छद्मस्थ न जान पाते (पूर्णतः) अनंत गुण युक्त स्व-भगवान्।।
बीज में निहित विशाल वृक्ष न, विकसित होने पर दिखे वृक्ष।
तथाहि जीव में प्रभु न देखे/(जाने), विकसित होने पर जाने भगवान्।। 3।।

यथा कृषक श्रद्धा करता है, बीज से ही वृक्ष बनेगा महान्।
यथा जो श्रद्धा करते भव्य से बन सकते हैं भगवान्।।
श्रद्धा-प्रज्ञा व साधना द्वारा, जो करे स्व आत्मविकास।
वह अवस्था बने भगवान् 'कनकनन्दी' का दृढ़ विश्वास।। 4।।

स्व-शुद्धात्मवन्दन

(चालः 1. शत-शत वन्दन)

नित्य निरंजन सत्य सनातन, स्वात्म रूपाय नमो नमः।
सच्चिदानन्दाय ज्ञानामृताय, सत्य शिव सुन्दराय नमो नमः।।1

वीतरागाय साम्यरूपाय, अक्षय अनन्ताय नमो नमः।
रत्नत्रयाय विभूरूपाय अजर, अमराय नमो नमः।। 2

अनन्त गुणाय अनन्त रूपाय, अव्याबाध रूपाय नमोः नमः।
अनन्त ज्ञानाय अनन्त दर्शनाय, अनन्त सुखाय तुभ्यं नमः।। 3

मोहारी नाशाया सम्यक्त्व प्राप्ताय, सर्व कर्म रहिताय मोक्ष रूपाय।
विघ्नकर्म रहिताय अनन्तवीर्याय, अमूर्तरूपाय नमो नमः।। 4

संसार अतीताय लोकाग्रस्थिताय, स्वात्मस्थिताय सर्वगताया।
शक्तिरूपेण अद्यऽविसंस्थिताय, भावी सिद्धाय नमो नमः।। 5

स्वरूपध्यानेन स्वरूपप्राप्ताय, तवगुणवन्दे तव प्राप्ताय।
स्वात्मोपलब्धि रूपी मोक्ष प्राप्ताय, 'कनक' वन्दे शुद्धात्मरूपाय।। 6

चक्रवर्ती तक क्यों बनते हैं निस्पृह समताधारी साधु! ?

(चाल : आत्मशक्ति से ओतप्रोत..., क्या मिलिए....)

एक प्रश्न मेरे मन-मस्तिष्क में, बार-बार उभरकर आता है...
क्यों राजा-महाराजा सेठ-साहूकार भी, साधु-श्रमण बन जाते हैं...(ध्रुव)...
इसी हेतु मैंने शोध-बोध किया, देश-विदेशों के ग्रंथो से...
इतिहास पुराण समाजशास्त्र व, मनोविज्ञान तथा आगमों से...
मैंने जो पाया व अनुभव किया, सुख न मिले सत्ता-संपत्ति से...
ख्याति-पूजा-लाभ-प्रसिद्धि से व, भोग-उपभोग-विभूति से...(1)...

इनसे तृष्णा तो बढ़ती जाती यथा, लवण युक्त पानी से प्यास की...
आकुलता-व्याकुलता अशांति बढ़ती, न मिलती तृप्ति-शांति भी...
यथा दिग्विजयी चक्री भरत को, अनंत सुख न मिला राज्य में...
श्रमण बनते ही अंतर्मुहूर्त में, अनंत सुख मिला-स्व आत्मा में...(2)...

दिग्विजयी चक्री या राजा-महाराजा, सिकन्दर चँगेज खाँ नेपोलियन...
रावण कंस जरासंघ हिटलर को, नहीं मिला आध्यात्मिक सुख-चैन...
शांति कुंथु अरह थे तीर्थंकर कामदेव, चक्रवर्ती सम्राट षटखण्ड के...
मुनि बनकर चौसठ ऋद्धि प्राप्त कर भी, अखण्ड मौन में साधनारत...(3)...

सर्वज्ञ बनने के अनन्तर ही, दिव्य ध्वनि से किये उपदेश...
राग-द्वेष-मोह-ख्याति-पूजा शून्य, निस्पृह भाव से दिये उपदेश...
इसी से यह भी शिक्षा मिलती, निस्पृह समता से ही मिलता सुख...
राग-द्वेष-मोह व ख्याति-पूजा से भी, नहीं मिलता है आत्मिक सुख...(4)...

सर्व कर्म से रहित अवस्था में, जीव बनता (है) सच्चिदानंदमय...
शुद्ध-बुद्ध आनन्दमय बनना ही, 'कनकनन्दी' का परम लक्ष्य...(5)...

सर्वज्ञ-वीतरागी होते हैं भगवान्

(चाल: सायोनारा...., तुम दिल की धड़कन में....)

जिनेन्द्र जित कर्मारि...जितमोह वीतरागी...
जिनवर वृषभ जितात्मा...जगत्बंधु जगत्गुरु...

सर्वज्ञ हो तुम समस्त ज्ञान से...तीन-लोक तीन काल सर्व/(सत्य) ज्ञान से...
अणु से भी सूक्ष्म आत्म तत्त्व-ज्ञान से...लोक से परे अलोक के ज्ञान से...
घाती कर्म नाश से सर्वज्ञ बने...साम्य वीतरागी हितोपदेशी बने...
अनंत-ज्ञान-दर्श-सुख-वीर्यवान् बने...परम अहिंसा व सत्य स्वरूप बने...(1)

मानवीय दुर्बलताओं से परे बने...ईर्ष्या-द्वेष-घृणा-तृष्णा परे बने...
क्षुधा-तृषा-रोग से परे भी बने...कामुक प्रवृत्ति से परे भी बने...
अनेकान्त सिद्धांत(को)परम सत्य कहा आत्म शुद्धता को अहिंसा(धर्म) कहा...
आत्म वैभव को ही परम वैभव कहा...शुद्धात्म-स्वरूप को मोक्ष कहा...(2)...

आत्म विकास ही परम विकास है...आत्म-उपलब्धि ही परम उपलब्धि है...
आत्म-ज्ञान को ही परम विज्ञान कहा...आत्म शिक्षा को ही परमशिक्षा कहा...
हर जीव स्व का कर्त्ता-धर्त्ता कहा...स्वभावतः हर द्रव्य को सत्य कहा...
अति सूक्ष्म-गहन-व्यापक आपका कथन...'कनक' अतः माने आपको
भगवान्...(3)...

भगवान् हो तुम ज्ञानवान् होने से...भगवान् हो तुम कर्मनाशी होने से...
अनंत गुणधारी तुम्ही हो भगवान्...सर्व दोष परे आत्मा ही हो भगवान्...(4)...

जीव का शुद्ध स्वरूप या परम विकास

(चालः तुम दिल की धड़कन में...., छोटी-छोटी गैया...., सायोनारा....)

शरीर-इन्द्रिय-मन से परे...होता है जीव का अस्तित्व...
द्रव्य-भाव-नोकर्म परे...होता है आत्मा का अस्तित्व...
क्रोध-मान-माया-लोभ परे...होता है जीव का अस्तित्व...
क्षुधा-तृषा व काम-मोह परे...होता है आत्मा का अस्तित्व...(1)

डी.एन.ए, आर.एन.ए., व सेल्स से परे...होता है चेतना का अस्तित्व...
जाति-गोत्र व नाम से परे...होता है जीव का अस्तित्व...
धार्मिक पंथ-मत-रूढ़ि से परे...होता है आत्मा का अस्तित्व...
देश-भाषा व राजनीति से परे...होता है सोल का अस्तित्व...(2)

सत्ता-संपत्ति व प्रसिद्धि परे...होता है चैतन्य अस्तित्व...
भाई-बंधु-कुटुम्ब-समाज परे...होता है रूह का अस्तित्व...
कानून-संविधान व राष्ट्र से परे...होता है आत्मा का अस्तित्व...
संकीर्ण शिक्षा व विज्ञान से परे...होता है जीव का अस्तित्व...(3)

जीव है सच्चिदानंदमय...सत्य शिव सुंदर अविनाशी...
स्वयंभू सनातन स्वयंपूर्ण अमूर्तिक...अविभागी अनंतगुण मय...
शरीर आदि संपूर्ण उक्त विषय/(वर्णन)...कर्मजनित है विकारमय...
यथा बादल-विद्युत-वर्ण आदि...नहीं है आकाश ये तो पुद्गलमय/
(भौतिकमय)...(4)...

जीव का शुद्ध स्वरूप परिनिर्वाण...जिसे कहते हैं शुद्ध-बुद्ध आनंद...
इसे प्राप्त करना ही है परम विकास...'कनकनन्दी' चाहे परम विकास...(5)...

''दशविध-शक्ति की जागृति''

(रागःसायोनारा...., तुम दिल की धड़कन....)
जागो-जागो महाशक्ति...जागो मेरी आत्मशक्ति।
जागो मेरी श्रद्धाशक्ति...जागो मेरी प्रज्ञाशक्ति।।
जागो मेरी क्षमाशक्ति1 ...नष्ट करो क्रोधशक्ति।
नम्रता-शक्ति2 भी जागो...नष्ट करो मान-शक्ति।। (1)

आर्जव-शक्ति3 भी जागो...कुटिलता नाश करो।
सत्य-शक्ति4 तु भी जागो...मिथ्या-मोह नाश करो।।
जागो-जागो शुचि-शक्ति5...नाश करो तृष्णा-शक्ति।
सनम्र सत्यग्राही बनूँ...क्षमाशील शुचि बनूँ।। (2)

संयम-शक्ति6 भी जागो...असंयम नाश करो।
आत्मानुशासी मैं बनूँ...मनेन्द्रिय वश करूँ।।
धैर्य-शक्ति' तू भी जागो...अधीरता दूर करो।
धीर-वीर मैं भी बनूँ...गंभीर अचल बनूँ।। (3)

जागो मम ध्यान-शक्ति6...कर्म-शक्ति नष्ट करो।

आत्म-स्थिरता को पाऊँ.. ज्ञायक भाव मैं पाऊँ।।
जागो मेरी ब्रह्म-शक्ति9...अनात्म-भाव को नाशो।
विस्तार करूँ स्वभाव...अनंत-अक्षय भाव।। (4)

जागो-जागो सुख शक्ति10...सर्व दुःख का विनाश।
सच्चिदानंद मैं बनूँ...शुद्ध-बुद्ध शिव बनूँ।।
तेरी जागृति हेतु मैं...समता की साधना करूँ।
स्वाध्याय व त्याग करूँ...निस्पृहता व तप करूँ।। (5)

आप ही परम शक्ति...भौतिक शक्ति से परे।
अविनाशी हो अविकारी...ब्रह्माण्ड की परा शक्ति।।
मुझमें ही मेरे द्वारा...प्रगट हो सर्व शक्ति।
आह्वान जागृत करूँ...'कनक' तुझे मैं पाऊँ।। (6)

तीर्थंकरों के ऊपर हुए उपसर्गों से प्राप्त मुझे शिक्षाएँ

(चालःछोटी-छोटी गैया...., तुम दिल की धड़कन....)

जन्म से दश अतिशय सम्पन्न, तीन कल्याणक के धारी।
चार ज्ञान चौसठ ऋद्धि सम्पन्न, अतुलित बल के(वे) धारी।। (1)
जन्म पूर्व से ही इन्द्रों से पूजित, समता-शांति के धारी।
गृहस्थ अवस्था में होते राजपुत्र, राजा महाराजा चक्र (के) भारी।। (2)

तथापि उन्हें लौकिक जन, मानते दीन हीन व अज्ञानी।
दुष्ट-अपकारी पागल मानकर, करते (हैं) उपसर्ग भी धारी।।(3)

तथापि समता-शांति से रहते, करते वे ध्यान व अध्ययन।
क्षमा धैर्य सहिष्णुता में रहते, करते थे ध्यान व अध्ययन।
इसी से मुझे मिलती शिक्षा, यथाशक्ति गुण ग्रहण करने की।
लौकिक जनों से अप्रभावी होकर आत्म विशुद्धि सदा करने की।। (5)

यह कर्म की प्रक्रिया सदा ही, अनादि-अनंत तक रहेगी।
राग द्वेष मोह अज्ञान के कारण, जीवों की ऐसी परिणति (भी) होगी।। (6)

कूपमण्डुक क्या जाने ब्रह्माण्ड को, जुगुनू न होता है सूर्य।
महासमुद्र में होता आकाश सम, मोही क्या जाने आध्यात्म।। (7)

स्वपूर्वार्जित कर्म नाश हेतु, समता, शांति से रहूँगा।
ध्यान-अध्ययन मनन-चिंतन द्वारा, क्षमा-धैर्य (ही) अपनाऊँगा।। (8)

संघानुशासन या धर्मरक्षा हेतु (भी) करना पड़े यदि प्रतिकार।
क्षुद्र व दूषित परिणाम बिना ही, करूँगा सुयोग्य उपकार।। (9)

सुयोग्य वैद्य यथा करता है, रोगी की शल्य (भी) चिकित्सा।
तथाहि स्व-पर विश्वहित हेतु, करूँगा सही (भी) चिकित्सा।। (10)

यह सब अपवाद मैं करूँगा, अद्वेष-घृणा से रिक्त।
आत्मविशुद्धि ही मुख्य करूँगा, 'कनक' हो दत्त चित्त।। (11)

असंक्लेशित भाव से विश्व-कल्याण की भावना भाऊँ

(रागः कौन परदेसी तेरा...रघुपति राघव..., शत-शत वंदन... सायोनारा...
छोटी-छोटी गैया...) - आचार्य कनकनन्दी

विश्वहित की तो भावना भाऊँ, अन्य के कारण न संक्लेश करूँ।
रोगी का उपचार सुवैद्य करे, रोगी के कारण रोगी न बने।।
मैत्री, प्रमोद व कारुण्य माध्यस्थ, चारों/(इन्हीं) भावों से सहित बनूँ।
द्वादश अनुप्रेक्षा व षोडश भावना, इन्हीं भावों से भावित बनूँ।।
सत्य-तथ्य को सर्वथा जानूँ, दोष-गुणों को सर्वथा मानूँ।
दोषी-निर्दोषी को यथार्थ जानूँ, गुण-ग्रहण करूँ दोषों को हनूँ।।
अनंत जीव है व अनंत संसार, पृथक-पृथक होते है भाव-व्यवहार।
सभी का सही होना नहीं संभव, स्वयं को सही बनाना संभव।।
स्व को सही बनाने में करूँ प्रयत्न, इसी हेतु सर्वथा मैं करूँ प्रयत्न।
प्रकाशित बनकर मैं प्रकाश करूँ, आत्महित से परहित मैं करूँ।।
ऐसा ही तीर्थंकर देव ने किया, राग-द्वेष-मोह सर्वथा त्याग।
इसी से अनंत सुख उन्होंने पाया, 'कनकनन्दी' को भी यह ही भाया।।

तीर्थंकर-सिद्ध से प्राप्त आत्मोपलब्धि की शिक्षाएँ

(तर्जः आत्मशक्ति से ओतप्रोत...

अनन्त ज्ञान दर्शन सुख वीर्य के होते है स्वामी तीर्थंकर देव।
समवशरण की विभूति सहित, शतइन्द्र से सेवीत देव।।
तथापि किसी से भी राग-द्वेष न करते, न चाहते ख्याति पूजा लाभ।
निन्दा प्रशंसा अपमान से अप्रभावित, नहीं करते कभी मोह व क्षोभ।।
समवशरण की विभूति से भी नहीं करते वे स्पर्श व मोह।
भक्तों के प्रति भी न राग करते, शत्रु के प्रति न करते क्षोभ।।
दिव्य ध्वनि भी निस्पृहता से खिरे नहीं रखते कर्तव्य भाव।
सिद्ध भगवान् अष्टकर्म रहित सहित होते हैं अष्टगुणों से।
रहित होते है भौतिक शरीर से, समवशरण व दिव्य ध्वनि से।।
मुझे तो दोनों देवों से शिक्षा मिलती है निम्न प्रकार।
शक्ति-प्रसिद्धि-भक्त-विरोधियों से भी, नहीं करना राग-द्वेष-मोह।।
प्रवचन-अध्यापन-धर्म-प्रचार से भी, नहीं चाहूँ ख्याति पूजा लाभ।
इसी हेतु न राग-द्वेष करूँगा, रहूँगा, इसी से भी निस्पृह निर्लोभ।।
भौतिक-निर्माण व धन-जन-संग्रह भी, नहीं करना है मुझे साम्यभाव से।।
सरल-सहज व निस्पृह रहकर, करना ये सब साम्यभाव से।।
सत्य-समता-शांति की प्राप्ति हेतु करना है मुझे आत्म विशुद्धि।
अनन्तज्ञान दर्शन सुख वीर्य प्राप्ति हेतु, 'कनक' करे सदा आत्मा की सिद्धि।।

तीर्थंकर से प्राप्त महान् शिक्षाएँ

''वन्दे-तद्गुण लब्धये'' का रहस्य

(रागः जय हनुमान ज्ञान....),

जय-जय हे! तीर्थंकर महान्-आप (तो) हो अनन्त गुणों की खान।
आप हो विश्व के गुरु महान्-आपसे मिले है शिक्षा महान्।।
आपके त्रिकालवर्ती जीवन स्वयं ही देते है शिक्षा महान्।

दिव्य ध्वनि से तो मिलती शिक्षा, सात सौ अठारह आपकी भाषा।।
आपने भाया है सोलह कारण-जिससे बने हो तीर्थेश महान्।
इसी से मिलती हमें भी शिक्षा-महान् बनने की आत्मिक शिक्षा।।
वैभव सम्पन्न जन्म से हुए-तीन ज्ञान के धारी भी हुए।
राजकुमार या राजा भी हुए चक्रवर्ती भी पदवी पाये।।
तथापि समस्त त्यागा वैभव-साधु बनकर ध्याया स्वभाव।
इसी से मिले है हमें प्रेरणा-भौतिकवादी नहीं है बनना।।
चार ज्ञानधारी बने तत्काल-ऋद्धि प्रगट भी हुई सकल।
तो भी किया आप ध्यान प्रबल-मौन से साधा सन्यासकाल।।
इसी से हमें है शिक्षा मिलती साधु अवस्था की निस्पृह वृत्ति।
ख्याति पूजा से भी दूर रहना-आत्म साधना में रत रहना।।
शुक्ल ध्यान से घाति-नशाया-सर्वज्ञ पद को आपने पाया।
समवशरण की हुई रचना-देवों के द्वारा हुई दिव्य रचना।।
बारह सभा की रचना मध्ये सिंहासन पर कमल राजे।
कमल से चार अंगुल परे-वीतराग से आपश्री विराजे।।
दिव्य ध्वनि द्वारा विश्व सम्बोधा-परम सत्य का बोध कराया।
आत्मशुद्धि का मार्ग बताया-विश्व शान्ति का पाठ पढ़ाया।।
अनन्त ज्ञान दर्शन सुख पाया -हजार पाँच धनु उर्ध्व विराजा।
योजन शत-प्रमाण सुभिक्ष होता-महामारी युद्ध आतंक न होता।
सुर नर पशु बने आपके शिष्य-शान्ति भाव से नमाये शीश।
जन्मजात वैर त्यागा-सबने-दिव्य ध्वनि सुना भक्ति भाव से।।
इसी से बहुविध शिक्षा मिलती-अनासक्ति भावना उत्पन्न होती।
आत्मशुद्धि की भावना होती-समता-की शिक्षा भी हमें मिलती।।
विश्वमैत्री पाठ हमें मिलता-अवैर भाव भी जागृत होता।
उदारता का भाव जागता-ज्ञान का मद भी दूर होता।।
सत्य अहिंसा का महाप्रभाव-स्व-पर सुख शान्ति का रहस्य।
स्व-पर प्रकाशी आत्मिक ज्योति-प्रकाशित करना तो बनो हो ज्योति।।

योग निरोध से बने शैलेश-लाख चौरासी शील के ईश।
सर्व कर्मास्रव दूर हो जाता अ इ उ ऋ लृ में मोक्ष हो जाता।
हमें इनसे बहु शिक्षा मिलती-अकम्पभाव से मुक्ति मिलती।
पूर्ण अकम्प से कर्मास्रव न होता-आत्मलीनता से मोक्ष मिलता।।
मोक्ष में अनन्त सुखादि होते-जन्मजरा मरण रहित होते।
सर्व कर्म रहित शुद्धात्मा होता-शरीर इन्द्रिय मन रहित होता।।
संसार भ्रमण कभी न होता-अनन्तकाल तक शुद्ध रहता।
सच्चिदानन्द रूप है रहता-अमूर्तिक सूक्ष्म ध्रुव ही रहता।।
इनसे शिक्षा मिले बहुत-अनन्त सुख हेतु बनो आत्मस्थ।
आत्मस्थ होना (ही) परम स्वास्थ्य-स्व-लीनता ही मोक्ष निवास।।

केवल ज्ञान

संपुण्णं तु समग्गं केवलमसवत्त सव्वभावगयं।
लोयालोयवितिमिरं केवलणाणं मुणेदव्वं।। 460।। गो.जी.

जीवद्रव्य के शक्तिरूप जो सब ज्ञान के अविभाग प्रतिच्छेद है, वे सब व्यक्त हो जाने से केवलज्ञान सम्पूर्ण है। मोहनीय और वीर्यान्तराय का सम्पूर्ण क्षय होने से केवलज्ञान की शक्ति बेरोक और निश्चल है, इसलिए वह समग्र है। इन्द्रियों की सहायता न लेने से केवल है। चार घातिया कर्मों का अत्यन्त क्षय हो जाने से तथा क्रम और इन्द्रियों के व्यवधान से रहित होने के कारण समस्त पदार्थों को जानने से असपन्न है। लोक और अलोक को प्रकाशित करने वाला ऐसा यह केवलज्ञान जानना।।

अतीन्द्रिय ज्ञान ही केवलज्ञान

परिणमदो खलु णाणं पच्चक्खा सव्वदव्वपज्जाय।
सो णेव ते विजाणदि उग्गहपुव्वहिं किरियांहि।। (21) प्र.सार.

The omniscient who develop knowledge directly visualize all objects and their moddifaication; he does never comprehend then through the sensational stage such as outlinear grasp.

आगे कहते हैं कि केवलज्ञानी अतीन्द्रिय ज्ञान में परिणमन करते हैं इस कारण

से सर्वपदार्थ प्रत्यक्ष होते हैं। (खलु) वास्तव में (णाणं) अनन्त पदार्थों को जानने में समर्थ केवल ज्ञान को (परिणमदो) परिणमन करते हुए केवली अरहंत भगवान् के सब (द्रव्वपज्जाया) सर्व द्रव्य और उनकी तीन कालवर्ती सर्व पर्याये (पच्चक्खा) प्रत्यक्ष हो जाती है।(स) वह केवली भगवान् (ते) उन सर्व द्रव्य पर्यायों को आगे (पुव्वहि किरियाहिं) अवग्रह पूर्वक क्रियाओं के द्वारा (णेवविज्जाणदि) नही जानते है किन्तु युगपत् जानते हैं ऐसा अर्थ है।

इसका विस्तार यह है आदि और अन्त रहित, बिना किसी उपादानकारण के संज्ञा रखने वाले तथा चैतन्य और आनन्दमयी-स्वभाव के धारी अपने शुद्ध आत्मा को उपादेय अर्थात् ग्रहण योग्य समझकर केवलज्ञान की उत्पत्ति का बीजभूत जिसको आगम की भाषा में शुक्ल ध्यान कहते हैं, वह होने से रागादि-विकल्पों के जाल से रहित स्वसंवेदन ज्ञान के द्वारा जब यह आत्मा परिणमन करता है तब स्वसंवेदनज्ञान के फलस्वरूप केवल ज्ञानमयी ज्ञानाकार में परिणमन करने वाले केवली भगवान् के उसी क्षण में, जब केवलज्ञान पैदा होता है, तब क्रम क्रम से जानने वाले मति ज्ञानादि के अभाव से बिना क्रम से एक साथ सर्वद्रव्य, क्षेत्र, काल सहित सर्व-द्रव्य, गुण और पर्याय प्रत्यक्ष प्रतिभासमान हो जाते हैं, ऐसा अभिप्राय है।

समीक्षा– ज्ञानावरणीय कर्म क्षय से जो केवलज्ञान प्रगट होता है वह केवलज्ञान अनंत ज्ञेय को प्रकाशित करने वाली शक्ति से युक्त होता है। एक जीव में असंख्यात आत्मप्रदेश होते हैं केवलज्ञानी के उस असंख्यात आत्म प्रदेश में से एक आत्म प्रदेश मे जितनी ज्ञान रूपी ज्योति है, उस ज्योति से जो लोक-अलोक है उससे भी अधिक द्रव्य होता तो भी प्रकाशित हो जाता। इसलिए गुणभद्र स्वामी ने कहा है यह लोक अलोक जिस ज्ञान के एक कोने में विलीन हो जाता है। इसलिये केवलज्ञानी समस्त लोक(विश्व) अलोक के सम्पूर्ण ज्ञेय पदार्थ/सत्य को त्रिकालवर्ती समस्त पर्यायों को/ अवस्थाओं को/परिणमन को स्पष्ट/(विशद/युगपत्/ एक साथ जानते हैं। यदि वे क्रम से जानेंगे तब वे सम्पूर्ण ज्ञेय को बहुकाल तक भी नहीं जान पायेंगे क्योंकि एक ही द्रव्य में अनंत गुण और अनंत पर्याय होती है। तब एक धर्म द्रव्य, एक अधर्म द्रव्य, एक आकाश द्रव्य, असंख्यात काल द्रव्य, अनंत जीव द्रव्य, अनंतानंत पुद्गल द्रव्य की अनंतानंत पर्यायों को कैसे जान सकेंगे ? इसलिए केवली भगवान् अवग्रह, ईहा,

आवाय, धारणापूर्वक नहीं जानते हैं परन्तु एक साथ देखते और जानते हैं। इतना ही नहीं, छद्मस्थ जीवों की ज्ञान प्रवृत्ति जिस प्रकार दर्शन पूर्वक होती है उसी प्रकार भी केवली भगवान् की प्रवृत्ति क्रम से नहीं युगपत् होती है। द्रव्य संग्रह में कहा भी है-

दंसणपुव्वं णाणं छदुमत्थाणं दोण्णि उवओग्गा।
जुगवं जम्हा केवलि णाहे जुगवं तु ते दोवि।। (44)

छद्मस्थ जीवों के दर्शनपूर्वक ज्ञान होता है। क्योंकि छद्मस्थों के ज्ञान और दर्शन ये दोनों उपयोग एक समय में नहीं होते। तथा जो केवली भगवान् हैं उनके ज्ञान तथा दर्शन ये दोनों ही उपयोग एक समय में होते हैं।

कुछ श्वेताम्बर जैनाचार्य केवली के भी ज्ञान की प्रवृत्ति दर्शनपूर्वक होती है ऐसा मानते हैं परन्तु ऐसा मानने पर अनेक दोष उत्पन्न होते हैं क्योंकि मोह क्षय के बाद एक साथ ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, अनन्तरायकर्म का क्षय होता है जिसके कारण केवलज्ञान एवं केवलदर्शन एक साथ निरावरण हो जाते हैं। जब एक साथ निरावरण होने से अन्य कोई कारण नहीं जिससे प्रवृत्ति क्रम से हो सके। जिस उमास्वामी आचार्य को दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों मानते हैं उनकी कृति तत्वार्थ सूत्र मे लिखा हुआ कि-

'मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शनावरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्'। (1)

मोह का क्षय होने से ज्ञानावरण दर्शनावरण और अन्तराय कर्म का क्षय होने से केवलज्ञान प्रगट होता है।

सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य। (29)

केवलज्ञान की प्रवृत्ति सब द्रव्यों और उनकी सब पर्यायों में होती है। राजवार्तिक में अंकलक देव स्वामी इस सूत्र का वार्त्तिक करते हुए कहते हैं कि-

सर्व ग्रहणं निरवेशप्रतिप्रत्यर्थ।(91)

ये लोकालोक भेदन्नस्त्रिकालविषया द्रव्यपर्याया अनन्ताः तेषु निरवशेषेषु केवलज्ञानस्य विषयनिबन्ध इति प्रतिपत्त्यर्थ सर्वग्रहण यावंल्लोकस्वभावोऽनन्त तत्त्वतोऽनन्तानन्ता यद्यपि स्युः तानपि ज्ञातुमस्य समर्थ्यमस्तीत्यपरिमितमाहात्म्यं तत् केवलज्ञानं वेदितव्यं।

निरवशेष(सम्पूर्ण) का ज्ञान कराने के लिए सर्व शब्द को ग्रहण किया है। लोक और अलोक में त्रिकालविषयक जितने भी अनन्तानंत द्रव्य और पर्याये हैं उन सब में केवलज्ञान के विषय का निबन्ध है अर्थात् इन सबको केवलज्ञान जानता है। जितने ये अनन्तानन्त लोक-अलोक द्रव्य हैं इससे भी अनन्तगुणे लोक और अलोक और भी होते तो भी केवलज्ञान जान सकता है। क्योंकि केवलज्ञान का माहात्म्य अपरिमित है ऐसा जानना चाहिए। परमात्म प्रकाश में भी योगेन्द्र देव ने इसी भाव को प्रगट किया हैं।

गयणि-अणंति वि एक्क उडु जेहउ भुयणु विहाइ।
मुक्कहँ जसु पए बिंबियउ सो परमाणु अणाइ।। (38)

जैसे अनंत आकाश में नक्षत्र है उसी तरह तीन लोक जिसके केवलज्ञान में प्रतिबिंबित हुए दर्पण में मुख की तरह भासता है, वह परमात्मा अनादि है।

ऐसे जो केवली भगवान् हैं वे किस कारण से क्रम से जानेगें इसका आगमोक्त तार्किक वर्णन मुझे आज तक श्वेताम्बर साहित्य में नहीं मिला। इस विषय में मेरी (उपाध्याय कनकनन्दी) चर्चा अनेक श्वेताम्बर साधु, साध्वी एवं उपाध्याय से हुई है परन्तु वे भी यथार्थ, आगम बद्ध तर्कशील उत्तर नहीं दे पाये। यहां तक तो कुछ साधुओं ने कहा कि केवल ज्ञान एवं केवलदर्शन की प्रवृत्ति एक साथ होना चाहिए, नहीं तो अनेक दोष उत्पन्न होंगे, जिसका मैंने संक्षिप्त वर्णन ऊपर किया है। इतना ही नहीं दोनों परम्पराये जिस महान् दार्शनिक तार्किक सिद्धसेन को मानते हैं ऐसे महान् आचार्य ने अपनी कृति सन्मति सूत्र में क्रम प्रवृति का खण्डन कर युगपत् प्रवृत्ति का मण्डन किया है। इसका उद्धरण हम निम्न में कर रहे हैं-

मणपज्जवणाणंतो णाणस्स य दरिसणस्स स विसेसो।
केवलणाणं पुण दंसणं ति णाणं ति य समाणं।।(3)

ज्ञान और दर्शन के समय की भिन्नता मनः पर्ययज्ञान तक होती है। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान और मनः पर्ययज्ञान में दर्शनपूर्वक ज्ञान होता है, पहले दर्शन होता है और उसके पश्चात ज्ञान होता है। किन्तु केवलज्ञान या पूर्णज्ञान होने पर दर्शन और ज्ञान में क्रम नहीं होता। केवलज्ञान की अवस्था में ज्ञान और दर्शन एक साथ होते हैं।

क्योंकि दर्शन और ज्ञान का क्रम छद्मस्थो(अल्पज्ञानियों) में पाया जाता है। केवलज्ञान में ज्ञान तथा दर्शन के उपयोग-काल में भिन्नता नहीं है।

केइ भणंति जइया जाणइ तइया ण पासइ जिणो त्ति।
सुत्तमवलंबमाणा तित्थयरासायणाभीरू।। (4)

कई (श्वेताम्बर) आचार्य तीर्थंकरों की अवज्ञा से भयभीत हो आगम ग्रन्थों का अवलंबन लेकर यह कहते हैं कि जिस समय सर्वज्ञ जानते हैं उस समय देखते नहीं हैं वे अन्य अल्प ज्ञानियों की भांति सर्वज्ञ में भी दर्शनपूर्वक ज्ञान क्रमशः मानते हैं। क्योंकि जिस समय जानने की क्रिया होगी उस समय देखने कि क्रिया नहीं हो सकती। और जिस समय देखने की क्रिया होगी उस समय जानने की क्रिया नहीं हो सकती। दोनों में समय मात्र का अन्तर अवश्य पड़ता है। किन्तु सर्वज्ञ के सम्बन्ध में यह कहना ठीक नहीं है।

केवलणाणावरणक्खयजायं केवलं जहा णाणं।
तहदंसणं पि जुज्जइ णियआवरणक्खयस्संते।। (5)

जिस प्रकार अवरोधक जलधरों (मेघ समूह) के हटते ही दिनकर का प्रताप एवं प्रकाश एक साथ प्रकट हो जाता है, उसी प्रकार कर्मों के आवरणों का अपसरण होते ही केवलज्ञान और केवलदर्शन एक साथ उत्पन्न हो जाते हैं। क्योंकि ज्ञान, दर्शन के आवरण के क्षय हो जाने पर कोई ऐसा कारण नहीं है, जिससे वे विद्यमान रह सकें।

भण्णइ खीणावरणे जह मइणाणं जिणे ण संभवइ।
तह खीणावरणिज्जे विसेसओ दंसण णत्थि।। (6)

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान ये पाँचों एक ही ज्ञान के भेद हैं। अल्पज्ञानी(छद्मस्थ) के इनमें से केवलज्ञान को छोड़कर चार ज्ञान तक हो सकते हैं, किन्तु केवलज्ञानी के केवल एक केवल ज्ञान ही होता है। इसलिए उनके मतिज्ञान नहीं होता। जिस प्रकार से केवली के मतिज्ञान नहीं होता, वैसे ही भिन्न काल में केवलदर्शन भी सम्भव नहीं है। कहने का तात्पर्य यह है कि केवली के ज्ञान, दर्शन एक साथ होते हैं, क्योंकि वह क्षायिक है-कर्म के क्षय होने पर उत्पन्न होता है।

सुत्तम्मि चेव साईअपंज्जवसियं ति केवलं वुत्तं।
सुत्तासायणभीरूहि तं च दट्ठव्वयं होइ।। (7)

आगम में केवलदर्शन और केवलज्ञान को सादि-अनन्त कहा गया है। अतः आगम की आसादना से डरने वालों को इस पर विशेष विचार करना चाहिए कि क्रम भावी मानने पर सादि-अनन्तता किस प्रकार बन सकती है ? यदि ऐसा माना जाए कि जिस समय केवलदर्शन होता है, उस समय केवलज्ञान नहीं होता, तो इस मान्यता से आगम का विरोध करना है और इससे केवलदर्शन-केवलज्ञान में सादि-अनन्तता न बनकर सादि-सान्तता घटित होगी जो आगमोक्त नहीं है। इसलिए आगम का विरोध न हो, इस अभिप्राय से क्रमभावित्व न मानकर युगपत्/समकाल-भावित्व मानना चाहिए।

संतम्मि केवले दंसणम्मि णाणस्स संभवो णत्थि।
केवलणाणम्मि य दंसणस्स तम्हा सणिहणाइं।। (8)

केवली भगवान् के केवलदर्शन के होने पर केवलज्ञान नहीं होता। इसी प्रकार केवलज्ञान होने पर केवलदर्शन नहीं होता। क्योंकि इस प्रकार का क्रमत्व उनके नहीं होता। दर्शनावरण और ज्ञानावरण का क्षय एक काल में समान रूप से होने के कारण केवलदर्शन और केवलज्ञान एक समय में एक ही साथ समान रूप से उत्पन्न होते हैं। फिर, यह प्रश्न उत्पन्न हुए बिना नहीं रहता कि क्रमवाद-पक्ष में केवली की आत्मा में ज्ञान, दर्शन में से पहले कौन उत्पन्न होता है ?

दंसणणाणावरणक्खए समाणम्मि कस्स पुव्वयरं।
होज्ज समं उप्पाओ हंदि दुवे णत्थि उवओगा।। (9)

आगम का विरोध करने वालों के लिए स्पष्टीकरण के निमित्त यह गाथा कही गई है कि दर्शनावरण तथा ज्ञानावरण का विनाश एक साथ होने से केवलदर्शन और केवलज्ञान की उत्पत्ति एक साथ हो जाती है। यदि क्रम से माना जाए, तो दर्शन और ज्ञान में से किसकी उत्पत्ति पहले होती है ? इसी प्रकार से दोनों उपयोग क्रम से होते हैं या अक्रम से ? इसका स्पष्टीकरण यही है कि पूर्वापर क्रम से दर्शन, ज्ञान केवली में मानना न्याय संगत नहीं है। क्योंकि क्रमवाद पथ में इन दोनों में सावरण मानना पड़ता है जो सम्भव नहीं है। सामान्यतः दोनों उपयोग क्रम से होते हैं। परन्तु केवलज्ञान-काल में केवली सामान्य-विशेषात्मक पदार्थ को एक ही समय में जानते हैं, इसलिए उनके दर्शन और ज्ञान उपयोग एक साथ होते हैं। वास्तव में कार्य रूप में भिन्न-भिन्न प्रतीति न होने के कारण सामान्यतः एक उपयोग कहा जाता है।

जइ सव्वं सायारं जाणइ एक्कसमएण सव्वण्णू।

जुज्जइ सया वि एवं अहवा सव्वं ण याणाइ।। (10)

यदि सर्वज्ञ एक समय में सभी पदार्थ को सामान्य-विशेष रूप आकार सहित जानते हैं, तो यह मान्यता युक्ति युक्त हो सकती है। इसके अतिरिक्त अन्य प्रकार से मानने पर उनमें सर्वज्ञता, सर्वदर्शिता नहीं बन सकेगी। क्योंकि दोनों प्रकार के उपयोग(दर्शनोपयोग, ज्ञानोपयोग) अपने-अपने विषय को भिन्न-भिन्न से जानते हैं। जिस समय एक उपयोग सामान्य का ज्ञान होता है, उस समय विशेष का ज्ञान कैसे हो सकता है ? इसी प्रकार जब दूसरा उपयोग विशेष का ज्ञाता होता है, तो उसका कार्य भिन्न होता है। इसलिए वस्तु में पाए जाने वाले उभय धर्मों (सामान्य, विशेष) का ज्ञाता एक उपयोग नहीं हो सकता। अतएव इन उपयोगों में से क्रमशः जानने वाला सर्वज्ञ नहीं हो सकता। क्योंकि उनमें एक चैतन्य प्रकाश पाया जाता है।

परिसुद्धं सायारं अवियत्तं दंसवं अणायारं।

णय खीणावरणिज्जे जुज्जइ सुवियत्तमवियत्तं।। (11)

यह कथन करना कि केवली जिस समय साकार ग्रहण करते हैं, उस समय केवलदर्शन (अनाकार) अव्यक्त रहता है और जब वे दर्शन ग्रहण करते हैं, तब साकार अव्यक्त होता है, उचित नहीं है,क्योकि उपयोग की यह व्यक्त एवं अव्यक्त दशा आवरण का सर्वथा विलय कर देने वाले केवली में नहीं बनती है।

अद्दिट्ठं अण्णायं च केवली एव भासइ सया वि।

एगसमयम्मि हंदी वयणवियप्पो ण संभवइ।। (12)

केवली सदा ही अदृष्ट, अज्ञात पदार्थों का कथन करते हैं-ऐसा कहने से वे दृष्ट एवं ज्ञात पदार्थों के एक समय में उपदेशक होते हैं, यह वचन नहीं बन सकता है।

अण्णायं पासंतो अद्दिट्ठं च अरहा वियाणंतो।

किं जाणइ किं पासइ कह सव्वण्हु त्ति वा होइ।। (13)

यदि केवली अर्हन्त पदार्थ के द्रष्टा और अदृष्ट पदार्थ के ज्ञाता हैं, तो इस स्थिति में उनमें एक समय में सर्वदर्शित्व तथा सर्वज्ञत्व की सिद्धि नहीं हो सकती क्योंकि उनमें विद्यमान दर्शन, ज्ञान, अपने-अपने विषय को देखने-जानने वाला है। जिस समय वह देखेंगे, उस समय जानेंगे नहीं और जिस समय जानेंगे, उस समय देखेंगे

नहीं। इस प्रकार एक समय में एक साथ सामान्य-विशेष को जानने वाला उपयोग नहीं होगा। अतः उनमें सर्वदर्शित्व तथा सर्वज्ञत्व भी नहीं बन सकता।

केवलणाणमणंतं जहेव तह दंहणं पि पण्णत्तं।
सागारग्गहणाहि य णियमपरित्तं अणागार। (14)

आगम में केवली भगवान् का दर्शन और ज्ञान अनन्त कहा गया है। परन्तु उनके दर्शन, ज्ञान के उपयोग में क्रम माना जाय तो साकार ग्रहण की अपेक्षा से परिमित विषय वाला होगा, जिससे उनके दर्शन में अनन्तता नहीं बन सकती। अतएव केवली भगवान् में एक समय में ही दोनों उपयोग मानना चाहिए।

केवलज्ञान के लिए परोक्ष कुछ भी नहीं है-

णत्थि परोक्खं किंचि वि समंत सव्वक्खगुणसमिद्धस्स।
अक्खातीदस्स सदा सयमेव हि णाणजादस्स।। (22)

आगे कहते है- केवलज्ञानी को सर्व प्रत्यक्ष होता है, यह बात अन्वयरूप से पूर्व सूत्र में कही गई। अब केवलज्ञानी को कोई भी विषय परोक्ष नहीं है, इसी बात को व्यतिरेक से दृढ़ करते हैं।

(समंत) समस्तपने अर्थात् सर्व आत्मा के प्रदेशों के द्वारा (सव्वक्खगुणसमिद्धस्स) सर्व इन्द्रियों के गुणों से परिपूर्ण अर्थात् स्पर्श, रस, गन्ध वर्ण, शब्द के जानने रूप जो इन्द्रियों के विषय उन सर्व के जानने की शक्ति सर्व आत्मा के प्रदेशों में जिसके प्राप्त हो गई ऐसे तथा (अक्खातीदस्स) इन्द्रियों के व्यापार से रहित अथवा ज्ञान करके व्याप्त है आत्मा जिसका ऐसे निर्मल ज्ञान से परिपूर्ण और (सयमेव हि)स्वयमेव ही (णाणजादस्स) केवलज्ञान में परिणमन करने वाले अरहंत भगवान् के (किंचि वि) कुछ भी (परोक्खं) परोक्ष (णत्थि) नहीं है।

भाव यह है कि परमात्मा अतीन्द्रिय स्वभाव है। परमात्मा के स्वभाव से विपरीत क्रम से ज्ञान में प्रवृत्ति करने वाली इन्द्रियाँ हैं। उनके द्वारा जानने से जो उल्लंघन कर गये हैं अर्थात् जिस परमात्मा के पराधीन ज्ञान नहीं है ऐसे परमात्मा तीन कालवर्ती समस्त पदार्थों को एक साथ प्रत्यक्ष जानने को समर्थ अविनाशी तथा अखंडपने से प्रकाश करने वाले केवल ज्ञान में परिणमन करते हैं, अतएव उनके लिए कोई भी परोक्ष नहीं है। इस तरह केवलज्ञानियों को सर्व प्रत्यक्ष होता है।

समीक्षा-आत्मा स्वयं ज्ञान स्वरूप है। ज्ञान स्वरूप होने के कारण स्वयं से ही आत्मा देखता है, जानता है, उसके लिए अन्य बाह्य साधनों की आवश्यकता नहीं रहती है परन्तु जब ज्ञान कर्मरूपी आवरण से आवृत्त हो जाता है तब वह ज्ञान प्रत्यक्ष रूप से सब कुछ नही देख पाता है, न ही जान पाता है, उस समय में वह बाह्य साधनों के माध्यम से कुछ देखता है कुछ जानता है। जैसे कोई व्यक्ति एक गृह के अन्दर है बाहर उसे कुछ दिखता है तब वह द्वार या खिड़की के माध्यम से देखता है। उस व्यक्ति के खिड़की या द्वार के माध्यम से देखने पर भी खिड़की या द्वार स्वयं नहीं देखते हैं परन्तु उसके माध्यम से व्यक्ति देखता है, वैसे ही कर्म रूपी गृह में आबद्ध जीव इन्द्रियाँ, मन, प्रकाश आदि से देखता है, जानता है इन्द्रियादि स्वयं नहीं देखते है परन्तु उनके माध्यम से जीव देखता है या जानता है। जैसे आवरण से रहित खुले मैदान में स्थित व्यक्ति बिना खिड़की या द्वार से बाहर देखता है उसी प्रकार ज्ञानावरणादि आवरण से रहित जीव बिना इन्द्रियों से देखता है, जानता है। इन्द्रियों के बिना देखने व जानने पर भी जीव-इन्द्रियों के विषय के साथ-साथ इन्द्रियातीत विषयों को भी देखता है और जानता है। इतना ही नहीं छद्मस्थ जीव इन्द्रियों से जो विषय जानता है उससे भी अधिक स्पष्ट उस इन्द्रिय के विषय को केवलज्ञानी जानते है। जैसे सामान्य चक्षु से सामान्य व्यक्ति जितना देखता है उससे भी अधिक स्पष्ट सूक्ष्मदर्शी या दूरदर्शी यंत्र से देख सकता है। सर्वज्ञ भगवान् समस्त इन्द्रियों के विषय को देखते व जानते हुए भी सामान्य रागी, द्वेषी, मोही जीव के समान ज्ञेय से न मोहित होते हैं, न आकर्षित-विकर्षित होते हैं। वे पाँचों इन्द्रियों के विषय को प्रत्येक प्रदेशस्थ केवलज्ञान से जानते हैं। केवलज्ञान की अचिन्त्य अपार अलौकिक शक्ति का वर्णन गणधर स्वामी ने निम्न प्रकार से किया है-

यः सर्वाणि चराचरणि विधिवद्, द्रव्याणि तेषां गुणान्,
पर्यायानपि भूत-भावि, भवितः, सर्वान सदा सर्वदा।
जानीते युगपत्-प्रतिक्षणमतः सर्वज्ञ इत्युच्यते,
सर्वज्ञाय जिनेश्वराय महते, वीराय तस्मै नमः।। (प्रति. सूत्र)

जो सम्पूर्ण चर अचर द्रव्यों को, उनके सहभावी गुणों के और क्रमभावी भूत, भावी तथा वर्तमान सब पर्यायों को भी सदा सर्वकाल अशेष विशेषों को लिए हुए

युगपत् (कालक्रम से रहित एक साथ) प्रतिक्षण जानते है, इसलिए उन्हें सर्वज्ञ कहते हैं, उन सर्वज्ञ महान् गुणोत्कृष्ट, अंतिम तीर्थंकर वीर जिनेश्वर को नमस्कार हो।

हे आयुष्मान् भव्यों! इस विश्व में देव, असुर और मनुष्यों सहित प्राणीगण को अन्य स्थान से यहां आना, यहां से अन्य गति में जाना,च्यवन और उपपाद अर्थात् च्युत होना और जन्म लेना कर्मों का बंध, कर्मो का छुटकारा, ऋद्धि, स्थिति द्युति-(चमक) कर्मो का फल देने का सामर्थ्य, तर्क शास्त्र, बहत्तरकला या गणित विद्या परकीयचित मनकी चेष्टा पूर्व अनुभूत पूर्वकृत पुनः सेवित कर्मभूमि के अनुप्रवेश में प्रथमतः प्रवृत्त असि, मसि कृष्यादिककर्म अकृत्रिमद्वीप समुद्रादिका प्रकट कर्म तीन सौ तैतालीस रज्जुप्रमाण सर्वलोक में सब जीवों को सब भावों और सब पर्यायों को एक साथ जानते हुए देखते हुए विहार करते हुए काश्यप गोत्रीय श्रमण, भगवान्, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी महतिमहावीर अन्तिम तीर्थंकर देखते हुए पच्चीस भावनाओं सहित, मातृका पदों सहित, उत्तरपदों सहित रात्रि भोजन विरमण है छठा अणुव्रत जिनमें ऐसे पाँच महाव्रतरूप समीचीन धर्मों का उपदेश किया है, वह मैंने उनकी दिव्यध्वनि से सुना है।

तज्जयति परं ज्योतिः समं समस्तैरनन्तपर्यायैः।

दर्पणतल इव सकला प्रतिफलति पदार्थमालिका यत्र।। पु.सि.

जिसमें सम्पूर्ण अनंतपर्यायों से सहित समस्त पदार्थों की माला अर्थात् समूह दर्पण के तल भाग के समान झलकती है, वह उत्कृष्ट ज्योति अर्थात् केवलज्ञान रूपी प्रकाश जयवंत हो।

संपुण्णं तु समग्गं केवलमसवत्त सव्वभावगयं।

लोयालोयवितिमिरं, केवलणाणं मुणेदव्वं।। (460) गो.जी.

यह केवलज्ञान, सम्पूर्ण, केवल (स्वाधीन) प्रतिपक्ष रहित, सर्व पदार्थगत और लोकालोक में अन्धकार रहित होता है।

असहायं स्वरूपोत्थं निरावरणमक्रमम्।

घातिकर्मक्षयोत्पन्नं केवलं सर्वभावगम्।। (30) त.सा.)

जो किसी बाह्य पदार्थ की सहायता से रहित हो, आत्म-स्वरूप से उत्पन्न हो, आवरण से रहित हो, क्रमरहित हो, घातिया कर्मो के क्षय से उत्पन्न हुआ हो तथा समस्त पदार्थों को जानने वाला हो, उसे केवलज्ञान कहते हैं।

जया सव्वत गणाणं दंसणं चाभिगच्छइ।

तया लोगमलोगं च जिणो जाणइ केवली।। (दशवैकालिक 22)

जब मनुष्य सर्वत्रगामी ज्ञान और दर्शन--केवलज्ञान और केवलदर्शन को प्राप्त कर लेता है तब वह जिन और केवली होकर-लोक-अलोक को जान लेता है।

जाणइ तिकालविसए, दव्वगुणे पज्जए य।

अणेण णाणे त्तिणं वेंति।। (299 गो. जी.)

जिसके द्वारा जीव त्रिकालविषयक भूत-भविष्यत् वर्तमान काल सम्बन्धी समस्त द्रव्य और उनके गुण तथा उनकी अनेक प्रकार की पर्यायों को जाने उसको केवलज्ञान कहते हैं।

सूक्ष्मान्तरित-दूरार्थाः प्रत्यक्षाः कस्यचिद्यथा।

अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञ संस्थितिः।। (5 देवागम)

सूक्ष्म पदार्थ-स्वभावविप्रकर्षि परमाणु आदिक-अन्तरित पदार्थ-काल से अन्तर को लिए हुए काल विप्रकर्षि राम-रावणादिक, और दूरवर्ती पदार्थ-क्षेत्र से अन्तर को लिए हुए क्षेत्र विप्रकर्षि मेरु-हिमवानादिक, अनुमेय (अनुमान का अथवा प्रमाण का विषय) होने से किसी न किसी के प्रत्यक्ष जरूर है, जैसे-अग्नि आदिक पदार्थ जो अनुमान या प्रमाण का विषय है, वे किसी के प्रत्यक्ष जरूर हैं। जिसके सूक्ष्म, आन्तरिक अनुमान या प्रमाण का विषय है, वे किसी के प्रत्यक्ष जरूर हैं। जिसके सूक्ष्म, आन्तरिक और दूरवर्ती पदार्थ प्रत्यक्ष है वह सर्वज्ञ हैं। इस प्रकार सर्वज्ञ की सम्यक् स्थिति, व्यवस्था अथवा सिद्धि भले प्रकार सुघटित है।

आत्म ज्ञान प्रमाण है तथा केवलज्ञान का सर्वगतत्व

आदा णाणपमाणं णाणं णेयप्पमाणमुद्दिट्ठं।

णेयं लोयालोयं तम्हा णाणं तु सव्वगदं।। (23)

The soul is co-extensive with knowlege. knowlege is said to be co-extensive with the object of knowlege: the object of knowlege comprises the physical and non-physical universe;therefore knowlege is omnipresent.

आगे कहते है कि आत्म ज्ञान प्रमाण है तथा ज्ञान व्यवहार से सर्वगत है-

(आदा णाणपमाणं) आत्मा ज्ञान प्रमाण है अर्थात् ज्ञान के साथ आत्मा हीन या अधिक नहीं है इसलिये ज्ञान जितना है उतनी आत्मा है। कहा है 'समगुणपर्यायं द्रव्यं भवति' अर्थात् द्रव्य अपने गुण और पर्यायों के समान होता है। इस वचन से वर्तमान मनुष्य भव से यह आत्मा वर्तमान मनुष्य पर्याय के समान प्रमाण वाला है तैसे ही मनुष्य पर्याय के प्रदेशों में रहने वाला ज्ञानगुण है जैसे यह आत्मा इस मनुष्य पर्याय में ज्ञान गुण के बराबर प्रत्यक्ष में दिखलाई पड़ता है तैसे निश्चय से सदा ही अव्याबाध और अविनाशी सुख आदि गुणों का आधारभूत जो यह केवलज्ञान गुण हैं जैसे- ईंधन में स्थित आग ईंधन के बराबर है वैसे ही ज्ञान-ज्ञेय के बराबर है। (णेयं लोयालोयं) ज्ञेय लोक और अलोक प्रमाण है। शुद्ध बुद्ध एक स्वभावमयी सर्व तरह से उपादेयभूत ग्रहण करने योग्य परमात्म-द्रव्य को आदि लेकर छः द्रव्यमयी यह लोक है। लोक के बाहरी भाग में जो शुद्ध होते हुए अनित्य हैं तो भी द्रव्यार्थिक नय से नित्य हैं। ज्ञान लोक-अलोक को जानता है। (तम्हा) इस कारण से (णाणं तु सव्वगयं) ज्ञान सर्वगत है। अर्थात् क्योंकि निश्चय रत्नत्रयमयी शुद्धोपयोग की भावना के बल से पैदा होने वाला केवलज्ञान है वह पत्थर में टांकी से उकेरे हुए न्याय से पूर्व में कहे गये सर्व ज्ञेय को जानता है इसलिए व्यवहार से ज्ञान सर्वगत कहा गया है। इसलिए यह सिद्ध हुआ कि आत्मा ज्ञान प्रमाण है और ज्ञान सर्वगत है।

समीक्षा–जैसे सूर्य या दीपक का एक निश्चित आकार होता है परन्तु उसका प्रकाश उस निश्चित आकार, से भी अधिक फैलता है, प्रकाश फैलने पर भी सूर्य या दीपक फैलता नहीं है, परन्तु जहाँ तक उसका प्रकाश फैलता है उसका उतना क्षेत्र माना जाता है। जैसे एक चुम्बक और उसका चुम्बकीय क्षेत्र अलग-अलग होता है। चुम्बक का आकार छोटा और उसका चुम्बकीय क्षेत्र उसके आकार को घेरता हुआ बड़ा होता है। इसी प्रकार केवलज्ञानी के आत्मप्रदेश असंख्यात होते हुए भी उनका आकार अंतिम शरीर के आकार के समान है। सिद्ध भगवान् के तो आकार अंतिम शरीर से भी कुछ कम है। कुछ केवली भगवान् मोक्ष के पहले चार प्रकार के समुद्घात करते है उसे केवली समुद्घात कहते हैं अंतिम केवली, समुद्घात में उनके आत्मप्रदेश सम्पूर्ण 343 घनराजू प्रमाण लोकाकाश में व्याप्त हो जाते हैं। अन्य समय में उनके आत्मप्रदेश संसारवस्था में स्वदेह प्रमाण ही रहते हैं और सिद्धावस्था में चरम शरीर

को किंचित् न्यून आकार में रहते हैं। परन्तु सर्वज्ञ भगवान् हर अवस्था में सम्पूर्ण लोकालोक को जानते हैं, इस कारण ज्ञानक्षेत्र/ज्ञेयक्षेत्र की अवस्था सर्वगत है किन्तु जो लोग भगवान् को शरीर अपेक्षा भी सर्वगत मानते है वे सत्य-तथ्य से परे हैं। यदि भगवान् सर्वगत होते तो मलत्याग आदि अयोग्य क्रिया भी भगवान् के शरीर में ही होती जिससे भगवान् को ही अपवित्र कर देते और कष्ट देते। जैसे-सूर्य के प्रकाश क्षेत्र में कोई कार्य करने पर वह सूर्य नहीं होता वैसे भगवान् के ज्ञान क्षेत्र में ये क्रियायें होती हैं इसलिए भगवान् के शरीर में ये क्रियायें नहीं होती हैं। परमात्म प्रकाश में भी योगेन्द्र देव ने ज्ञान, ज्ञानविषय, ज्ञानक्षेत्र का वर्णन निम्न प्रकार किया है-

जसु अब्भंतरि जगुवसइ जग-अब्भंतरि जो जि।
जगि जि वसंतु जगु जि ण वि मुणि परमप्पउ सो जि।।

जिस आत्म राम के केवलज्ञान में संसार बस रहा है, अर्थात् प्रतिबिम्बित हो रहा है, प्रत्यक्ष भास रहा है और जगत् में वह बस रहा है अर्थात् सबमें व्याप्त हो रहा है। वह ज्ञाता है और जगत् ज्ञेय है, संसार में निवास करता हुआ भी निश्चयनयकर किसी जगत् की वस्तु से तन्मय नहीं होता अर्थात् जैसे रूपी पदार्थ को नेत्र देखते हैं, तो भी उनसे जुदे ही रहते हैं, इस तरह वह भी सबसे जुदा रहता है, उसी को परमात्मा ऐसा है प्रभाकरभट्ट तू जान।

अप्पा कम्म-विवज्जियउ केवल-णाण जेणं।
लोयालोउ वि मुणइ जिय सव्वगु वुच्चइ तेण।। (52)

यह आत्मा कर्म रहित हुआ केवलज्ञान से जिस कारण लोक और अलोक को जानता है, इसलिये हे जीव, सर्वगत कहा जाता है।

अप्प-सहावि परिट्ठियह एहउ होइ विसेसु।
दीसइ अप्प-सहावि लहु लोयालोउ असेसु।। (100)

आत्मा के स्वभाव में लीन हुए पुरुषों के प्रत्यक्ष में तो यह विशेषता होती है, कि आत्मस्वभाव में उनको समस्त लोकालोक शीघ्र ही दिख जाता है।

अप्पु पयासइ अप्पु परु जिम अंबरि रवि-राउ।
जोइय एत्थु म भंति करि एहउ वत्थु सहाउ।।(101)

जैसे आकाश में सूर्य का प्रकाश अपने को और पर को प्रकाशित करता है,

उसी तरह आत्मा अपने को पर पदार्थों को प्रकाशता है, सो हे योगी इसमें भ्रम मत कर ऐसा ही वस्तु का स्वभाव है।

तरायणु जलि बिंबयउ णिम्मलि दीसइ जेम।
अप्पए णिम्मलि बिंबयउ लोयालोउ वि तेम।। (102)

जैसे ताराओं का समूह निर्मल जल में प्रतिबिम्बित हुआ प्रत्यक्ष दिखता है, उसी तरह मिथ्यात्व रागादि विकल्पों से रहित स्वच्छ आत्मा में समस्त लोक-अलोक भासते हैं।

अप्पु वि परु वि वियाणइ जें अप्पें मुणिएण।
सो जिय-अप्पा-जाणि तुहुँ जोइय णाण बलेण।। (103)

जिस आत्मा को जानने से आप और पर सब पदार्थ जाने जाते है, उस अपने आत्मा को हे योगी तू आत्मज्ञान के बल से जान।

अप्पा णाणु मुणेहि तुहुँ जो जाणइ अप्पाणु।
जीव-पएसहिं तित्तिडउ णाणें गयण-पवाणु।। (105)

हे प्रभाकर भट्ट तुम आत्मा को ही ज्ञान जान, जो ज्ञानरूप आत्मा अपने को अपने प्रदेश से लोक-प्रमाण ज्ञान से व्यवहार नय कर आकाश प्रमाण जानता है।

संखेज्जमसंखेज्जं अणंतकप्पं च केवलं णाणं।
तह रागदोसमोहा अण्णे वि य जीवपज्जाया।। (43) सं.सू.

केवलज्ञान-असंख्यात-संख्यात-अनंतरूप है और वैसे रागद्वेष मोह रूप दूसरे भी जीव पर्याय हैं।

आत्मा को ज्ञान प्रमाण न मानने से दोष

णाणप्पमाणमादा ण हवदि जस्सेह तस्स सो आदा।
हीणो वा अहिओ वा णाणादो हवदि धुवमेव।। (24)
हीणो जदि सो आदा तण्णाणमचेदणं ण जाणादि।
अहिओ वा णाणादो णाणेण विणा कहं णादि।। (25)

He who does not admit the soul to be co-extensive with knowlege, must indeed concede that the soul is either smaller or larlge than knowlege. If the soul is smaller, the knowlege, being

insentient,cannot know, if larger. how can it know in the absence of knowleger ?

अब जो आत्मा को ज्ञान के बराबर नहीं मानते हैं, ज्ञान से कमती-बढ़ती मानते उनको दूषण देते हुए कहते हैं-

(इह) इस जगत् में (जस्स) जिस वादी के मत में (आदा) आत्मा (णाणपमाणं) ज्ञान प्रमाण (ण हवदि) नहीं होता है (तस्स) उसके मत में (सो आदा) वह आत्मा (णाणादो) ज्ञान गुण से (हीणो वा) या तो हीन अर्थात् छोटा (अहिगो वा) या अधिक अर्थात् बड़ा (हवदि) होता है (धुवम एवं) यह निश्चय ही है।

(जदि) यदि (सो आदा) वह आत्मा (हीणो) हीन या छोटा होता है तब (तं णाणं) सो ज्ञान (अचेदणं) चेतन रहित होता हुआ (ण जाणदि) नहीं जानता है अर्थात् यदि वह आत्मा ज्ञान से कम या छोटा माना जाय तब जैसे अग्नि के बिना उष्ण गुण ठण्डा जो जायेगा और अपने जलाने के काम को न कर सकेगा तैसे आत्मा के बिना जितना ज्ञान गुण बचेगा वह ज्ञान गुण अपने आश्रयभूत चैतन्यमयी द्रव्य के बिना जिस आत्मद्रव्य के साथ ज्ञानगुण का समवाय सम्बन्ध हैं, अचेतन या जड़रूप होकर कुछ भी नहीं जान सकेगा।

(वा णाणादो) अथवा ज्ञान से (अहियो) अधिक या बड़ा आत्मा को माने तब (णाणेण विणा) ज्ञान के बिना (कहं) कैसे (णादि) जान सकता है अर्थात् यदि यह माने की ज्ञान गुण से आत्मा बड़ा है तब जितना आत्मा ज्ञान से बड़ा है उतना आत्मा जैसे उष्णगुण के बिना अग्नि ठंडी होकर अपने जलाने के काम को नहीं कर सकती है तैसे ज्ञान गुण के अभाव में अचेतन होता हुआ किस तरह कुछ जान सकेगा अर्थात् कुछ भी न जान सकेगा।

यहाँ यह भाव है कि जो कोई आत्मा को अंगूठे की गांठ के बराबर या श्यामाक तंदुल के बराबर या बड़ के बीज के बराबर आदि रूप से मानते है उनका निषेध किया गया तथा जो कोई सात समुद्घात के बिना आत्मा को शरीरप्रमाण से अधिक मानते हैं उनका भी निराकरण किया गया है।

समीक्षा- द्रव्य में ही गुण और पर्याय होती है, द्रव्य को छोड़कर अन्यत्र गुण और पर्यायें नहीं होती हैं। जैसे-मिश्री के सफेद, मीठा, वजन आदि गुण मिश्री में ही हैं

और उसका परिणमन उसी में ही है। उसी तरह प्रत्येक चेतन और अचेतन द्रव्य में उसके गुण एवं पर्यायें होती हैं। जीव भी एक द्रव्य है, इसीलिए उसके गुण उसमें व्याप्त होकर सर्वत्र रहते हैं। जैसे-मिश्री या मीठा गुण उस मिश्री के हर प्रदेश में व्याप्त है उस मिश्री को छोड़कर अन्यत्र उसका मीठा गुण नहीं है और न ही उस मिश्री के कुछ अंश में है और न ही कुछ अंश में नहीं है। ज्ञान एवम् ज्ञानी का सम्बन्ध गुण और गुणी का सम्बन्ध है अर्थात् ज्ञान गुण है आत्मा गुणी है इसलिए जहां-जहां आत्मा है वहाँ-वहाँ ज्ञान रहेगा ही। क्योंकि गुणों का आश्रय द्रव्य होता है इसलिए ज्ञान प्रमाण आत्मा है एवं आत्मा के जितने प्रदेश है उतने में ज्ञान रहेगा ही। किन-किन अवस्थाओं में आत्मप्रदेश कहां-कहां रहते हैं इसका वर्णन द्रव्यसंग्रह में नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने निम्न प्रकार किया है-

अणुगुरूदेहपमाणो उवसंहारप्पसप्पदो चेदा।
असमुहदो ववहारा णिच्छयणयदो असंखदेसो वा।। (10)

व्यवहार नय से समुद्घात अवस्था के बिना यह जीव संकोच तथा विस्तार से छोटे और बड़े शरीर के प्रमाण रहता है और निश्चय नय से जीव असंख्यात प्रदेशों का धारक है।

केवलज्ञानावस्था में ज्ञान की अपेक्षा से व्यवहार नय द्वारा आत्मा को लोक और अलोक में व्यापक माना है और जैसे नैयायिक मीमासंक और सांख्यमत वाले आत्मा को प्रदेशों की अपेक्षा से व्यापक मानते है वैसा नहीं। अणुमात्र शरीर प्रमाण आत्मा है, यहां पर 'अणु' शब्द से उत्सेधघनांगुल के असंख्यातवें भाग परिमाण जो लब्धि अपूर्ण (अपर्याप्तक) सूक्ष्म निगोद शरीर है उसका ग्रहण करना चाहिए। और पुद्गल परमाणु का ग्रहण न करना चाहिए। और गुरु शरीर यहां पर 'गुरु' शब्द से एक हजार योजन परिमाण जो महामत्स्य का शरीर है, उसको ग्रहण करना चाहिए और मध्यम अवगाहन में मध्यम शरीरों का ग्रहण है।

यदि आत्मा के कुछ अंश में ज्ञान माना जाये तो ज्ञान रहित अवशेष अंश अचेतन हो जायेगा और अचेतन अंश से अनुभव नहीं होगा। उस अंश के अचेतन होने से वह अंश आत्मामय है यह संभव नहीं होगा। यदि आत्मप्रदेश से भी बाहर उस जीव के ज्ञान गुण मानते हैं तो गुणी के आश्रय बिना गुण किसके आधार पर रहेगा ?

यदि ऐसा होगा तो आत्मप्रदेश से ज्ञान आगे फैलने के कारण आत्मा में ही ज्ञान होता है अन्य अचेतन में नहीं होता है यह सत्य सिद्धान्त असत्य हो जायेगा। संसारावस्था में भी शरीर प्रमाण ही आत्मप्रदेश होते हैं और उसमें ज्ञान होता है। आत्म प्रदेश से व्याप्त शरीर के सम्पूर्ण अंग-उपांगों में सुख-दुख का वेदन होता है। यदि शरीर के हृदयादि कुछ अंश में ही आत्म(ज्ञान) है तब एक साथ सर्दी, गर्मी का अनुभव कैसे होगा ? यदि समुद्घात को छोड़कर अन्य समय शरीर से बाहर आत्मप्रदेश रहते हैं तो शरीर से बाहर स्थित विष, अग्नि, बर्फ, कण्ट का अनुभव जीव को उसी प्रकार होना चाहिए था जैसे शरीर को अग्नि आादि में प्रवेश कराने पर होता है। संसारावस्था में भी यह जीव जिस छोटे-बड़े शरीर को प्राप्त करता है उसमें फैलकर निवास करता है। कुंदकुंददेव ने पंचास्तिकाय में कहा भी है-

जह पउमरायरणं खित्तं खीरे पभासयदि खीरं।
तह देही देहत्थो सदेहमित्तं पभासयदि।। (38)

जिस प्रकार पद्मरागरत्न दूध में डाले जाने पर अपने से अभिन्न प्रभासमूह द्वारा उस दूध में व्याप्त होता है, उसी प्रकार जीव अनादि काल से कषाय द्वारा मलिनता के कारण प्राप्त शरीर में रहता हुआ स्वप्रदेशों द्वारा उस शरीर में व्याप्त होता है। और जिस प्रकार अग्नि के संयोग से उस दूध में ऊफान आने पर उस शरीर में व्याप्त होता है। और जिस प्रकार अग्नि के संयोग से उस दूध में उफान आने पर उस पद्मरागरत्न के प्रभासमूह में उफान आता है (अर्थात् वह विस्तार को प्राप्त होता है) और दूध बैठ जाने पर प्रभासमूह भी बैठ जाता है, उसी प्रकार विशिष्ट आहारादि के वश उस शरीर में वृद्धि होने पर उस जीव के प्रदेश विस्तृत होते हैं और शरीर फिर सूख जाने पर प्रदेश भी संकुचित हो जाते हैं। पुनश्च, जिस प्रकार वह पद्मरागरत्न दूसरे अधिक दूध में डाले जाने पर स्वप्रभा समूह के विस्तार द्वारा उस अधिक दूध में व्याप्त होता है, उसी प्रकार जीव दूसरे बड़े शरीर में स्थिति को प्राप्त होने पर स्वप्रदेशों के विस्तार द्वारा उस बड़े शरीर में व्याप्त होता है। और जिस प्रकार वह पद्मरागरत्न दूसरे कम दूध में डालने पर स्वप्रभासमूह के संकोच द्वारा उस थोड़े दूध में व्याप्त होता है, उसरी प्रकार जीव अन्य छोटे-शरीर में स्थिति को प्राप्त होने पर स्वप्रदेशों के संकोच द्वारा उस छोटे शरीर में व्याप्त होता है।

भगवान् सर्वव्यापी

सव्वगदो जिणवसहो सव्वे वि य तग्गया जगदि अट्ठा।
णाणमयादो य जिणो विसयादो तस्स ते भणिदा।। (26)

The great jina is every where and all the objects in the world are within him, since the jina is an embodiment of knowlege and since they are the object of knowlege.

आगे कहते हैं कि जैसे ज्ञान को पहले सर्वव्यापक कहा गया है तैसे ही सर्वव्यापक ज्ञान की अपेक्षा अरहंत आत्मा भी सर्वव्यापक है। (णाणमयादो य) तथा ज्ञानमयी होने के कारण से (जिणवसहो) जिन जो गणधरादिक उनमें वृषभ अर्थात् प्रधान (जिणो) जिन अर्थात् कर्मो को जीतने वाले अरहंत या सिद्ध भगवान् (सव्वगदो) सर्वगत या सर्वव्यापक हैं, (तस्स) उस भगवान् के ज्ञान के (विसयादो) विषयपने को प्राप्त होने के कारण से अर्थात् ज्ञेयपने को प्राप्त होने के कारण से अर्थात् ज्ञेयपने को रखने के कारण से (सव्वे वि य जगदि ते अट्ठा) सर्व ही जगत् में जो पदार्थ हैं सो (तग्गया) उस भगवान् में प्राप्त या व्याप्त (भणिया) कहे गये हैं।

जैसे-दर्पण में पदार्थ का बिम्ब पड़ता है तैसे व्यवहारनय से पदार्थ भगवान् के ज्ञान में प्राप्त हैं। भाव यह है कि जो अनन्तज्ञान हैं तथा अनाकुलपने के लक्षण को रखने वाला अनन्त सुख है उनका आधारभूत जो सो ही आत्मा है, इस प्रकार के आत्मा का जो प्रमाण है वहां आत्मा के ज्ञान का प्रमाण है और वह ज्ञान आत्मा का अपना स्वरूप है। ऐसा अपना निज स्वभाव देह के भीतर प्राप्त आत्मा को नहीं जोड़ता हुआ भी लोक-अलोक को जानता है। इस कारण से व्यवहारनय से भगवान् को सर्वगत कहा जाता है और क्योंकि जैसे नीले, पीले आदि बाहरी पदार्थ दर्पण में झलकते हैं ऐसे ही बाह्य पदार्थ ज्ञानाकार से ज्ञान में प्रतिबिम्बित होते हैं इसलिये व्यवहार से ज्ञान-आकार भी पदार्थ कहे जाते हैं। इसलिये वे पदार्थ ज्ञान में तिष्ठते हैं ऐसा कहने में दोष नहीं है, यह अभिप्राय है।

ज्ञान वास्तव में तीन काल में व्याप्त सब द्रव्य पर्याय रूप से व्यवस्थित विश्व के ज्ञेयाकारों को ग्रहण करता हुआ (जानता हुआ) सर्वगत कहा गया है और ऐसे (सर्वगत ज्ञान से) ज्ञानमय होकर रहने से भगवान् भी सर्वगत ही हैं। इस प्रकार

सर्वगत ज्ञान के विषय (ज्ञेय) होने से सब पदार्थ सर्वगत ज्ञान से अधिक भगवान् के वे विषय हैं, ऐसा (शास्त्र में) कथन होने से वे सब पदार्थ भगवान्गत ही है (अर्थात् भगवान् में प्राप्त ही हैं) यहाँ (ऐसा समझने कि) निश्चय से अनाकुलता लक्षण सुख का जो संवेदन उस सुख संवेदन की अधिष्ठानता जितनी हो, आत्मा है और उस आत्मा के बराबर ही ज्ञान स्वतत्त्व है। उस निजस्वरूप आत्मप्रमाण ज्ञान को छोड़े बिना, विश्व के ज्ञेयाकारों के निकट गये बिना भगवान् (सर्व पदार्थों को) जानते हुए भी व्यवहारनय से 'भगवान् सर्वगत् है ऐसा उपचार किया जाता है, किन्तु उनका (आत्मा और ज्ञेय पदार्थों का) परमार्थ से एक-दूसरे में गमन नहीं है, क्योंकि सर्वद्रव्यों का स्वरूप निष्ठपना है (क्योंकि सर्व पदार्थ अपने-अपने स्वरूप में निश्चल अवस्थित हैं) यही क्रम ज्ञान में निश्चित करने योग्य है (अर्थात् जिस प्रकार आत्मा और ज्ञेयों के सम्बन्ध में निश्चय व्यवहार से कहा गया है, उसी प्रकार ज्ञान और ज्ञेयों के सम्बन्ध में भी निश्चय-व्यवहार से वैसा ही निश्चय करना चाहिए।)

समीक्षा-जैसे कैमरे में (छायांकन यंत्र) पर्वत, वृक्ष, मनुष्यादि के चित्र तो आ जाते है तथापि पर्वतादि कैमरे में प्रवेश नहीं करते है और न ही कैमरा उस रूप परिवर्तित होता है। उसी प्रकार भगवान् ज्ञान की अपेक्षा सर्वगत होते हुए भी ज्ञेयरूप परिणमन नहीं करते है और न ही ज्ञेय भगवान् रूप परिवर्तित होते हैं। कुछ लोग भगवान् को विश्वव्यापी मानते हैं वह ज्ञान की अपेक्षा यथार्थ है परन्तु जो शरीर की अपेक्षा विश्वव्यापी मानते हैं वह यथार्थ नहीं है। कुछ दार्शनिकों ने भगवान् को विश्वव्यापी माना है। यथा-

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतःपात्।
सम्बाहूभ्यां धमति सम्पतत्त्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः।।

जो विश्वश्चक्षु है, सर्व ओर नेत्रवाला है अर्थात् विश्वदर्शी है, विश्वतो मुख है- सर्व और सुखवाला है अर्थात् जिसके वचन विश्वव्यापी है, विश्वतो बाहु हैं- सर्व और भुजाओं वाला है, अर्थात् जिसकी भुजाओं का व्यापार सर्वजगत् में है यानि जो सर्वजगत् का कर्त्ता है, विश्वतः पात् है- जिसके पाद (पैर) सभी ओर हैं अर्थात् जो विश्व में व्याप्त हैं, पुण्य-पाप रूप सम्बाहुओं से सर्व प्राणियों को संयुक्त करता है और जो परमाणुओं से दिव् अर्थात् आकाश और भूमि को उत्पन्न करता हुआ वर्तमान है

ऐसा एक देव अर्थात् ईश्वर है।

आत्म ज्ञान सुखादिमय

णाणं अप्पत्ति मदं वट्टदि णाणं विणा ण अप्पाणं।
तम्हा णाणं अप्पा अप्पा णाणं वा अण्णं वा।। (27)

The doctrine of jina is that knowlege is the self and in the absence of the self there cannot be (any) knwolege, therefore knowlege is the self, while the self is knowlege of anything else.

आगे कहते हैं कि ज्ञान आत्मा का स्वभाव है तथापि आत्मा ज्ञान स्वभाव भी है तथा सुख आदि स्वभाव रूप भी है- केवल एक ज्ञान गुण का ही धारी नहीं हैं-

(णाणं) ज्ञान गुण(अप्पत्ति) आत्मा रूप है ऐसा (मदं) माना गया है, कारण कि (णाणं) ज्ञान गुण (अप्पाणं) आत्म द्रव्य के (विणा) बिना अन्य किसी घट पट आदि द्रव्य में (ण वट्टदि) नहीं रहता है (तम्हा) इसलिए यह जाना जाता है कि किसी अपेक्षा से अर्थात् गुण गुणी की अभेद दृष्टि से (णाणं) ज्ञानगुण (अप्पा) आत्मरूप ही है। किन्तु (अप्पा) आत्मा (णाणं वा) ज्ञानगुण रूप भी है, जब ज्ञान स्वभाव की अपेक्षा विचारा जाता है। (अण्णं वा) तथा अन्य गुण रूप भी है।

अब आत्मा के अन्दर पाये जाने वाले सुख वीर्य आदि स्वभावों की अपेक्षा विचारा जाता है--यह नियम नहीं है कि मात्र ज्ञानरूप ही आत्मा है। यदि एकान्त से ज्ञान ही आत्मा है, ऐसा कहा जाय तब ज्ञान गुण मात्र ही आत्मा को प्राप्त हो गया फिर सुख आदि स्वभावों का अवकाश नहीं रहा। तथा सुख, वीर्य आदि स्वभावों के समुदाय का अभाव होने से आत्मा का अभाव हो जायेगा। जब आधारभूत आत्मा का अभाव हो गया तब उसका आधेयभूत ज्ञानगुण का भी अभाव हो गया इस तरह एकान्त मत में ज्ञान और आत्मा दोनों का ही अभाव हो जायेगा। इसलिए किसी अपेक्षा से ज्ञान स्वरूप भी आत्मा है सर्वथा ज्ञानस्वरूप ही नहीं है। यहां यह अभिप्राय है कि आत्मा व्यापक है और ज्ञान व्याप्य है। इसलिए ज्ञान-स्वरूप-आत्मा हो सकता है। तथा आत्मा ज्ञानरूप भी है और अन्य स्वभावरूप भी है। तैसा ही कहा है 'व्यपकं तदन्निष्ठं व्याप्यं तदतन्निष्ठमेव च' व्यापक में व्याप्य एक और दूसरे अनेक रह सकते हैं जबकि व्याप्य व्यापक में ही रहता है।

समीक्षा- वस्तु अनेकान्तात्मक है अर्थात् प्रत्येक द्रव्य में अनेक गुण एक साथ अविरोध रूप में रहते हैं जैसे अग्नि में दाहकत्व, प्रकाशकत्व, पाचकत्व आदि अनेक गुण एक साथ रहते हैं। तो भी एक गुण दूसरे गुण रूप परिणमन नहीं करता, अग्नि दाहकत्व गुण के कारण दहन करती है, पाचकत्व गुण के कारण पचाती है और प्रकाशकत्व अलग-अलग है। अग्नि तो तीनों रूप है परन्तु एक-एक गुण पूर्ण अग्नि रूप नहीं है इसलिए प्रकाशकत्व आदि गुण कथंचित् अग्नि रूप है कथंचित् नहीं हैं। इसी प्रकार आत्मा एवं आत्मा के गुणों के बारे में जानना चाहिए। आत्मा में ज्ञान, दर्शन, वीर्य आदि अनंतगुण है। आत्मा का ज्ञान गुण आत्मा में ही है अन्य द्रव्य में नहीं है तथापि आत्मा में ज्ञानगुण के अतिरिक्त अन्य गुण भी है। इसीलिए आत्मा ज्ञान गुण स्वरूप व अन्य गणुरूप भी है। यदि आत्मा को केवल ज्ञान स्वरूप स्वीकार किया जावे एवं अन्य स्वरूप नहीं किया जावे तो अन्य गुणों का अभाव हो जायेगा एवं अन्य गुणों के अभाव से आत्मा का भी अभाव हो जायेगा क्योंकि गुण के अभाव से गुणी का अभाव हो जायेगा एवं गुणी के अभाव से गुण का भी अभाव हो जायेगा। इसलिए कथंचित् गुण-गुणी में भेद एवं अभेद भी है। इस सूक्ष्म सैद्धांतिक विषय को सरलीकरण करने के लिए और एक-दो उदाहरण प्रस्तुत कर रहा हूँ। जैसे कोई कहता है, एक मीठा आम ले आओ,कोई कहता है एक पीला आम ले आओ, कोई कहता है एक किलो आम ले जाओ, कोई कहता है सुगन्धित आम ले जाओ। वे अलग-अलग विशेषण से आम प्राप्त करने के लिए ही बोल रहे हैं। मीठा आम लाना कहने पर आम का मीठा गुण क्या अन्य गुण से अलग करके लाया जा सकता है ? कदापि नहीं, क्योंकि मीठा गुण आम के अन्य गुण के साथ एक क्षेत्रावगाही होकर रहता है। इसी प्रकार अन्य गुणों को पृथक करके नहीं लाया जा सकता है। इसलिए आम का मीठा गुण आम में होते हुए भी आम केवल मीठा गुण स्वरूप नहीं है अन्य गुण स्वरूप भी है। केवल गुण-गुणी संज्ञा,संख्या, लक्षण, प्रयोजन की अपेक्षा भेद होते हुए भी प्रदेश भेद नहीं होता है। उपरोक्त सिद्धांत का प्ररूपण तार्किक चूडामणि अकलंक स्वामी ने स्वरूप संबोधन में किया है।

प्रमेयत्वाभिर्धर्मैरचिदात्मा चिदात्मकः।
ज्ञानदर्शनस्तस्माच्चेतनाचेतनात्मकः।। (3)

वह आत्मा प्रमेयत्व आदि धर्मों द्वारा अचितरूप है, ज्ञान और दर्शन गुण से चेतनरूप है। इस कारण चेतन अचेतन रूप है।

ज्ञानाद्भिन्नो न चाभिन्नो, भिन्नाभिन्नःकथंचन!

ज्ञानं पूर्वापरीभूतं, सोऽयमात्मेति कीर्तितः।। (4)

आत्मा का ज्ञान गुण भूतकाल और भविष्यत्काल के पदार्थों को जानने रूप पर्यायों वाला है। वह प्रसिद्ध यह आत्मा उस ज्ञानगुण से सर्वथाभिन्न नहीं है और सर्वथा अभिन्न-यानी एक रूप भी नहीं है। किसी अपेक्षा से भिन्न और अभिन्न इस प्रकार कहा गया है।

स्वदेहप्रमिश्चायं, ज्ञानमात्रोऽपि नैव सः।

ततः सर्वगतश्चायं, विश्वव्यापी न सर्वथा।। (5)

यह आत्मा अपने शरीर के बराबर है और वह आत्मा ज्ञानगुण मात्र भी यानी ज्ञान के बराबर भी नहीं है। इस कारण यह आत्मा सब तरह समस्त पदार्थों को स्पर्श करने वाला नहीं है और समस्त जगत में व्यापने वाला भी सर्वथा नहीं है।

नानाज्ञानस्वभावत्वादेकाऽनेकोऽपि नैव सः।

चेतनैक स्वभावत्त्वादेकानेकात्मको भवेत्।।

यह आत्मा अनेक प्रकार के ज्ञानस्वरूप होने से अनेक होते हुए भी एक चेतना-स्वभाव होने से एक होता हुआ भी सर्वथा एक ही नहीं है। किन्तु एक तथा अनेकात्मक होता है।

ज्ञानी एवं ज्ञेय परस्पर में अप्रवेशक

णाणी णाणसहावो अट्ठा णेयप्पगा हि णाणिस्स।

रूवाणि व चक्खूणं णेवाण्णोण्णेसु वट्टंति।। (28)

आगे कहते हैं कि ज्ञान ज्ञेयों के समीप नहीं जाता है ऐसा निश्चय है-

(हि) निश्चय से (णाणी) केवलज्ञान भगवान् आत्मा (णाणसहावो) केवलज्ञान स्वभावरूप है तथा (णाणिस्स) उस ज्ञानी जीव के भीतर (अत्था) तीन जगत् के तीन कालवर्ती पदार्थ ज्ञेयस्वरूप पदार्थ (चक्खूणं) आंखों के भीतर (रूवाणि) रूपी पदार्थों की तरह (अण्णोण्णेसु) परस्पर एक-दूसरे के भीतर (णेव वट्टंति) नहीं रहते।

जैसे आंखों के साथ रूपी मूर्तिक द्रव्यों का परस्पर सम्बन्ध नहीं है अर्थात् आंख शरीर में अपने स्थान पर है और रूपी पदार्थ अपने आकार का समर्पण आंखों में कर देते हैं तथा आंखे उनके आकारों को जानने में समर्थ होती है तैसे ही तीन लोक के भीतर रहने वाले पदार्थ तीन काल की पर्यायों में परिणमन करते हुए ज्ञान के साथ परस्पर प्रदेशों का सम्बन्ध न रखते हुए भी ज्ञानी के ज्ञान में अपने आकार के देने में समर्थ होते हैं तथा अखंडरूप से एक स्वभाव से झलकने वाला केवलज्ञान उन आकारों को ग्रहण करने में समर्थ होता है, ऐसा भाव है।

समीक्षा–यहाँ पर आचार्य देव ने ज्ञान एवं ज्ञेय का क्या संबंध है यह बताया है। ज्ञान उसे कहते है जो ज्ञेय को जानता है। ज्ञेय उसे कहते है जो ज्ञान का विषय बनता है। ऐसा संबंध होते हुए भी न ज्ञान, ज्ञेय रूप होता है और न ज्ञेय, ज्ञान रूप होता है। यदि ऐसा हो जाये जो जड़ात्मक ज्ञेय भी चेतनात्मक ज्ञान बन जायेगा और चेतनात्मक आत्मा अचेतनात्मक हो जायेगा एवम् जड़ात्मक ज्ञेय, ज्ञान गुण के कारण चैतन्य बन जायेंगे और गुणों के अभाव से गुणी का भी अभाव हो जायेगा। इसलिए ज्ञान, ज्ञेय का सबंध बताते हुए 'रत्नकरण्ड' में समन्तभद्रस्वामी ने कहा है-

'सालोकानां त्रिलोकानां यद्विद्या दर्पणायते।'

इसी प्रकार अमृतचन्द्र सूरि ने कहा भी है-

तज्जयति परं ज्योतिःसमं समस्तैरनन्तपर्यायैः।

दर्पणतल इव सकला प्रतिफलति पदार्थ मालिकायत्र।। (1)

यह केवलज्ञान रूप परम ज्योति स्वरूप दर्पण में संपूर्ण लोक-अलोक के समस्त ज्ञेय एवं अनंत पर्यायें सम्यक् रूप में झलकती है ऐसी ज्योति जयवन्त हों। यहाँ पर द्वयाचार्य श्री ने केवलज्ञान की तुलना दर्पण से की है। उसका रहस्य जान लेना चाहिए क्योंकि दृष्टान्त और द्राष्टान्त में बहुत कुछ समानता होती है। यदि कुछ समानता न हो तो दृष्टान्त और द्रष्टान्त ही नहीं घट सकता है। भले केवल ज्योति चैतन्य स्वरूप है, दर्पण जड़ात्मक है। दर्पण में कुछ प्रतिबिम्बित होता है। केवलज्ञान में सब कुछ प्रतिबिम्बित होता है। इस तरह दोनों में महान् असमानता होते हुए भी कुछ समानता भी है। वह यह है कि जैसे दर्पण बिना रागद्वेष से अपनी स्वच्छता के कारण

ज्ञेय में बिना प्रवेश हुए भी अपने प्रतिबिम्ब को झलकाता है। वैसे केवलज्ञान बिना रागद्वेष के तथा ज्ञेय में बिना प्रवेश किये हुए इस ज्ञेय को जानता है। इसलिए तो स्वामी कार्तिकेय ने कहा है-

णाणं ण जादि णेयं पि ण जादि णाण-देसम्मि।
णिय-णिय-देस ठियाणां व्यवहारो णाण-णेयाणं।। (256)

ज्ञान, ज्ञेय के पास नहीं जाता और न ज्ञेय ज्ञान के पास आता है। फिर भी अपने अपने देश में नियत ज्ञान और ज्ञेय में ज्ञेयज्ञायक व्यवहार होता है।

ज्ञानी ज्ञेय में प्रवेश बिना जानता

ण पविट्ठो णाविट्ठो णाणी णेयेसु रूवमिव चक्खू।
जाणदि पस्सदिणियदं अक्खातीदो जगमसेसं।। (29)

The knower, who is beyond sense-perception, necessarily knows and sees the whole world neither enthering in to nor entered into by the object of knowlege, just as the eye sees the objects of sight.

आगे कहते हैं कि ज्ञानी आत्मा ज्ञेय पदार्थो में निश्चय नय से प्रवेश नहीं करता हुआ भी व्यवहार से प्रवेश किये हुए है, ऐसा झलकता है, ऐसी आत्मा के ज्ञान की विचित्र शक्ति है।

(अक्खातीदो) इन्द्रियों से रहित अतीन्द्रिय (णाणी) ज्ञानी आत्मा (चक्खू) आँख (रूवम् इव) जैसे रूप के भीतर वैसे (णेयेसु) ज्ञेय पदार्थों में (ण पविट्ठो) निश्चय से प्रवेश न करता हुआ (णियदं) निश्चित रूप से व संशय रहितपने से (असेसं) सम्पूर्ण (जगं) जगत् को (पस्सदि) देखता है (जाणदि) जानता है।

जैसे नेत्र रूपी द्रव्यों को यद्यपि निश्चय से स्पर्शन नहीं करता है तथापि व्यवहार से स्पर्श कर रहा है ऐसा लोक में झलकता है। तैसे यह आत्मा मिथ्यात्व-रागद्वेष आदि आस्रव भावों के और आत्मा के संबंध में जो केवलज्ञान होने के पूर्व विशेष भेदभाव होता है, उससे उत्पन्न जो केवलज्ञान और केवलदर्शन के द्वारा तीन जगत् और तीन कालवर्ती पदार्थों को निश्चय से स्पर्श न करता हुआ भी व्यवहार से स्पर्श करता है तथा स्पर्श करता हुआ ही ज्ञान से जानता है और दर्शन से देखता है। वह आत्मा अतीन्द्रिय सुख के स्वाद में परिणमन करता हुआ इन्द्रियों के विषयों से अतीत हो गया है।

इसलिये जाना जाता है कि निश्चय से आत्मा पदार्थों में प्रवेश न करता हुआ हो व्यवहार से ज्ञेय पदार्थों में प्रवेश हुआ की घटता है।

समीक्षा–पूर्व गाथा में यह सिद्ध किया गया था कि ज्ञान, ज्ञेय को जानते हुए भी ज्ञान ज्ञेय में प्रवेश नहीं करता है यह कथन यथार्थ निश्चयनय से हैं परन्तु व्यवहार नय से विचार करने पर कथंचित्, ज्ञान, ज्ञेय में प्रवेश करता भी है जैसे-कोई दर्पण को देख रहा है तब वस्तु स्वरूप से दर्पण और दर्शक अलग-अलग है। तथापि उस दर्शक का प्रतिबिम्ब सर्वथा दर्पण में प्रवेश नहीं करता तो दर्पण में प्रतिबिम्ब कैसे झलकता ? इससे सिद्ध होता है कि व्यवहार से वह व्यक्ति दर्पण में प्रतिछाया (प्रतिबिम्ब) रूप में प्रवेश किया हुआ है। विज्ञान की अपेक्षा वस्तु से जो प्रकाश निस्तृत होता है वह प्रकाश दर्पण के तल में जाकर प्रतिफलित होता है। प्रकाश जिस डिग्री में दर्पण तल में गिरेगा उतना ही कोण बनाकर प्रतिफलित होगा। इसके कारण ही दर्पण में प्रतिबिम्ब पड़ता है। इसी प्रकार चक्षु दूर से वस्तु को देखती है वह उस वस्तु का प्रतिबिम्ब आंख के रेटीना (तारा) में पड़ता है। यदि यह प्रतिबिम्ब आंख में नहीं पड़ता तो वह वस्तु दिखाई नहीं देती तथापि वह वस्तु आंख में प्रवेश नहीं करती। यदि वह वस्तु आंख में प्रवेश कर जाती तो आंख फूट जाती अथवा इतनी छोटी आंख में इतनी बड़ी-बड़ी वस्तु कैसे प्रवेश कर जाती ? इसी प्रकार केवलज्ञान रूपी चक्षु में समस्त लोक-अलोक स्व-प्रमेयत्व गुण के कारण प्रतिबिम्ब होते हैं। ज्ञान की स्वच्छता में प्रतिबिम्ब करने की शक्ति है और ज्ञेय में प्रतिबिम्बत होने की शक्ति है, उसे ही प्रमाण-प्रमेय सम्बन्ध या ज्ञान सम्बन्ध कहते है। जैन दार्शनिक ग्रन्थ आलाप पद्धति में देवसेन सूरी ने कहा है-

प्रमेय स्वभावः प्रमेयत्वम्, प्रमाणेन स्वपररूपं परिच्छेद्य प्रमेयम्(98)

प्रमाण के द्वारा जानने के योग्य जो स्व और पर स्वरूप है, वह प्रमेय है। उस प्रमेय के भाव को प्रमेयत्व कहते हैं।

परीक्षामुख में प्रमाण का लक्षण निम्न प्रकार कहा है-

'स्वापूर्वार्थव्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्(1)'

स्व और अपूर्व अर्थ (अनिश्चित अर्थ) का निश्चयात्मक ज्ञान प्रमाण है। अथवा जो ज्ञान स्व और पर स्वरूप को विशेष रूप से निश्चय करे, वह प्रमाण है।

उस प्रमाण के द्वारा जो जानने योग्य है अथवा जो प्रमाण के द्वारा जाना जाय वह प्रमेय है। उस प्रमेय के भाव को प्रमेयत्व कहते हैं। जिस शक्ति के निमित्त से द्रव्य ज्ञान का विषय अवश्य होता है वह प्रमेयत्व गुण है। यदि द्रव्य में प्रमेयत्व गुण न हो तो वह किसी भी ज्ञान का विषय नहीं हो सकता था।

जाणदि पस्सदि सव्वं ववहारणएण केवली भगवं।
केवलणाणी जाणदि, पस्सदि णियमेव अप्पाणं।। (159) नियमसार,

व्यवहारनय से केवली भगवान् सब कुछ जानते और देखते हैं निश्चयनय से केवल ज्ञानी आत्मा को जानते और देखते हैं।

ज्ञान का ज्ञेय में व्याप्त होने का उदाहरण

रयणमिह इंदणीलं दुद्धज्झासियं जहा सभासाए।
अभिभूय तं पि दुद्धं वट्टदि तह णाणमत्थेसु।। (30)

The knowledge opertes on the object just as a sapphire thrown in the milk, pervades the whole of if with its lustre.

(इह) इस जगत् में (जहां) जैसे (इंदणीलं रयणम्) इन्द्रनील नाम का रत्न (दुद्धज्झसियं) दूध में डुबाया हुआ (सभासाए) अपनी चमक से (तं पि दुद्धं) उस दूध को भी (अभिभूय) तिरस्कार करके (वट्टदि) वर्तन करता है (तह) तैसे (णाणम्) ज्ञान (अट्ठेसु) पदार्थो में वर्तता है।

भाव यह है कि जैसे इन्द्रनील नाम का प्रधानरत्न कर्त्ता होकर अपनी नीलप्रभारूपी कारण से दूध नीला करके वर्तन करता है तैसे निश्चयरत्नत्रयस्वरूप परम सामायिक नामा संयम के द्वारा जो उत्पन्न हुआ केवलज्ञान सो आपा-पर को जानने की शक्ति रखने के कारण सर्व अज्ञान के अन्धेरे को तिरस्कार करके एक समय में ही सर्व पदार्थो में ज्ञानाकार से वर्तता है- यहां यह मतलब है कि कारणभूत पदार्थों के कार्य जो ज्ञानाकार ज्ञान में झलकते हैं उनको उपचार से पदार्थ कहते हैं। उन पदार्थों में ज्ञान वर्तन करता है ऐसा कहते हुए भी व्यवहार से दोष नहीं है।

समीक्षा- इस गाथा में आचार्य श्री ने ज्ञान-ज्ञेय का क्या सम्बन्ध है सोदाहरण प्रस्तुत किया है। इन्द्रनीलमणि नाम का एक रत्न होता है जिसकी प्रभा दूध में फैलती है और दूध का वर्ण नीला हो जाता है। यदि एक पात्र में दो इंच प्रमाण दूध है और उसमें

इन्द्रनीलमणि डाल दिया जाता है तब उस मणि की प्रभा उस दूध में 2 इंच तक फैलेगी और यदि दूध की मात्रा 4 इंच की हो जायेगी तब उस मणि की प्रभा 4 इंच तक फैल जायेगी। इसी प्रकार केवलज्ञान रूपी इन्द्रनीलमणि, ज्ञेय रूपी दूध को प्रकाशित करता है वर्तमान जितना ज्ञेय है उस ज्ञेय से अनन्त गुणित ज्ञेय होता तो उसे भी केवलज्ञान प्रकाशित कर लेता और उससे कम होता तो भी उसे प्रकशित कर लेता तो भी उस केवलज्ञान की शक्ति कम या अधिक नहीं होती। अथवा जैसे इन्द्रनीलमणि दूध नहीं बनता और दूध इन्द्रनीलमणि नहीं बनता उसी प्रकार ज्ञान ज्ञेय रूप परिणमन नहीं करता और ज्ञेय ज्ञान रूप परिणमन नहीं करता।

ज्ञेय ज्ञान में वर्तन करते हैं-

जदि तेण संति अट्ठा णाणे णाणं ण होदि सव्वगदं।
सव्वगदं वा णाणं कहं ण णाणट्ठिया अट्ठा।। (31)

If those object are not within the knowledge, knowlege can not be all pervasive;the knowlege is all-pervastive, how then objects are not existion in it?

आगे पूर्व सूत्र से यह बात कही गई कि व्यवहार से ज्ञान पदार्थों में वर्तन करता है अब यह उपदेश करते हैं कि पदार्थ ज्ञान में वर्तते हैं-

(जदि) यदि (ते अट्ठा) वे पदार्थ(णाणं) केवलज्ञान में (ण संति) नहीं हो अर्थात् जैसे दर्पण में प्रतिबिम्ब झलकता है इस तरह पदार्थ अपने ज्ञानाकार को समर्पण करने के द्वारा ज्ञान में न झलकते हों तो (णाणं) केवल ज्ञान (सव्वगय) सर्वगत (ण होइ) नहीं होवे। (वा) अथवा यदि व्यवहार से (णाणं) केवलज्ञान (सव्वगयं) सर्वगत आपकी सम्मति से है तो व्यवहार नय से (अट्ठा) पदार्थ अर्थात् अपने ज्ञेयाकार को ज्ञान में समर्पण करने वाले पदार्थ (कहं ण) किस तरह नहीं (णाणट्ठिया) केवल ज्ञान में स्थित हैं किन्तु ज्ञान में अवश्य तिष्ठते हैं। ऐसा मानना होगा।

यहां यह अभिप्राय है व्यवहार नय से ही जब ज्ञेयों के ज्ञानकार को ग्रहण करने के द्वारा ज्ञान को सर्वगत कहा जाता है। इसलिए ही सब ज्ञेयों के ज्ञानाकार समर्पण द्वार से पदार्थ भी व्यवहार से ज्ञान में प्राप्त हैं, ऐसा कह सकते हैं। पदार्थों के आकार को जब ज्ञान ग्रहण करता है, तब पदार्थ अपना आकार ज्ञान को देते हैं, यह कहना होगा।

समीक्षा-जैसे प्रकाश पदार्थ को प्रकाशित करता है एवं पदार्थ प्रकाशित होता है उसी प्रकार ज्ञान,ज्ञेय को प्रकाशित करता है एवं ज्ञेय ज्ञान में प्रतिबिम्बत होता है ज्ञान व्यवहार से ज्ञेयाकार रूप में परिणमन करता है, जैसे कैमरा में वस्तु का प्रतिबिम्ब पड़ता है एवं कैमरे का लेन्स एवं फ्लेट प्रतिबिम्ब रूप में परिणमन करता है, तब जाकर कैमरा में उस वस्तु का चित्रांकन होता है। यदि ऐसा नहीं होगा तो चिंत्राकन नहीं होगा। इसी प्रकार केवल ज्ञान रूपी कैमरा में ज्ञानरूपी वस्तु का प्रतिबिम्ब पड़ता है और उस प्रतिबिम्ब रूप केवलज्ञान परिणमन करता है। यदि ऐसा नहीं होता तब लोकालोक व्याप्त ज्ञेय को केवलज्ञान नहीं जान सकता और केवलज्ञान सर्वव्यापी भी नहीं होता परन्तु केवलज्ञान सर्वव्यापी है। इससे सिद्ध होता है कि व्यवहार से ज्ञेय, ज्ञानाकार रूप परिणमन करता है और ज्ञान, ज्ञेयाकार रूप परिणमन करता है।

केवली ज्ञेय को जानता न कि ज्ञेय रूप होता

गेण्हदि णेव ण मुचंदि ण परं परिणमदि केवली भगवं।
पेच्छदि समंतदो सो जाणदि सव्वं णिरवसेसं।। (32)

The omniscient lord neither accepts nor abandons, not transform the external objectivity be sees all around and knows everything completely.

आगे यह समझाते है कि यद्यपि व्यवहार से ज्ञानी का ज्ञेय पदार्थों के साथ ग्राह्य ग्राहक अर्थात् ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्ध है तथापि निश्चय से स्पर्श आदि का सम्बन्ध नहीं है इसलिये ज्ञानी का ज्ञेय पदार्थों के साथ भिन्नपना ही है-

(केवली मुञ्चदि) केवली भगवान् सर्वज्ञ (परं) पर द्रव्य रूप ज्ञेय पदार्थों को (णेव गिण्हदि) न तो ग्रहण करते हैं, (ण मुञ्चदि) न छोड़ते (ण परिणमदि) न उस रूप परिणमन करते हैं। इससे जाना जाता है कि उनकी पर द्रव्य से भिन्नता ही है। तब क्या वे पर द्रव्य को नहीं जानते ? उसके लिये कहते हैं कि यद्यपि भिन्न है तथापि व्यवहार नय से (सो) वह भगवान् (णिरवसेसं सव्वं) बिना अवशेष के सबको (समंतदो) सर्व द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावों के साथ (पेच्छदि) देखते हैं तथा (जाणदि) जानते हैं।

अथवा इसी का दूसरा व्याख्यान यह है कि केवली भगवान् भीतर तो काम,

क्रोधादि भावों को और बाहर में पांचों इन्द्रियों के विषय रूप पदार्थों को ग्रहण नहीं करते है, न अपने आत्मा के अनन्त ज्ञानादि चतुष्टय को छोड़ते हैं। यही कारण है जो केवल ज्ञानी आत्मा केवलज्ञान की उत्पत्ति के काल में ही एक साथ सर्व को देखते-जानते हुए भी अन्य विकल्प रूप परिणमन नहीं करते हैं। ऐसे वीतरागी होते हुए क्या करते हैं ? अपने स्वभाव रूप केवलज्ञान की ज्योति से निर्मल स्फटिक मणि के समान निश्चल चैतन्य प्रकाश रूप होकर अपने आत्मा के द्वारा आत्मा को जानते हैं, अनुभव करते हैं। इसी कारण से उनकी परद्रव्यों के साथ एकता नहीं है, भिन्नता ही है, ऐसा अभिप्राय जानना चाहिए।

समीक्षा-उपरोक्त अनेक गाथाओं में वर्णित विषय एवं उदाहरण से सिद्ध होता है केवलज्ञान रूपी दर्पण/ज्योति ज्ञेय रूपी वस्तुओं को प्रतिबिम्बित प्रकाशित करती है, तो भी न ज्ञेय के ग्रहण करती है, न छोड़ती है, न परिणमन करती है। यदि ज्ञान अन्य रूप परिणमन करेगा तो आत्मा अचेतन हो जायेगा अथवा शून्य हो जायेगा क्योंकि ज्ञानगुण के अभाव से आत्मा ज्ञानशून्य होने के कारण अचेतन हो जायेगा अथवा ज्ञान गुण के अभाव से आत्मा गुणी का भी अभाव हो जायेगा। जैसे दीपक समीपस्थ योग्य वस्तुओ को प्रकाशित करता हुआ भी वस्तु रूप नहीं होता है, उसको ग्रहण नहीं करता, उसका त्याग भी नहीं करता है। उसी प्रकार केवलज्ञान रूपी आदित्य के बारे में जान लेना चाहिए।

ज्ञानी एवं ज्ञान कथंचित् अभेद

जो जाणदि सो णाणं ण हवदि णाणेण जाणगो आदा।
णाणं परिणमदि सयं अट्ठ णाणट्ठि सव्वे।। (35)

He who knows is Knowledge; the self does not become a knower with knowledge(as an extrneons instrument). The very self develops knowlege, and all the objects stand (reflected) in the knowlege .

आगे कहते हैं कि आत्मा अपने से भिन्न किसी ज्ञान के द्वारा ज्ञानी नहीं होता है अर्थात् ज्ञान और आत्म का सर्वथा भेद नहीं है किसी अपेक्षा से भेद है, वास्तव में ज्ञान और आत्मा अभिन्न है।

(जो जाणदि) जो कोई जानता है(सो णाणं) सो ज्ञान गुण अथवा ज्ञानी आत्मा

है। जैसे संज्ञा, लक्षण, प्रयोजन आदि के कारण अग्नि और उसके गुण का भेद होने पर भी अभेद नय से जलाने की क्रिया करने को समर्थ उष्ण गुण के द्वारा परिणमति हुई अग्नि भी उष्ण कही जाती है। तैसे संज्ञा लक्षणादि के द्वारा ज्ञान और आत्मा का भेद होने पर भी पदार्थ और क्रिया के जानने को समर्थ ज्ञान गुण के द्वारा परिणमन करता हुआ आत्मा भी ज्ञान या ज्ञानरूप कहा जाता है ऐसा ही कहा गया है। 'जानातीति ज्ञानमात्मा' कि जो जानता है सो ज्ञान है और सो ही आत्मा है। (आदा) आत्मा (णाणेण) भिन्न ज्ञान के कारण से (जाणागो) जानने वाला ज्ञाता (ण हवदि) नहीं होता है। किसी का ऐसा मत है कि जैसे भिन्न दंतीले से देवदत्त घास का काटने वाला होता है वैसे भिन्न ज्ञान से आत्मा ज्ञाता होवे तो कोई दोष नहीं है। उसके लिये कहते हैं कि ऐसा नहीं हो सकता है। घास छेदने की क्रिया के सम्बन्ध में दंतीला बाहरी उपकरण है सो भिन्न हो सकता है परन्तु भीतरी उपकरण देवदत्त की छेदन क्रिया सम्बन्धी शक्ति विशेष है सो देवदत्त से अभिन्न ही है, भिन्न नहीं है। तैसे ही ज्ञान की क्रिया में उपाध्याय, प्रकाश, पुस्तक आदि बाहरी उपकरण भिन्न हैं, तो हों, इसमें कोई दोष नहीं है। परन्तु ज्ञान शक्ति भिन्न नहीं है वह आत्मा से अभिन्न है। यदि ऐसा मानोगे कि भिन्न ज्ञान से आत्मा ज्ञानी हो जाता है तब दूसरे के ज्ञान से अर्थात् भिन्न ज्ञान से सर्व ही कुभं, खंभा आदि जड़ पदार्थ भी ज्ञानी हो जायेंगे सो ऐसा होता नहीं। (णाणं) ज्ञान (सयं) आप ही (परिणमदि) परिणमन करता है अर्थात् जब भिन्न ज्ञान नहीं होता है तब जैसे घटकी उत्पत्ति में मिट्टी का पिंड स्वयं उपादान कारण से परिणमन करता है वैसे पदार्थों के जानने में ज्ञान स्वयं उपादान कारण से परिणमन करता है तथा (सव्वे अट्ठा) व्यवहार नय से सब ही ज्ञेय पदार्थ(णाणट्ठिया) ज्ञान में स्थित हैं अर्थात् जैसे दर्पण में प्रतिबिम्ब पड़ता है तैसे ज्ञेय पदार्थ ज्ञानाकार से ज्ञान में झलकते हैं, ऐसा अभिप्राय है।

समीक्षा–ज्ञान गुण एवं गुणी कथंचित् भिन्न भी है और कथंचित् अभिन्न भी हैं। इसलिए कथचिंत् ज्ञान ज्ञानी हैं और कथंचित् ज्ञानी ज्ञान से भिन्न अन्य अस्तित्व, वस्तुत्वादि गुण स्वरूप भी है। अथवा आत्मा स्वयं से भिन्न अन्य किसी ज्ञान गुण के संयोग से ज्ञेय को जानात है, ऐसा भी नहीं है। यदि ऐसा माना जाय तो ज्ञान के संयोग से पहले आत्मा अचेतन रहेगा। तथा ज्ञान के संयोग से चेतन होगा। और भी एक

अनर्थ उत्पन्न हो जायेगा वह यह है कि ज्ञान गुण आत्मा के संयोग के पहले किस आधार पर था ? और ज्ञान गुण के बिना आत्मा की सत्ता कैसे संभव है ? कोई दार्शनिक ज्ञान एवं ज्ञान का फल ही मानते हैं और कोई अभिन्न ही है ऐसा मानते है परन्तु ज्ञान एवं उसका फल कथंचित् भिन्न है, कथंचित् अभिन्न है, यह वस्तु स्वरूप है। प्रमेयरत्नमाला में कहा भी है-

अज्ञाननिवृत्तिर्हानोपादानोपेक्षाश्च फलम्। (1)

फल दो प्रकार का होता है-साक्षात्फल और पारम्पर्यफल। वस्तु सम्बन्धी अज्ञान की निवृत्ति होना यह प्रमाण का साक्षात्फल है। हान आदिक परम्पराफल हैं क्योंकि वह प्रमेय के निश्चय करने के उत्तरकाल में होता है।

प्रमाणादभिन्नाभिन्नं च। (2)

वह फल प्रमाण से कथंचित् अभिन्न है और कथंचित् भिन्न है।

य प्रमिमीते स एव निवृत्ताज्ञानो जहात्यादत्त उपेक्षते चेति प्रतीतेः। (3)

जो प्रमाण से पदार्थ को जानता है उसी का अज्ञान निवृत्त होता है, वहीं अनिष्ट वस्तु का त्याग करता है, इष्ट वस्तु को ग्रहण करता है और जिसे अपने लिए इष्ट-अनिष्ट रूप नहीं समझता है, उसकी उपेक्षा करता है। इस प्रकार की प्रतीति होने से सिद्ध है कि प्रमाण से फल अभिन्न है।

पारम्पर्येण साक्षाच्च फलं द्वेधाऽमिधायि यत्।
देवैर्भिन्नभिन्नं च प्रमाणात्तहोदितम्।। (11)

इसका यह अर्थ (अभिप्राय) है कि जिस आत्मा की प्रमाण के आकार से परिणति होती है, उसके ही फलस्वरूप से परिणाम देखा जाता है इसलिए एक प्रमाता की अपेक्षा से प्रमाण और फल में अभेद है। प्रमाण करण रूप परिणाम है और फल क्रियारूप परिणाम है इस प्रकार करण और क्रियारूप परिणाम के भेद से प्रमाण और फल में भेद है। यह भेदरूप कथन सामर्थ्य से सिद्ध होने के कारण सूत्रकार ने पृथक नहीं कहा है।

आचार्य अकलंकदेव ने और माणिक्यनन्दि ने प्रमाण के जिस फल को साक्षात् और पारम्पर्य के भेद से दो प्रकार का कहा है, वह प्रमाण से कथंचित् भिन्न है और अभिन्न भी है, वहीं यहाँ पर मैंने कहा है।

ज्ञान एवं ज्ञेय का स्वरूप

तम्हा णाणं जीवो णेयं दव्वं तिहा समक्खादं।
दव्वं ति पुणो आदा परं च परिणमसंबद्धं।। (36)

Therefor the self is knowldege, the object of knowledge is the substance, which is said to be trhreefold; The substance comprise the soul and the (five) otber (substances) which are prone to modification.

आगे बताते हैं कि आत्मा ज्ञान रूप है तथा अन्य सर्व ज्ञेय हैं अर्थात् ज्ञान और ज्ञेय का भेद प्रगट करते हैं। क्योंकि आत्मा ही अपने उपादान रूप से ज्ञानरूप परिणमन करता है तैसे ही पदार्थों को जानता है ऐसा पूर्व सूत्र में कहा गया है (तम्हा) इसलिये (जीवः) आत्मा ही (णाणं) ज्ञान है। (णेयं दव्वं) उस ज्ञान स्वरूप आत्मा का ज्ञेय द्रव्य (तिहा) तीन प्रकार अर्थात् भूत, भविष्य, वर्तमान पर्याय से परिणमन रूप में या द्रव्य गुण पर्याय रूप से या उत्पाद-व्यय ध्रौव्य रूप से ऐसे तीन प्रकार (समक्खाद) कहा गया है। (पुणो) तथा (परिणाम संबंद्धं) किसी अपेक्षा परिणमनशील (आदा च परं) आत्मा और पर द्रव्य (दव्वं ति) द्रव्य है तथा क्योंकि ज्ञान दीपक के समान अपने को भी जानता है और पर को भी जानता है इसलिये आत्मा भी ज्ञेय है।

यहाँ पर नैयायिक मत के अनुसार चलने वाला कोई कहता है कि ज्ञान दूसरे ज्ञान से जाना जाता है क्योंकि वह प्रमेय है जैसे घट आदि। अर्थात् ज्ञान स्वयं अपने आपको नहीं जानता है ? इसका समाधान करते हैं कि ऐसा कहना दीपक के साथ व्यभिचार रूप है। क्योंकि प्रदीप अपने आप प्रमेय या जानने योग्य ज्ञेय है। उसके प्रकाश के लिये अन्य की आवश्यकता नहीं हैं। तैसे ही ज्ञान भी अपने को प्रकाश करता है, उसके लिये अन्य ज्ञान के होने की जरूरत नहीं है। ज्ञान स्वयं स्व पर प्रकाशक है। यदि ज्ञान दूसरे ज्ञान से प्रकाशता है तब वह ज्ञान फिर दूसरे ज्ञान से प्रकाशता है ऐसा माना जायेगा तो अनंत आकाश में फैलने वाली व जिसका दूर करना अति कठिन है, ऐसी अनवस्था प्राप्त हो जायेगी सो होना सम्मत नहीं है। इसलिये ज्ञान स्व-पर प्रकाशित है ऐसा सूत्र का अर्थ है।

समीक्षा–जैसे दीपक स्व-पर प्रकाशी है अर्थात् स्वयं प्रकाशित होता है एवं पर को भी प्रकाशित करता है। उसी प्रकार आत्मा भी स्व-पर प्रकाशी है अर्थात् ज्ञान

गुण के द्वारा स्वयं को जानता है और दूसरों को भी जानता है। जब आत्मा स्वयं को जानता है उस समय वह कथंचित ज्ञेय भी हो जाता है। अन्य दृष्टि से भी आत्मा ज्ञेय भी है क्योंकि ज्ञानगुण को छोड़कर अन्य गुण भी ज्ञान ही के विषय बनते हैं इसलिये अन्यगुण की अपेक्षा आत्मा ज्ञेय भी बन जाता है। अन्य अचेतन द्रव्य केवल ज्ञेय ही होते हैं कभी ज्ञान नहीं होते क्योंकि उसमें चैतन्य शक्ति नहीं होती है। जैसे-जो द्रव्य स्वयं अप्रकाशी है वह द्रव्य को प्रकाश नहीं दे सकता परन्तु अन्य के प्रकाश से प्रकाशित हो सकता है। जैसे विज्ञान की अपेक्षा सूर्य स्वप्रकाशी एवं परप्रकाशी भी है। क्योंकि जब सूर्य उदय होता है तब सूर्य को देखने के लिए अन्य प्रकाश की आवश्यकता नहीं होती हैं। कोई यह नहीं कहता कि मुझे उदित सूर्य को देखना है एक टार्च लेकर आओ परन्तु अंधकार में कोई अप्रकाशित वस्तु को देखने के लिए प्रकाश की आवश्यकता पड़ती है। प्रमेयरत्नमाला (जैन न्याय शास्त्र) में कहा भी है-

स्वापूर्वार्थव्यसायात्मकं ज्ञानं प्रमाणम्। (1)

स्व अर्थात् अपने आपको और अपूर्वार्थ अर्थात् जिसे किसी अन्य प्रमाण से पूर्व में जाना नहीं है ऐसे पदार्थ के निश्चय करने वाले ज्ञान को प्रमाण कहते हैं।

स्वोन्मुखतया प्रतिभासनं स्वस्य व्यवसायः। (6)

स्वोन्मुखरूप से अपने आपको जानना, यह स्वव्यवसाय हैं। अपने आपके जानने के अभिमुख होने को स्वोन्मुखता कहते हैं। उस स्वोन्मुखता कहिए स्वानुभाव रूप से जो प्रतिभास अर्थात् आत्मप्रतीति होती है, वही स्वव्यवसाय कहलाता है। सारांश अपने आपको जानने का नाम स्वव्यवसाय है।

अर्थस्येव तदुन्मुखतया। (7)

जैसे अर्थ के उन्मुख होकर उसे जानना अर्थव्यवस्था है। सूत्र में कहे गये 'तत्' शब्द से अर्थ (पदार्थ) को ग्रहण किया गया। जिस प्रकार पदार्थ के अभिमुख होकर उसके जानने को अर्थव्यवसाय कहते हैं, उसी प्रकार स्व अर्थात् अपने आपके अभिमुख होकर जो अपने आपका प्रतिभास होता है अर्थात् आत्मप्रतीति या आत्म-निश्चय होता है, वह स्वव्यवसाय कहलाता है।

घटमहमात्मना वेद्मि।(8)

मैं घटको अपने आपके द्वारा जानता हूँ। यहाँ पर 'अहं' पद कर्त्ता है, 'घट'

कर्म है, 'आत्मना' पद कारण है और 'वेद्मि' यह क्रिया है। जैसे जानने वाला पुरुष अपने आपके द्वारा घटको जानता है, वैसे ही अपने आपको भी जानता है।

प्रदीपवत्। (12)

दीपक के समान। जिस प्रकार दीपक की प्रकाशता और प्रत्यक्षता को स्वीकार किये बिना उससे प्रतिभासित हुए घटादिक पदार्थ की प्रकाशता और प्रत्यक्षता सम्भव नहीं है उसी प्रकार यदि प्रमाणस्वरूप ज्ञान की भी प्रत्यक्षता न मानी जाय, तो उसके द्वारा प्रतिभासित पदार्थ की भी प्रत्यक्षता माननी सम्भव नहीं है। अतः दीपक के समान ज्ञान की भी स्वयं प्रकाशता और प्रत्यक्षता माननी चाहिये। यहाँ यह तात्पर्य है-ज्ञान अपने आपके प्रतिभास करने अर्थात् जानने में अपने से अतिरिक्त (भिन्न) सजातीय अन्य पदार्थों की अपेक्षा से रहित है, क्योंकि पदार्थ को प्रत्यक्ष करने के गुण से युक्त होकर अदृष्ट-अनुयायी करने वाला है, जैसे दीपक का भासुराकार। नियमसार में अमृतचन्द्र सूरि ने कहा है-

'यथावद्वस्तुनिर्णीतः सम्यग्ज्ञानं प्रदीपवत्।
तत्स्वार्थव्यवसायात्म कथंचित् प्रतिमेःपृथक।।

यथार्थ रूप से वस्तु का निर्णय होना सम्यग्ज्ञान है, वह प्रदीप के समान स्व और पर अर्थ का निश्चय कराने वाला है, तथा प्रमिति-जानने रूप क्रिया से कथंचित् भिन्न है।'

जदि सव्वमेव णाणं णाणा-रूवेहि संठिदं एक्कं।
तो ण वि किं पि विणेयं विणा कहं णाणं।। (247)

यदि सब वस्तु ज्ञानरूप ही है और एक ज्ञान ही नाना पदार्थों के रूप में स्थित है तो ज्ञेय कुछ भी नहीं रहा। ऐसी स्थिति में बिना ज्ञेय के ज्ञान कैसे रह सकता है ?

अथ सर्वमेव ज्ञानमेकं ज्ञानाद्वैतं ज्ञेयमन्तरेण नानारूपेण घटपटादिपदार्थन्तरेण घटपटादिज्ञानरूपेण संस्थित यदि चेत् तो तर्हि किमपि ज्ञेयं ज्ञेयपदार्थवृन्दं घटपटादिलक्षणं नैव नास्त्येव। भवतु नाम ज्ञेयेन पदार्थेन किं भवेदिति चेत् ज्ञेयेन बिना ज्ञातुं योग्येन गृहगिरिभूमिजलाग्निवातादिना विना तेषां गृहघटादीनां ज्ञानं कथं सिद्धयति। तदो णेयं परमत्थं। ततः ज्ञेयमन्तरेण ज्ञानानुत्पत्तेः परमार्थभूतं ज्ञेय अंगीकर्तव्यम्।

ज्ञानाद्वैतवादी बाह्य घट, पट आदि पदार्थों को असत् मानता है और एक ज्ञान

को ही सत् मानता है। उनका कहना है कि अनादि वासना के कारण हमें बाहर ये पदार्थ दिखाई देते हैं। किन्तु वे वैसे ही असत्य हैं जैसे स्वप्न में दिखाई देने वाली बातें असत्य होती है। इस पर आचार्य का कहना है कि यदि सब ज्ञानरूप ही है तो ज्ञेय तो कुछ भी नहीं रहा और जब ज्ञेय ही नहीं है तो बिना ज्ञेय के ज्ञान कैसे रह सकता है, क्योंकि जो जानता है उसे ज्ञान कहते हैं और जो जाना जाता है उसे ज्ञेय कहते हैं। जब जानने के लिए कोई है ही नहीं, तो ज्ञान कैसे हो सकता हैं ?

घट-पट-जड-दव्वाणि हि णेय-सरूवाणि सुप्पसिद्धाणि।
णाणं जाणेदि जदो अप्पादो भिण्णरूवाणि।। (248)

घट पट आदि जड़ द्रव्य ज्ञेयरूप से सुप्रसिद्धि हैं। ज्ञान जानता है। अतः ज्ञान से वे भिन्न रूप है।

जं सव्व-लोय-सिद्धं-देहं-गेहादि-बाहिर अत्थं।
जो तं पि णाण मण्णदि ण मुणदि सो णाण-णामं पि।। (249)

जो शरीर मकान बगैरह बाह्य पदार्थ समस्त लोक में प्रसिद्ध हैं उनको भी जो ज्ञानरूप मानता है वह ज्ञान का नाम भी नहीं जानता।

ज्ञान त्रिकाल की अवस्थाओं को जानता

तक्कलिंगेव सव्वे सदसब्भूदा हि पज्जया तासिं।
वट्टन्ते ते णाणे विसेसदो दव्वजादीणं।। (37)

All modification. present and absent, of all those types of substances, atand essentially (reflected) in the knowledge, as if in the present.

आगे कहते हैं कि आत्मा के वर्तमान ज्ञान में अतीत और अनागत पर्यायें वर्तमान के समान दिखती हैं-

(तासि दव्वजादीणं) उन प्रसिद्ध शुद्ध जीव द्रव्यों की व अन्य द्रव्यों की (ते) वे पूर्वोक्त (सव्वे) सर्व (सदसब्भूदा) सद्भुत और असद्भुत अर्थात् वर्तमान,भूत तथा भविष्य काल की (पज्जया) पर्यायें (हि) निश्चय से स्पष्ट रूप से (णाणे) केवलज्ञान में (विसेसदो) विशेष करके अर्थात् अपने-अपने प्रदेश, काल, आकार भेदों के साथ संकर, व्यतिकर दोष के बिना (तक्कालिगेव) वर्तमान पर्यायों के समान

(वट्टंते) वर्तती हैं अर्थात् प्रतिभासती है या स्फुरायमान होती है।

भाव यह है कि जैसे छद्मस्थ अल्पज्ञानी मति श्रुतज्ञानी पुरुष के भी अंतरंग में मन से विचारते हुए पदार्थों की भूत और भविष्य पर्यायें प्रगट होती हैं अथवा जैसे चित्रमयी भींत पर बाहुबली भरत आदि के भूतकाल के रूप तथा श्रेणिक तीर्थंकर आदि भावीकाल के रूप वर्तमान के समान प्रत्यक्ष रूप से दिखाई पड़ते हैं तैसे भींत के चित्र समान केवलीज्ञान में भूत और भावी अवस्थाएं भी एक साथ प्रत्यक्ष रूप से दिखाई पड़ती हैं इसमें कोई विरोध नहीं है। तथा जैसे यह केवली भगवान् पर द्रव्यों की पर्यायों को उनके ज्ञानाकार मात्र से जानते हैं, तन्मय होकर नहीं जानते हैं, परन्तु निश्चय करके केवलज्ञान आदि गुणों का आधारभूत अपनी ही सिद्ध पर्याय को ही स्वसंवेदन या स्वानुभव रूप से तन्मयी हो जानते हैं, तैसे निकट भव्य जीव को भी उचित है कि अन्य द्रव्यों का ज्ञान रखते हुए भी अपने शुद्ध आत्मा द्रव्य की सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान तथा चारित्र रूप निश्चयरत्नत्रयमयी अवस्था को ही सर्व तरह से तन्मय होकर जाने तथा अनुभव करे, यह तात्पर्य है।

समीक्षा–त्रैकालिक पर्यायों का समूहभूत द्रव्य है। किसी न किसी समय में द्रव्य किसी न किसी अवस्था में रहेगा ही। ऋजुसूत्र नय की अपेक्षा द्रव्य में एक समय में एक ही पर्याय रहती है। भूत एवं भावी पर्यायें वर्तमान द्रव्य में प्राग्भाव एवं प्रध्वंसाभाव रूप में रहती है। केवलज्ञान विशद्, निरपेक्ष, प्रत्यक्ष, अनंतानंत ज्ञान प्रतिच्छेद से युक्त होने के कारण वह केवलज्ञान वर्तमान पर्याय के माध्यम से भूत एवं भविष्यत् पर्यायों को भी जान लेता है । एक लौकिक उदाहरण से प्रस्तुत इस महान् गूढ रहस्य का विशदकरण कर रहा हूँ। जैसे अल्पज्ञ(छद्मस्थ) व्यक्ति एक किशोर को देखकर अपने क्षयोपशमिक ज्ञान से यह अनुमान लगाता है कि यह किशोर पहले माता के गर्भ में था, जन्म लेकर शिशु बढ़ता-बढ़ता किशोर हुआ है एवं यह आयुक्रम से बढ़ता हुआ, युवक, प्रौढ़, वृद्ध होकर मृत्यु को भी प्राप्त करेगा। यदि इसकी आयु कम है तो यह युवक, प्रौढ़, वृद्ध बने या न बने पर निश्चित रूप से मृत्यु को प्राप्त करेगा। और भी एक उदाहरण प्रस्तुत कर रहा हूँ-रोटी को देखकर हमें पहले यह ज्ञान होता है कि पहले गेहूँ को खेत में बोया गया था, फिर अंकुर होकर पौधा बनकर गेहूँ आया तथा पका, उस गेहूँ को काँट-छाँट कर गेहूँ को अलग किया गया, पश्चात गेहूँ को

पीसकर रोटी बनाई गई यह हुआ भूत से वर्तमान का ज्ञान। वह अनुमान से जानता है कि यदि कोई इसको भक्षण करेगा तो यह रूधिर रूप में परिवर्तित होगी और यदि कोई भक्षण नहीं करेगा तो सड़-गल जायेगी। छद्मस्थ व्यक्ति अल्पज्ञ होने के कारण द्रव्य की कुछ पर्यायों को जान सकता है परन्तु सर्वज्ञ अनंत ज्ञानी होने से सम्पूर्ण द्रव्य की सम्पूर्ण पर्यायों को जानते हैं। दिगम्बर महाश्रमण आचार्य उमास्वामी ने कहा भी है-

मतिश्रुतयोर्निबन्धो द्रव्येष्वसर्व पर्यायेषु। अ.।, तत्त्वार्थ सूत्र (26)

मति ज्ञान और श्रुतज्ञान की प्रवृत्ति कुछ पर्यायों से युक्त सब द्रव्यों में होती हैं।

रूपिष्ववधेः। (27) अ. 1

अवधि ज्ञान की प्रवृत्ति रूपी पदार्थों में होती है।

तदनन्तभागे मनःपर्ययस्य। (28)

मनः पर्ययज्ञान की प्रवृत्ति अवधिज्ञान के विषय के अनन्तवें भाग में होती है।

सर्वद्रव्य पर्यायेषु केवलस्य। (29)

केवल की प्रवृत्ति सब द्रव्य और उनकी सब पर्यायों में होती हैं।

कलिकाल सर्वज्ञ, तार्किक चूडामणि, बहुभाषा विद् 'महाप्रज्ञ' वीरसेन स्वामी ने जयधवला तथा धवला में इस सिद्धान्त का वर्णन बहुत ही तर्कसंबद्ध आगमोक्त रूप में किया है-

15. असहाय ज्ञान को केवलज्ञान कहते हैं, क्योंकि वह इन्द्रिय, प्रकाश और मनस्कार अर्थात् मनो व्यापार की अपेक्षा से रहित होता है।

शंका-केवलज्ञान आत्मा के सहायता से होता है, इसलिए उसे केवल अर्थात् असहाय नहीं कह सकते हैं ?

समाधान-नहीं, क्योंकि ज्ञान से भिन्न आत्मा नहीं पाया जाता है, इसलिए केवलज्ञान को असहाय कहने में कोई आपत्ति नहीं है।

शंका- केवलज्ञान अर्थ की सहायता लेकर प्रवृत्त होता है, इसलिये उसे केवल अर्थात् असहाय नहीं कह सकते हैं ?

समाधान-नहीं, क्योंकि नष्ट हुए अतीत पदार्थों में और उत्पन्न न हुए अनागत पदार्थों में भी केवलज्ञान की प्रवृत्ति पाई जाती है, इसलिये केवलज्ञान अर्थ की सहायता से होता है यह नहीं कहा जा सकता है।

शंका–यदि विनष्ट और अनुत्पन्न रूप से असत् पदार्थ में केवलज्ञान की प्रवृत्ति होती है तो खर विषाण में भी उसकी प्रवृत्ति होओ ?

समाधान–नहीं, क्योंकि खर विषाण का जिस प्रकार वर्तमान में सत्त्व नहीं पाया जाता है उसी प्रकार भूत शक्ति और भविष्यत् शक्ति रूप से भी सत्त्व नहीं पाया जाता हैं। अर्थात् जैसे वर्तमान पदार्थ में उसकी अतीत पर्यायें, जो कि पहले हो चुकी है, भूत शक्ति रूप से विद्यमान हैं और अनागत पर्यायें, जो कि आगे होने वाली हैं, भविष्यत् शक्ति रूप में विद्यमान हैं उस तरह खर विषाण-गधे का सींग यदि पहले कभी हो चुका होता तो भूत शक्ति रूप से उसकी सत्ता किसी पदार्थ में विद्यमान होती अथवा वह आगे होने वाला होता तो भविष्यत् शक्ति रूप से उसकी सत्ता किसी पदार्थ में विद्यमान रहती। किन्तु खर-विषाण न तो कभी हुआ है और न कभी होगा अतः उस में केवलज्ञान की प्रवृत्ति नहीं होती है।

शंका–जबकि अर्थ में भूत पर्यायें और भविष्यत् पर्यायें भी शक्ति रूप से विद्यमान रहती है तो केवल वर्तमान पर्यायों को ही अर्थ क्यों कहा जाता है ?

समाधान–नहीं क्योंकि जो जाना जाता है उसे अर्थ कहते हैं इस व्युत्पत्ति के अनुसार वर्तमान पर्यायों में ही अर्थपना पाया जाता है।

शंका–यह व्युत्पत्त्यर्थ अनागत और अतीत पर्यायों में भी समान है अर्थात् जिस प्रकार पूर्व में कही गई व्युत्पत्ति के अनुसार वर्तमान पर्यायों में अर्थपना पाया जाता है उसी प्रकार अनागत और अतीत पर्यायों में भी अर्थपना संभव है ?

समाधान–नहीं, क्योंकि अनागात और अतीत पर्यायों का ग्रहण वर्तमान अर्थ के ग्रहण पूर्वक होता है। अर्थात् अतीत और अनागत पर्यायों भूत शक्ति और भविष्यत् शक्ति रूप से वर्तमान अर्थ में ही विद्यमान रहती हैं। अतः उनका ग्रहण वर्तमान अर्थ के ग्रहणपूर्वक ही हो सकता है, इसलिये उन्हें 'अर्थ' यह संज्ञा नहीं दी जा सकती हैं। अथवा केवलज्ञान आत्मा और अर्थ से अतिरिक्त किसी इन्द्रियादिक सहायक की अपेक्षा से रहित है इसलिये भी वह केवल अर्थात् असहाय हैं। इस प्रकार केवल अर्थात् असहाय जो ज्ञान है उसे केवलज्ञान समझना चाहिये।

जय धवला, पु. 12 वीरसेनाचार्य

केवलणाणं णाम, सव्व दव्वाणि अदीदाणागय-वट्टमाणाणि

सपज्जयाणि पच्चक्खं जाणदि।। धवला, पु.1

जो अतीत, अनागत और वर्तमान पर्यायों सहित सम्पूर्ण द्रव्यों को प्रत्यक्ष जानता है उसे केवलज्ञान कहते हैं।

नमः श्री वर्द्धमानाय निर्धूत कलिलात्मने

सालोकानां त्रिलोकानां यद्विद्या दर्पणायते।। (1) श्रावकाचार

जिनकी आत्मा ने कर्म रूप कलङ्क को नष्ट कर दिया है अर्थात् जो वीतराग है, अथवा जिनकी आत्मा ने हितोपदेश देकर अन्य आत्माओं-जीवों को कर्म कलङ्क से रहित किया है अर्थात् जो हितोपदशी हैं और जिनका केवलज्ञान अलोक सहित तीनों लोकों के विषय में दर्पण के समान आचरण करता है अर्थात् जो सर्वज्ञ हैं उन अन्तिम तीर्थंकर श्रीवर्द्धमान स्वामी को अथवा अनन्त चतुष्टय रूप लक्ष्मी से वृद्धि को प्राप्त होने वाले चौबीस तीर्थंकरों को नमस्कार करता हूँ।

असद्भूत पर्यायों को भी ज्ञान जानता

जदि पच्चक्खमजादं पज्जायं पलयिदं च णाणस्स।

ण हवदि वा तं णाणं दिव्वं त्ति हि के परूवेंति।। (39)

if that omniscience would not directly visualise the future and past modifications, who that would call that knowlege super-natural

आगे इसी बात को दृढ़ करते हैं कि असद्भूत पर्यायें ज्ञान में प्रत्यक्ष हैं- (जदि) यदि (अजादं) अनुत्पन्न जो अभी पैदा नहीं हुई हैं ऐसी भावी (च पलइयं) तथा जो चली गई ऐसी भूत (पज्जायं) पर्याय (णाणस्स) केवलज्ञान के (पच्चक्खं) प्रत्यक्ष (ण हवदि) न हो (वा) तो(तं णाणं) उस ज्ञान को (दिव्वत्ति) दिव्य अर्थात् अलौकिक अतिशय रूप(हि) निश्चय से (के) कौन (परूवंत्ति) कहें ? अर्थात् कोई भी न कहें। भाव यह है कि यदि वर्तमान पर्याय की तरह भूत और भावी पर्याय को केवलज्ञान क्रमरूप इन्द्रियज्ञान के विधान से रहित हो साक्षात्, प्रत्यक्ष न करे तो वह ज्ञान दिव्य न होवे। वस्तु स्वरूप की अपेक्षा विचार करें तो वह शुद्ध ज्ञान भी न होवे। जैसे यह केवली भगवान् परद्रव्य व उसकी पर्यायों को यद्यपि ज्ञानमात्रपने से जानते हैं तथापि निश्चय करके सहज ही आनंदमयी एक स्वभाव के धारी अपने शुद्ध तन्मयीपने से ज्ञान क्रिया करते है तैसे निर्मल विवेकी मनुष्य भी यद्यपि व्यवहार से परद्रव्य और

उसके गुण पर्याय का ज्ञान करते हैं तथापि निश्चय से विकार रहित स्वसंवेदन पर्याय में अपना विषय रखने से उसी पर्याय का ही ज्ञान या अनुभव करते हैं यह सूत्र का तात्पर्य है।

समीक्षा–इस गाथा के पहले-पहले आचार्य कुंदकुद देव ने केवलज्ञान की अलौकिकता, विशिष्टता, दिव्यता, अनंतशक्ति सम्पन्नता, त्रिकालज्ञता, प्रत्यक्षता का वर्णन आगमोक्त सतर्क रूप से करने के बाद यहाँ प्रश्नात्मक रूप से उसको ही दृढ़ीकरण किया है। उनका प्रश्नात्मक रूप में उत्तर देना यह है कि यदि इन्द्रियज्ञान परोक्षज्ञान, क्षायोपशमिक ज्ञान के समान केवलज्ञान भी कुछ निश्चित पर्यायों द्रव्यों को जानेगा और भावी एवं भूत पर्यायों को समग्रता से नहीं जानेगा तो केवलज्ञानी, दिव्यज्ञानी कैसे होगा ? अर्थात् ऐसा ज्ञान दिव्यज्ञान या केवलज्ञान नहीं हो सकता है इसलिये केवलज्ञान निश्चय से समस्त ज्ञेय एवं उनकी समस्त पर्यायों को जानता है।

इन्द्रियज्ञान असद्भूत पर्यायों को नहीं जानता

अत्थं अक्खणिवदिदं ईहापुव्वेहिं जे विजाणंति।
तेसिं परोक्खभूदं पादुमसक्कं ति पण्णत्तं।। (40)

if is declared that is impossible to know the past and future for those who (are accustomed to) know the object by menas of discrimination and other stages (of perception), when it has fallen within the range of the sense.

आगे यह विचार करते हैं कि इन्द्रियों के द्वारा जो होता है वह भूत और भावी पर्यायों को तथा सूक्ष्म, दूरवर्ती आदि पदार्थों को नहीं जानता है।

(जे) जो कोई छद्मस्थ (अक्खणिवदिदं) इन्द्रिय गोचर (इन्द्रिय सम्बद्धं अट्टं पदार्थों को (ईहापुव्वेहिं) ईहापूर्वक (विजाणंति) जानते हैं (तेसिं) उनका (परोक्खभूदं) परोक्ष भूतज्ञान (णादुं) जानने के लिए अर्थात् सूक्ष्म आदि पदार्थों को जानने के लिए (असक्कंति) अशक्य है ऐसा (पणत्तं) कहा गया हैं कि नैयायिकों के मत में चक्षु आदि इन्द्रिय घट पट आदि पदार्थों के पास जाकर फिर पदार्थ को जानती हैं। अथवा संक्षेप में इन्द्रिय और पदार्थ का सम्बन्ध सन्निकर्ष है वह ही प्रमाण है। ऐसा सन्निकर्ष ज्ञान आकाश आदि अमूर्तिक पदार्थों में काल से दूर राम-रावणादि में स्वभाव से दूर भूत-

प्रेत आदि में तथा अति सूक्ष्म पर के मन विचार में व पुद्गल परमाणु आदिको में प्रवर्तन नहीं कर सकता। क्योंकि इन्द्रियों का विषय स्थूल है तथा मूर्तिक पदार्थ है। इस कारण से इन्द्रिय ज्ञान के द्वारा सर्वज्ञ नहीं हो सकता। इसीलिये ही अतीन्द्रिय ज्ञान की उत्पत्ति का कारण जो रागद्वेषादि विकल्प रहित स्वसंवेदन ज्ञान है उसको छोड़कर पंचेन्द्रियों के सुख के कारण इन्द्रिय ज्ञान में तथा नाना मनोरथ के विकल्पजालस्वरूप मनसम्बन्धी ज्ञान में जो प्रीति करते हैं वे सर्वज्ञ पद को नहीं पाते हैं, ऐसा सूत्र का अभिप्राय है।

समीक्षा– 39 गाथा पर्यंत विशेषतः प्रत्यक्ष ज्ञान अथवा केवलज्ञान का वर्णन किया और यह बताया गया कि केवलज्ञान ही प्रत्यक्ष ज्ञान है जिस ज्ञान में कोई भी ज्ञेय किसी भी अवस्था में किसी भी काल में अज्ञेय रूप में नहीं रह सकता अर्थात् छिपकर नहीं रह सकता परन्तु उस ज्ञान को छोड़कर अन्य परोक्ष ज्ञान के समक्ष सम्पूर्ण ज्ञेय समग्रता से स्वयं को समर्पित नहीं करता हैं। विश्व में ज्ञेय रहते हुए भी और ज्ञेय में, ज्ञान में प्रतिबिम्बित शक्ति/प्रमेयत्व गुण होते हुए भी वे ज्ञेय ज्ञान में क्यों प्रतिबिम्बित नहीं होते हैं ? ऐसा प्रश्न होना स्वाभाविक है। इसका उत्तर कुंदकुंद के वचन में निम्न प्रकार है-

सो सव्वणाणदरसी कम्मरयेण णियेणवच्छण्णो।
संसार समावण्णो णवि जाणदि सव्वदो सव्वं। (168)

आत्मा स्वभाव से ही वस्तु मात्र को जानने-देखने वाला है, फिर भी वह अपने कर्म रूपी रज से आच्छादित है। अतः संसार को प्राप्त होता हुआ सर्व प्रकार से सम्पूर्ण वस्तुओं को जान नहीं रहा है।

जैसे उदित सूर्य भी घन बादल के कारण छिप जाता है तथा उसकी रश्मि पृथ्वी पर नहीं पहुँचती है जिससे पृथ्वी पर अंधकार छा जाता है और जितने-जितने अंश में बादल हटता जायेगा, छटता जायेगा उतने-उतने अंश में सूर्य रश्मि प्रकट होती जायेगी और अंधकार घटता जायेगा, छटता जायेगा। मिथ्यात्व सहित कुमति ज्ञान, कुश्रुतज्ञान और कुअवधि ज्ञान रहेंगे। और सम्यक्त्व होते ही वह ज्ञान सुज्ञान में परिणमन हो जायेगा। ज्ञान गुण की अपेक्षा ज्ञान सामान्य होते हुए भी दर्शन मोहनीय और ज्ञानावरणीय के कारण उसके विभिन्न भेद-प्रभेद हो जाते हैं। ज्ञान सामान्य को आवृत करने वाला ज्ञानावरणीय एक होते हुए भी ज्ञानावरणीय कर्म के 5 भेद हो जाते

हैं जिसके कारण ज्ञान भी पर्याय दृष्टि से 5 प्रकार के हैं और जिस-जिस आवरणीय कर्म का क्षयोपशम होता जाता है उतना-उतना ज्ञान बढ़ता जाता है और पूर्ण क्षय से पूर्ण केवलज्ञान प्रगट हो जाता है। इस आवृत्त/आवरण के कारण ही क्षायोपशमिक ज्ञान (परोक्ष) इन्द्रिय ज्ञान सम्पूर्ण पर्यायों को नहीं जानता है। कौन सा ज्ञान कौन से ज्ञेय को जानता है इसका निर्णय स्व-स्व क्षयोपशम या क्षय करता है। कहा भी है यथा-

स्ववरणक्षयोपशमलक्षणयोग्यतया हि प्रतिनियतमर्थ व्यास्थापयति(9) (प्र.र.)

अपने आवरण कर्म के क्षयोपशम लक्षण वाली योग्यता से प्रत्यक्ष प्रमाण प्रतिनियत पदाथों को जानने की व्यवस्था करता है।

जिस प्रकार मतिज्ञान क्रमपूर्वक निश्चित विषय एवं निश्चित पर्यायों को जानता है उस प्रकार श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान एवं मनःपर्यय ज्ञान अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार कुछ निश्चित पर्यायों को ही जानते हैं। इसलिए ये चारों ज्ञान-आध्यात्मिक दृष्टि से परोक्ष ज्ञान ही हैं । परन्तु आगम में मतिज्ञान, श्रुतज्ञान को परोक्ष बताया गया एवं अवधिज्ञान, मनः पर्यय ज्ञान को देश प्रत्यक्ष बताया गयाा है। जैन न्याय ग्रन्थ में चक्षु आदि से देखने को प्रत्यक्ष कहा गया ह्रै। वस्तुतः यह लोक व्यवहार चलाने के लिए बताया गया है। क्योंकि उपरोक्त चारों ज्ञान ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम के कारण प्रगट होते हैं और किसी न किसी रूप में बह्य, क्षेत्र, काल,भाव की सीमा को लिये हुए जानते हैं। परन्तु इस गाथा में कुन्दकुन्द देव ने मुख्यतः इन्द्रिय परोक्ष ज्ञान को स्वीकार किया है। उपरोक्त विषय को जानकर मुमुक्षु को उस केवलज्ञान को प्रज्ञपत करने के लिए बद्ध परिकर होना चाहिए और अन्य ज्ञान को प्राप्त कर उस ज्ञान को सब कुछ मानकर अहंकारी या पुरूषार्थ हीन बनकर नहीं रहना चाहिय यह इसका आध्यात्मिक पक्ष है।

अतीन्द्रिय ज्ञान का विषय

अपदेसं सपदेसं मुत्तममुत्तं च पज्जयमजादं।
पलयं गयं च जाणदि तं णाणमंदिंदियं भणीयं।। (41)

That is called supersensuous knowledge witch knoww any substance,with or wihtout space-points,with or wihtout form and those

modification which have not come into existence and those which are destroyed.

आगे कहते हैं कि अतीन्द्रिय रूप केवलज्ञान ही भूत-भविष्य को व सूक्ष्म आदि पदार्थों को जानता है। जो ज्ञान (अपदेस) बहु प्रदेश-रहित कालाणु व परमाणु आदि को (सपदेसं) बहु-प्रदेशी शुद्ध जीव को आदि से पाँच अस्तिकायों के स्वरूप को (मुत्त) मूर्तिक पुद्गल द्रव्य को (च अमुत्तं) और अमूर्तिक शुद्ध जीव आदि पाँच द्रव्यों को (अजाद) अभी नहीं उत्पन्न हुई होने वाली (च पलयं गयं) और छूट जाने वाली भूतकाल की (पज्जयं) द्रव्यों की पर्यायों को इस सब ज्ञेय को (अदिंदियं) (भणियं) कहा गया है।

इस ही से सर्वज्ञ होता है। इस कारण से पूर्व गाथा में हुए इन्द्रियज्ञान तथा मानस ज्ञान को छोड़कर जो कोई विकल्प रहित समाधिमयी स्वसंवेदन ज्ञान में सब विभाव परिणामों को त्याग करके प्रीति व लयता करते हैं वे ही परम आनन्द है एक लक्षण जिसका ऐसे सुख स्वभावमयी सर्वज्ञपद को प्राप्त करते हैं, यह अभिप्राय है।

इस प्रकार अतीत व अनागत पर्यायें वर्तमान ज्ञान में प्रत्यक्ष नहीं होती है। ऐसे बौद्धों के मत को निराकरण करते हुए तीन गाथाएं कहीं, उसके पीछे इन्द्रियज्ञान से सर्वज्ञ नहीं होता है किन्तु अतीन्द्रिय ज्ञान से होता है ऐसा कहकर नैयायिक मत के अनुसार चलने वाले शिष्य को समझाने के लिये गाथा दो कही। ऐसे समुदाय के पांचवें स्थल में पांच गाथाएं पूर्ण हुई।

इन्द्रियज्ञान, उपदेश-अन्तःकरण और इन्द्रिय आदि को विरूप कारणपने से (बहिरंगपने) और उपलब्धि (क्षयोपशम) संस्कार आदि को अन्तरंग स्वरूप कारणपने से ग्रहण करके प्रवर्तता है। (इस प्रकार) प्रवर्तता हुआ (वह ज्ञान)(1) सप्रदेशी को ही जानता है क्योंकि वह स्थूल को जानने वाला है, अप्रदेशी को नहीं जानता, क्योंकि वह सूक्ष्म को जानने वाला नहीं है। (2) मूर्तिक को ही जानता है क्योंकि वैसे उसका (मूर्तिक) विषय के साथ सम्बन्ध का सद्भाव है, (3) वर्तमान को ही जानता है, क्योंकि वहां ही विषय-विषयों के सन्निपात का सद्भाव है। भूत में प्रवर्तित हो चुकने वाले को और भविष्य में प्रवृत्त होने वाले को नहीं जानता, (क्योंकि भूत भविष्य के साथ विषय-विषयों के सन्निकर्ष का अभाव है)।

जो अनावरण अतीन्द्रियज्ञान है उसके, जैसे प्रज्जवलित अग्नि के अनेक प्रकारता को धारण करने वाला दाह्य (ईन्धनं) दाह्यता का उल्लंघन न करने के कारण दाह्य ही है, वैसे (ही) अप्रदेशी, सप्रदेशी, मूर्तिक, अमूर्तिक तथा अनुत्पन्न एवं व्यतीत पर्याय समूह, अपनी ज्ञेयता का उल्लंघन न करने से ज्ञेय ही हैं।

समीक्षा- कुन्दकुन्द देव ने 40 नम्बर गाथा में परोक्षज्ञान स्वरूप जो इन्द्रिय ज्ञान का वर्णन किया है उससे विपरीत 41 नम्बर गाथा में ज्ञान स्वरूप अतीन्द्रिय ज्ञान का वर्णन किया है। इन्द्रिय ज्ञान, सम्पूर्ण पदार्थों को और उनकी सम्पूर्ण पर्यायों को नहीं जानता है तो उससे विपरित यह केवलज्ञान का धारी होते हुए भी केवलज्ञान को बिना प्राप्त किये दीनहीन होकर संसार में परिभ्रमण कर रहा है। ऐसे जीवों के लिए बार-बार प्रबोधन दे रहे हैं कि हे जीव! तुम स्वयं सर्वज्ञ, सर्वदर्शी अखण्ड अक्षय, अनंत ज्ञानानंद जगत् के स्वामी होकर भी दीन हीन होकर सुख एवं ज्ञान के लिए क्यों संसार में यत्र-तत्र भ्रमण कर रहे हो। स्वयं को देखो, स्वयं को पहिचानो जिससे तुम स्वयं के वैभव को प्राप्त कर सकते हो। कहा भी है-

तद्बुयात्तत्परान्पृच्छेत्तदिच्छेत्तत्परो भवेत्।
येनविद्यामयं रूपं त्यक्त्व विद्यामयं व्रजेत्।। (53) सं.तं.

आत्म श्रद्धालु को (तत्) वह आध्यात्मिक चर्चा (ब्रूयात) करनी चाहिए (तत्) वह आत्मा-सम्बन्धी ही बातें (परान्) अन्य ज्ञानियों से (पृच्छेत्) पूछनी चाहिये (इच्छेत्) उसी आध्यात्मिक विषय की चाह रखनी चाहिए (तत्परोःभवेत्) उसी आध्यात्मिक विषय में सदा-तत्पर-तैयार या उत्सुक रहना चाहिए, (येन) जिसमें (अविद्यामयं रूपं) अपना आत्मा का अज्ञान भाव (त्यक्त्वा) छोड़कर (विद्यामयं) ज्ञानभाव(व्रजेत्) प्राप्त हो।

क्षायिक ज्ञान ही केवलज्ञान

जं तक्कालियमिदरं जाणदि जुगवं समंतदो सव्वं।
अत्थं विचित्तविसमं तं णाणं खाइगं भणियं।। (47)

That knowledge is called Khayika (i.e. produced aftet the desctruction of Karmas) which knows completelyu and simulatneously the whole range of veriegated and unequal objectivity of the present and otherwise.

आगे कहते हैं कि केवलज्ञान ही सर्वज्ञ का स्वरूप है। आगे कहेंगे कि सर्वज्ञ को जानते हुए एक का ज्ञान होता है तथा एक को जानते हुए सर्व का ज्ञान होता है इस तरह पांच गाथाओं तक व्याख्यान करते हैं। उनमें से प्रथम ही निरूपण करते हैं क्योंकि यहां ज्ञान प्रपंच के व्याख्यान की मुख्यता है, इसलिये उसी ही को आगे लेकर फिर कहते हैं कि केवलज्ञान सर्वज्ञ रूप है।

(जं) जो ज्ञान (समंतदो) सर्व प्रकार से आत्मा के प्रदेशों से (विचित्तं विसमं) नाना भेदरूप जाति के मूर्त-अमूर्त, चेतन-अचेतन, आदि (सव्व अत्थं) सर्व पदार्थों को (तक्कालिगं) वर्तमान काल सम्बन्धी तथा (इतरं) भूत, भविष्यत् काल सम्बन्धी पर्यायों सहित (जुगवं) एक समय में व एक साथ (जाणदि) जानता है। (तं णाणं) उस ज्ञान को (खाइयं) क्षायिक (भणियं) कहा है। अभेद नय से वही सर्वज्ञ का स्वरूप है इसलिये वही ग्रहण करने योग्य अनन्त सुख आदि अनन्त गुणों का आधारभूत सब तरह से प्राप्त करने योग्य है, इस रूप में भावना करनी चाहिए। यह तात्पर्य हैं।

(1) वर्तमान काल में वर्तते, (भूत-भविष्यत् काल से वर्तते, (जिनमें पृथक रूप से वर्तते स्वलक्षण रूप लक्ष्मी से आलोकित अनेक प्रकारों के कारण वैचित्र्य प्रकट हआ है, (4) और जिनमें परस्पर विरोध से उत्पन्न होने वाली असमान जातीयता के कारण वैषम्य प्रगट हुआ है, ऐसे (चार विशेषणवाले) समस्त पदार्थ समूह को, एक समय में ही (युगपत्), सर्वतः (सर्व आत्म प्रदेशों से) क्षायिक ज्ञान वास्तव में जानता है। इसी बात को युक्तिपूर्वक स्पष्ट समझाते हैं :- (1) उस (केवलज्ञान) के वास्तव में क्रम-प्रवृत्ति के हेतुभूत क्षयोपशम अवस्था में रहने वाले ज्ञानावरणीय कर्म पुद्गलों का अत्यन्त अभाव होने से (वह क्षायिक ज्ञान) तात्कालिक या अतात्कालिक पदार्थ समूह को समयकाल में (युगपत्) ही प्रकाशित करता है। (2) सर्वतः (सर्व प्रदेशों से) विशुद्ध (उस क्षायिक ज्ञान) के प्रतिनियत प्रदेशों की विशुद्धि (सर्वतः विशुद्धि) के भीतर डूब जाने से, (वह क्षायिक ज्ञान) सर्वतः (सर्व आत्म-प्रदेशों से) ही प्रकाशित करता है(4) सर्व प्रकार ज्ञानावरणीय के क्षय से, असर्व प्रकार के ज्ञानावरणीय के क्षयोपशम का नाश होने से (वह क्षायिक ज्ञान) विचित्र को (अनेक प्रकार के पदार्थों को) भी प्रकाशित करता है। (5) असमान

जातीय ज्ञानावरण के क्षय से समान जातीय ज्ञानावरण के क्षयोपशम के नष्ट हो जाने से, (वह क्षायिक ज्ञान) विषम को भी(असमान जाति के पदार्थों को भी) प्रकाशित करता है।

सार-अथवा अतिविस्तार से सब हो जिनका अनिवारित (रूकावट रहित फैलाव है) ऐसे प्रकाश स्वभावी होने से, क्षायिक ज्ञान अवश्य ही सर्वदा (सब कालीन त्रिकालीन) सर्वत्र(सब क्षेत्र के लोक अलोक के) सब पदार्थ को सर्वथा (सम्पूर्ण रूप से) जाने अर्थात् जानता है।

समीक्षा-इस गाथा में कुंदकुंद देव ने यह सिद्ध किया है कि जो ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय से उत्पन्न होता है वही केवलज्ञान है और जो ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होता है वह केवलज्ञान नहीं हो सकता है। क्योंकि क्षयोपशम में अभी भी कुछ ज्ञान को रोकने वाले कर्म की सत्ता एवं उदय विद्यमान है परन्तु क्षायिक ज्ञान को रोकने वाले कर्म का सर्वथा अभाव है। वीरसेन स्वामी ने धवला में कहा भी है-

संपुण्णं तु समग्गं केवलमवसत्त-भाव विदं।
लोगालोग-वितिमिरं केवलणाणं मुणेयव्वं।। (186)

जो जीवद्रव्य के शक्तिगत सर्वज्ञान के अविभाग-प्रतिच्छेदों के व्यक्त हो जाने के कारण संपूर्ण है, ज्ञानावरण और वीर्यान्तराय कर्म के सर्वथा नाश हो जाने के कारण जो अप्रतिहत शक्ति है इसलिये समग्र है, जो इन्द्रिय और मन की सहायता से रहित होने के कारण केवल है, जो प्रतिपक्षी चार घातिया कर्मों के नाश हो जाने से अनुक्रम रहित संपूर्ण पदार्थों में प्रवृत्ति करता है इसलिये असपत्न है और जो लोक अलोक में अज्ञान रूपी अधंकार से रहित होकर प्रकाशमान हो रहा है उसे केवलज्ञान जानना चाहिए।

राजवार्त्तिक में अकलंक देव स्वामी ने केवलज्ञान के बारे में कहा है-

सर्वग्रहणं निरवशेषप्रतिपत्त्यर्थं। (9)

निरवशेष का ज्ञान कराने के लिये सर्वशब्द को ग्रहण किया है। लोक-अलोक मे त्रिकालविषयक जितने भी अनंतानंत द्रव्य और पर्यायें हैं उन सब में केवलज्ञान के विषय का निबन्ध है अर्थात् उन सबको केवलज्ञान जानता है। जितनें भी अनंतानंत

लोक-अलोक द्रव्य है इससे भी अनंतगुणे लोक और अलोक और भी होते तो भी केवलज्ञान जान सकता है। क्योंकि केवलज्ञान का माहात्म्य अपरिमित है, ऐसा जानना चाहिए।

जो सब को नहीं जानता है वह एक को भी नहीं जानता

जो णं विजाणदि जुगवं अत्थे तिक्कालिगे तिहुवणत्थे।
णादुं तस्स ण सक्कं सपज्जयं दव्वमेगं वा।। (48)

He, who does not know simulataneously the objects of the three tenses and in the three worlds, cannot know even a single substance with its(infinie) Modifications.

आगे आचार्य विचारते हैं कि जो ज्ञान सबको नहीं जानता वह ज्ञान एक पदार्थ को भी नहीं जान सकता है। (जो) जो कोई आत्मा(जुगवं) एक समय में (तिक्कलिगे) तीन काल की पर्यायों में परिणमन करने वाले (तिहुवणत्थे) तीन लोक में रहने वाले (अत्थे) पदार्थों को (ण विजाणदि) नहीं जानता है(तस्स) उस आत्मा का ज्ञान (सपज्जयं) अनन्त पर्याय सहित (एकं दव्वं) एक द्रव्य को (वां) भी (णादु) जानने के लिए (ण सक्कं) नहीं समर्थ होता है।

भाव यह है कि आकाश द्रव्य एक है, धर्म द्रव्य एक है, तथा अधर्म द्रव्य एक है और लोकाकाश के प्रदशों के प्रमाण असंख्यात काल द्रव्य है, उससे अनन्तगुणे जीवद्रव्य हैं, उससे भी अनन्तगुणे पुद्गल द्रव्य है, क्योंकि एक-एक जीवद्रव्य में अनन्त कर्म वर्गणाओं का सम्बन्ध है वैसे ही अनन्त नोकर्मवर्गणाओं का सम्बन्ध है। तैसे ही इन सब द्रव्यों में प्रत्येक द्रव्य की अनन्त पर्यायें होती हैं क्योंकि काल के समय पुद्गल द्रव्य से भी अनन्तानन्त गुणे हैं। यह सब ज्ञेय-जानने योग्य हैं और इनमें एक कोई भी विशेष जीवद्रव्य ज्ञाता जानने वाला है। ऐसा ही वस्तु का स्वभाव है। यहाँ जैसे अग्नि सब जलाने योग्य ईंधन को जलाती हुई सब जलाने योग्य कारण के होते हुए सब ईंधन पर्याय में परिणमन करते हुए सर्वमयी एक अग्निस्वरूप हो जाती है अर्थात् वह अग्नि उष्णता में परिणत तृण व पत्तों आदि के आकार अपने स्वभाव को परिणमाती है तैसे यह आत्मा सर्व ज्ञेयों को जानता हुआ सर्व ज्ञेयों रूप कारण के होते हुए सर्व ज्ञेयाकार की पर्याय में परिणमन करते हुए सर्वमयी एक अखंडज्ञान रूप अपने ही

आत्मा को परिणमाता है, अर्थात् सबको जानता है और जैसे वही अग्नि पूर्व में कहे हुए इँधन को नहीं जलाती हुई उस ईंधन के आकार रूप नहीं परिणमन होती है तैसे ही आत्मा भी पूर्व में कहे हुए सर्वज्ञेयों को न जानता हुआ पूर्व में कहे हुए लक्षण रूप सर्व को जानकर एक अखंड ज्ञानाकार रूप अपने ही आत्मा को नहीं परिणमाता है। अर्थात् सर्व का ज्ञाता नहीं होता। दूसरा भी एक उदाहरण देते है। जैसे कोई अन्ध पुरुष सूर्य से प्रकाशने योग्य पदार्थो को नहीं देखता, दीपक से प्रकाशने योग्य पदार्थों को न देखता हुआ दीपक को भी नहीं देखता, दर्पण में झलकती हुई परछाई को न देखता हुए दर्पण को भी नहीं देखता, अपनी ही दृष्टि से प्रकाशने योग्य पदार्थों को न देखता हुआ हाथ, पैर आदि अंग रूप अपने ही देह के आकार को अर्थात् अपने को अपनी दृष्टि से नहीं देखता है। तैसे इस प्रकरण में प्राप्त कोई आत्मा भी केवलज्ञान से प्रकाशने योग्य पदार्थो को नहीं जानता हुआ सकल अखंड एक केवल ज्ञान रूप अपने आत्मा को नहीं जानता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जो सबको नहीं जानता है वह अपने आत्मा को भी नहीं जानता है।

समीक्षा- सामान्यतः वस्तु स्वरूप को जानने की प्रणाली एवं प्रतिपादन की प्रणाली विधिपरक (अस्तिपरक) एवं निषेधपरक (नास्तिकारक) होती है। क्योंकि द्रव्य स्वचतुष्टय (स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव) से अस्तिरूप एवं परचतुष्टय (परद्रव्य क्षेत्र-काल-भाव) से नास्तिरूप है। जिस प्रकार विज्ञान की प्रयोगशाला में कुछ मिले हुए तत्त्व को पृथक-पृथक करने के लिए हुए संपूर्ण तत्वों का परिज्ञान चाहिए। उसके बिना तत्त्व विश्लेषण नहीं हो सकता है। इसी प्रकार आत्मस्वरूप को एवं परस्वरूप को जानने के लिये एवं पृथककरण करने के लिये भी स्वज्ञान के साथ-साथ पर का भी ज्ञान आवश्यक है। इष्टोपदेश में पूज्यवाद स्वामी ने कहा भी है-

जीवोऽन्यः पुद्गलश्चान्य इत्यसौ तत्त्वसंग्रहः।
यदन्यदुच्यते किंचित् सोऽस्तु तत्सैव विस्तरः।। (50)

जीव शरीरादिक पुद्गल से भिन्न हैं और पुद्गल जीव से भिन्न है यही तत्त्व का संग्रह है और इसके अतिरिक्त जो कुछ भी कहा जाता है वह सब इस ही का विस्तार है।

इस गाथा में आचार्य श्री ने यह सिद्ध किया है कि जो ज्ञान संपूर्ण त्रिकालवर्ती ज्ञेय को नहीं जानता है वह एक द्रव्य या स्वद्रव्य को भी नहीं जान सकता है। क्योंकि

एक द्रव्य में भी अनन्त गुण एवं पर्यायें होती हैं उन अनंत गुण एवम् पर्यायों को जानने के लिये अनंत ज्ञान चाहिए। क्योंकि 'णाणं णेय पमाणं मुद्दिट्ठं' अर्थात् ज्ञान ज्ञेय के बराबर होता है। यदि ज्ञेय अनंत हैं तो उसको जानने वाला ज्ञान भी अनंत होना चाहिए अन्यथा छोटा बड़े ज्ञेय को नहीं जान सकता है। इसलिए यहाँ पर कहा गया कि जो केवलज्ञान अनन्तगुण पर्यायात्मक त्रिकालवर्ती समस्त ज्ञेयों को जानता है वहीं ज्ञान ज्ञेय सम्बन्ध है। जिस प्रकार दस लीटर पानी को एक ही बार में मापने के लिए कम से कम 10 लीटर वाला मापक चाहिये और यदि मापक उससे छोटा है तो जल एक बार में मापा नहीं जा सकता। इसलिए सर्वज्ञ सर्व ज्ञेयों को जानते हैं और एक ज्ञेय को भी जानते हैं।

जो एक को जानता वह सब को जानता

(स्वात्मा का पूर्णज्ञाता होता है विश्वज्ञाता)

(राग....कसमे वादे....) - आचार्य कनकनन्दी

तू ही तेरा ज्ञान-ज्ञेय है, अन्य सब तेरा ज्ञेय हैं।
तू ही तेरा द्रव्य व सत्य, गुण-पर्याय व धर्म/(तीर्थ) है। स्थाई
तेरे अन्दर अनन्त गुण, पर्याय भी होती अनन्त हैं।
तू ही तुझे जानने हेतु, चाहिए ज्ञान अनन्त हैं।। (1)
अनन्त ज्ञानी बनने हेतु चाहिये घाति नाश हैं।
जिससे बनोगे सर्वज्ञ तू, स्व-पर विश्व ज्ञायक है।। (2)
अतः तू जानो स्वयं को, विश्व बनेगा ज्ञेय है।
इसलिये तूझे करना होगा, राग-द्वेष-मोह-क्षय है।। (3)
स्व-पर भेद-विज्ञान हेतु, करो है स्व-पर ज्ञान है।
चेतन-अचेत व मिश्र, हान-उपादान/ग्राह्य-अग्राह्य) उपेक्षा है।। (4)
द्रव्य-तत्त्व व पदार्थों को, जानना होगा सम्यक् है।
सम्यक्-श्रद्धान सहित भी, आचरणीय सम्यक् है।। (5)
इसलिये श्रुतज्ञान का तुझे, करना होगा स्वाध्याय है।
ख्याति पूजा लाभ रहित, करना होगा स्व-अध्ययन हैं।। (6)

भोग-कांक्षा-निदान-रहित, विनय-विशुद्ध-संयुक्त है।
इसी हेतु ही 'कनकनन्दी' भी, स्वाध्याय में दत्तचित्त है।। (7)

जो एक को नहीं जानता है सबको नहीं जानता

दव्वं अणंतपज्जयमेगमणंताणि दव्वजादाणि।
ण विजाणदि जदि जुगवं किधं सो सव्वाणि जाणादि।। (49)

A single substance has infinite models and infinite are the classes of substances, if he does not know (them) simultaneously, how will the be able to know all of them ?

आगे निश्चय करते हैं कि जो एक को नहीं जानता वह सबको भी नहीं जानता है।

(जदि) यदि कोई आत्मा (एगं अंणतपज्जयं दव्वं) एक अनन्त पर्यायों के रखने वाले द्रव्य को (ण विजाणदि) निश्चय से नहीं जानता है(सो) वह आत्मा (कधं) किस तरह (सव्वाणि अणंताणि दव्वजादाणि) सर्व अनन्तद्रव्य समूहों को (जुगवं) एक समय में (जाणादि) जान सकता है ? अर्थात् किसी तरह भी नहीं जान सकता। विशेष यह है कि आत्मा का लक्षण ज्ञान स्वरूप है। सो अखंड रूप से प्रकाश करने वाला जीवों मे साधारण महासामन्यरूप है। वह महासामान्य ज्ञान अपने ज्ञानमयी अनन्त विशेषों में व्यापक है, वे ज्ञान के विशेष अपने विषय रूप ज्ञेय पदार्थ जो अनन्त द्रव्य और पर्याय हैं उनको जानने वाले, ग्रहण करने वाले है जो कोई अपने आत्मा को अखंड रूप से प्रकाश करते हुए महासामान्य स्वभाव रूप प्रत्यक्ष नहीं जानता है वह पुरुष प्रकाश मान महासामान्य के द्वारा जो अनन्तज्ञान के विशेष व्याप्त है उनके विषय रूप जो अनन्त द्रव्य और पर्याय हैं उनको कैसे जान सकता है ? अर्थात् किसी भी तरह नहीं जान सकता। इससे यह सिद्ध हुआ कि जो अपने आत्मा को नहीं जानता है वह सर्व को नहीं जानता है। ऐसा कहा भी है-

एको भावःसर्व-भाव-स्वभावः सर्वे भावा एक-भाव-स्वभावाः।
एको भावस्तत्वतो येन बुद्धः सर्वे भावास्तत्त्वस्तेन बुद्धः।।

भाव यह है कि एक-भाव सर्व भावों का स्वभाव है और सर्व-भाव एक-भाव का स्वभाव हैं। जिसने निश्चय से यथार्थ रूप से एक भाव को जाना उसने यथार्थ रूप से सर्वभावों को जाना है। यहाँ ज्ञाता और ज्ञेय सम्बन्ध लेना चाहिए,

जिसने ज्ञाता को जाना उसने सब ज्ञेयों को जाना ही है।

यहा पर शिष्य ने प्रश्न किया कि आपने यहाँ यह व्याख्या की कि आत्मा को जानते हुए सर्व का ज्ञानपना होता है और इसके पहले सूत्र में कहा था कि सब ज्ञान से आत्मा का ज्ञान होता है। यदि ऐसा है तो छद्मस्थों को सर्व का ज्ञान नहीं है, तब उनको आत्मा का ज्ञान कैसे होगा ? यदि उनको आत्मा का ज्ञान न होगा तो उनके आत्मा की भावना कैसे होगी ? यदि आत्मा की भावना न होगी तो उनको केवल ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होगी ? इस शंका का समाधान करते हैं कि परोक्ष प्रमाण रूप श्रुतज्ञान से सर्व पदार्थ जाने जाते हैं। यह कैसे ? सो कहते हैं कि छद्मस्थों को भी लोक और अलोक का ज्ञान व्याप्ति ज्ञानरूप से है। यह व्याप्ति ज्ञान परोक्ष रूप से केवलज्ञान के विषय को ग्रहण करने वाला है इसलिए किसी अपेक्षा से आत्मा ही कहा जाता है। अथवा स्वसंवेदनज्ञान से आत्मा को जानते हैं, और फिर उसकी भावना करते हैं। इसी रागद्वेषादि विकल्पों से रहित स्वसंवेदन ज्ञान की भावना के द्वारा केवलज्ञान पैदा हो जाता है। इसमें कोई दोष नहीं है।

समीक्षा-आचार्य श्री ने 48 नम्बर गाथा में यह सिद्ध किया था कि जो सबको नहीं जानता वह एक को भी नहीं जानता परन्तु इस गाथा में यह सिद्ध किया है कि जो एक को नहीं जानता है वह सबको भी नहीं जानता है। इसका भी कारण वहीं हैं जो पूर्वोक्त 48 नंबर गाथा में कहा गया है। परमात्म प्रकाश में योगेन्द्र देव ने कहा है कि हे! योगी तुम स्वात्मा को जानो जिससे तुम संपुर्ण विश्व को जान सकते हो क्योंकि अनन्त ज्ञान अनुभाग प्रतिच्छेद से युक्त स्वात्मा में संपूर्ण विश्व हस्तामलकवत प्रतिभासित होता है। यथा-

जोइय अप्पें जाणिएण जगु जाणियउ हवेइ।
अप्पहँ केरइ भावडइ बिंबिउ जेण वसेइ।। 99 (परमात्मा प्र.)

हे योगी! एक अपने आत्मा के जानने से यह तीन लोक जाना है क्योंकि आत्मा के भावरूप केवल ज्ञान में यह लोक प्रतिबिंबित हुआ, बस रहा है।

वसति भुवि समस्तं सापि संधारितान्यैः
उदरमुपनिविष्टा सा च ते वा परस्य।
तदपि किल परेषां ज्ञानकोणे विलीनं

वहति कथमिहान्यो गर्वमात्माधिकेषु।। 219 आत्मानुशासन,

जिस पृथिवी के ऊपर ही पदार्थ रहते हैं वह पृथ्वी भी दूसरों के द्वारा घनोदधि, घन और तनु वातवलयों के द्वारा-धारण की गई है। वह पृथिवी और वे तीनो ही वातवलय भी आकाश के मध्य में प्रविष्ट हैं, और वह आकाश भी केवलियों के ज्ञान के एक कोने में विलीन हैं। ऐसी अवस्था में यहाँ दूसरा अपने से अधिक गुणवालों के विषय में कैसे गर्व धारण करता है ?

क्रम प्रवृत्त ज्ञान केवलज्ञान नहीं

उप्पज्जदि जदि णाणं कमसो अट्ठे पडुच्च णाणिस्स।
तं णेव हवदि णिच्चं ण खाइगं णेव सव्वगदं।।(50)

If the knower, after coming into contect with the objectivity produces knowledge step by step; That knowlege cannot be eternal, neither can it be KSAYIKA, nor all pervasive.

आगे कहते हैं जो ज्ञान क्रम से पदार्थों के जानने में प्रवृत्ति करता है उस ज्ञान से कोई सर्वज्ञ नहीं हो सकता है अर्थात् क्रम से जानने वाले को सर्वज्ञ नही कह सकते।

(जदि) यदि (णाणिस्स) ज्ञानी आत्मा का (णाणं) ज्ञान (अट्ठे) जानने योग्य पदार्थों को (पडुच्च) आश्रय करके (कमसो) क्रम से (उप्पज्जदि) पैदा होता है। तो (तं) वह ज्ञान (णिच्चं) अविनाशी(णेव) नहीं (हवदि) होता है अर्थात् जिस पदार्थ के निमित्त से ज्ञान उत्पन्न हुआ है उस पदार्थ के नाश होने पर उस पदार्थ का ज्ञान भी नाश होता है इसलिए वह ज्ञान सदा नही रहता है, इससे नित्य नहीं है। (णं खाइयं) न क्षायिक है क्योंकि वह परोक्ष ज्ञान ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम के अधीन है। (णेव सव्वगयं) और न वह सर्वगत है, क्योंकि जब वह पराधीन होने से नित्य नहीं है, क्षयोपशम के अधीन होने से क्षायिक नहीं है, इसीलिए ही वह एक ज्ञान एक समय में सर्व द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावों को जानने के लिये असमर्थ है इसलिये सर्वगत नहीं है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जो ज्ञान क्रम से पदार्थों का आश्रय लेकर पैदा होता है उस ज्ञान को रखने से सर्वज्ञ नहीं हो सकता।

समीक्षा-जो ज्ञान कर्माधीन अर्थात् कर्मों के क्षयोपशम से जायमान है वह ज्ञान

पूर्ण स्वतंत्र क्षायिक एवं अनंत नहीं होने के कारण कुछ द्रव्यों को, कुछ क्षेत्र को, कुछ निश्चित पर्यायों को ही जानता है। और इससे विपरीत जो ज्ञान पूर्ण, निरावरण क्षायिक है वह पूर्ण स्वतंत्र, अव्याबाध, अनंत एवं अक्रम प्रभृति वाला होता है। जो केवलज्ञान को भी क्रमप्रभातृ मानते है उसका खण्डन कलिकाल सर्वज्ञ वीरसेन स्वामी ने जयधवला में सविस्तार निम्न प्रकार से किया है-

तीर्थङ्कर की आसादना से डरने वाले कुछ आचार्य 'जं' समयं जाणति नो तं समयं पासति जं समय पासति नो तं समयं जाणति इस प्रकार के सूत्र का अवलम्बन लेकर कहते हैं कि जिन भगवान् जिस समय जानते हैं उस समय देखते नहीं।

समाधान-अब उक्त शंका का समाधान करते हैं-केवलज्ञानावरण और केवलदर्शनावरण का क्षय एक साथ होता है या क्रम से होता है ? इन दोनों कर्मों का क्षय क्रम से होता है ऐसा तो कुछ नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि ऐसा कहने पर उक्त कथन का 'क्षीणकषाय गुणस्थान के अंतिम समय में ज्ञानावरण दर्शनावरण और अन्तराय ये तीनों घातियां कर्म एक साथ नाश को प्राप्त हुए। इस सूत्र के साथ विरोध आता है। इस प्रकार दोनों आवरणों का एक साथ नाश होने पर केवलज्ञान के साथ केवलदर्शन भी उत्पन्न होना चाहिए, क्योंकि केवलज्ञान और केवलदर्शन की उत्पत्ति के सभी अविकल कारणों के एक साथ मिल जाने पर उनकी क्रम से उत्पत्ति मानने में विरोध आता है। यहां उपर्युक्त गाथा से यह सिद्ध होता है कि केवल ज्ञानावरण के क्षय हो जाने पर जिस प्रकार केवलज्ञान उत्पन्न होता है। उसी प्रकार केवल दर्शनावरण कर्म के क्षय हो जाने पर केवलदर्शन की उत्पत्ति भी बन जाती है।

चूंकि केवलज्ञान और केवलदर्शन एक साथ उत्पन्न होते हैं, इसलिए उनकी प्रवृत्ति क्रम से नहीं बन सकती है।

शंका-केवलज्ञान और केवलदर्शन की उत्पत्ति एक साथ रही आओ, क्योंकि उनके आवरणों का विनाश एक साथ होता है। किन्तु केवलज्ञानोपयोग और केवलदर्शनोपयोग क्रम से ही होते हैं, क्योंकि केवलदर्शन सामान्य को विषय करने वाला होने से अव्यक्त रूप है और केवलज्ञान विशेष को विषय करने वाला होने से व्यक्त रूप है, इसलिये उनकी एक साथ प्रवृत्ति मानने में विरोध आता है। यहां इस विषय में उपयुक्त गाथा देते हैं-

दर्शनावरण और ज्ञानावरण का क्षय एक साथ होने पर पहले केवलदर्शन उत्पन्न होता है या केवलज्ञान ? ऐसा पूछे जाने पर यही कहना होगा कि दोनों की उत्पत्ति एक साथ होगी, पर इतना निश्चित है कि केवलज्ञानोपयोग और केवलदर्शनोपयोग ये दो उपयोग नहीं हैं। (137) स.सू.अ. 2 गा. 5

समाधान-यदि केवलज्ञान विशेष को ही विषय करता और केवलदर्शन सामान्य को ही विषय करता तो यह दोष संभव होता, पर ऐसा नहीं है, क्योंकि केवल सामान्य और विशेष रूप विषय का अभाव होने से दोनों के अभाव का प्रसंग प्राप्त होता है। इसका खुलासा इस प्रकार है-केवल सामान्य तो है नहीं, क्योंकि अपने विशेषों को छोड़कर केवल तद्भाव सामान्य और सादृश्य लक्षण सामान्य नहीं पाये जाते हैं। यदि कहा जाय कि सामान्य के बिना सर्वत्र समान प्रत्यय और एक प्रत्यय की उत्पत्ति बन नहीं सकती है, इसलिये सामान्य नाम का स्वतंत्र पदार्थ है, सो ऐसा कहना भी युक्त नहीं है, क्योंकि एक का ग्रहण अनेकानुविद्ध होता है और समान का ग्रहण असमानानुविद्ध होता है, अतः सामान्य-विशेषात्मक वस्तु को विषय करने वाले जात्यन्तरभूत ज्ञानों की ही उत्पत्ति देखी जाती है। इससे प्रतीत होता है कि सामान्य नाम का कोई स्वतंत्र पदार्थ नहीं है। तथा सामान्य भिन्न विशेष नाम का भी कोई पदार्थ नहीं है,क्योंकि साामान्य से अनुविद्ध होकर ही विशेष की उपलब्धि होती है।

यदि कहा जाय कि सामान्य और विशेष स्वतंत्र पदार्थ होते हुए भी उनके संयोग का परिज्ञान एक ज्ञान के द्वारा पाया जाता है, सो भी कहना ठीक नहीं है, क्योंकि सर्वथा स्वतंत्ररूप से न तो सामान्य ही पाया जाता है और विशेष ही पाया जाता हैं, अतः उनका संयोग नहीं हो सकता है। यदि सामान्य और विशेष का सर्वथा स्वतंत्र सद्भाव मान लिया जाय तो समस्त ज्ञान या तो संकररूप हो जायेंगे या आलम्बन रहित हो जायेंगे। पर ऐसा है नहीं, क्योंकि ऐसा होने पर उनका ग्रहण ही नहीं हो सकता है।

एसो दोसो मा होदु त्ति अंतरंगुज्जोवो केवलदंसण, बहिरंगत्थ विसओ पयासो केवलणाणमिदि इच्छियत्वं। ण च दोण्हमुवजोगाणमक्कमेण वुत्ती विरूद्धा, कम्म कयस्स तदभावेण अभावमुवगयस्सतत्थ सत्तविरोहादो।

वे पूर्वोक्त दोष प्राप्त नहीं हो, इसलिये अन्तरंग उद्योत केवलदर्शन है और

बहिरंग पदार्थों को विषय करने वाला प्रकाश केवलज्ञान है, ऐसा स्वीकार कर लेना चाहिए। दोनों उपयोगों की एक साथ प्रवृत्ति मानने मे विरोध भी नहीं अता है, क्योंकि उपयोगों की क्रमवृत्ति कर्म का कार्य है और कर्म का अभाव हो जाने से उपयोगों को क्रमवृत्ति का भी अभाव हो जाता है, इसलिये निरावरण केवलज्ञान और केवलदर्शन की क्रमवृत्ति के मानने में विरोध आता है।

शंका–आगम में कहा है कि अवधिदर्शन परमाणु से लेकर अंतिम स्कन्धपर्यन्त मूर्तिक द्रव्यों को देखता है इसें दर्शन का विषय बाह्य पदार्थ बतलाया है, अतः अंतरंग पदार्थ को विषय करता है यह कहना ठीक नहीं है ?

समाधान–ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि 'परमाणुआदियाइ' इत्यादि गाथा में विषय के निर्देश द्वारा विषयी का निर्देश किया है, क्योंकि अंतरंग विषय का निरूपण अन्य प्रकार से किया नहीं जा सकता है, अर्थात् अवधि ज्ञान का विषय मूर्तिक पदार्थ है, अतः अवधि दर्शन के विषयभूत अंतरंग पदार्थ को बतलाने का अन्य कोई प्रकार न होने का कारण मूर्तिक पदार्थ का अवलम्बन लेकर उसका निर्देश किया।

शंका–चूंकि केवलज्ञान स्व और पर दोनों का प्रकाशक है। इसलिये केवलदर्शन नहीं है ऐसा कुछ आचार्य कहते हैं।

मनः पर्ययज्ञान पर्यन्त ज्ञान और दर्शन इन दोनों में विशेष अर्थात् भेद है। परन्तु केवल ज्ञान की अपेक्षा से तो ज्ञान और दर्शन दोनों समान हैं। **(स.सू.अ.2 सू.3)**

समाधान–परन्तु उनका कहना भी ऐसा नहीं बनता है। क्योंकि केवलज्ञान स्वयं पर्याय है, इसलिये उसकी दूसरी पर्याय नहीं हो सकती। अर्थात् यदि केवलज्ञान को स्व पर प्रकाशक माना जायेगा तो उसकी एक काल में स्वप्रकाश रूप और पर प्रकाश रूप दो पर्यायें माननी पड़ेगी। किन्तु केवलज्ञान स्वयं पर प्रकाश रूप एक पर्याय है, अतः उसकी स्व प्रकाश रूप दूसरी पर्याय नहीं हो सकती है। पर्याय की पर्यायें होती हैं, ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसा मानने पर एक तो पहली पर्याय की दूसरी पर्याय, उसको तीसरी पर्याय इस प्रकार उत्तरोत्तर पर्याय सन्तति प्राप्त होती है, इसलिये अनवस्था दोष आता है। दूसरे, पर्याय की पर्याय मानने से पर्याय द्रव्य हो जाता है,इसलिए उसमें पर्यायत्व का अभाव प्राप्त होता है। इस प्रकार पर्याय की पर्याय

मानकर भी केवलदर्शन केवलज्ञान रूप नहीं हो सकता है। तथा केवलज्ञान स्वयं न तो जानता ही है और न देखता ही है, क्योंकि वह स्वयं जानने और देखने रूप क्रिया का कर्त्ता नहीं है, इसलिए ज्ञान को अंतरंग और बहिरंग दोनों का प्रकाशक न मानकर जीव स्व और पर का प्रकाशक है ऐसा मानना चाहिए।

केवलज्ञान और केवलदर्शन यह दोनों प्रकार एक ही हैं ऐसा भी नहीं कहना चाहिए, क्योंकि बाह्य पदार्थ को विषय करने वाले साकार उपयोग और अंतरंग पदार्थ को विषय करने वाले अनाकार उपयोगों को एक मानने में विरोध आता है।

शंका–केवलज्ञान व केवलदर्शन अभिन्न है, इसलिए केवल दर्शन केवलज्ञान क्यों नहीं हो जाता है ?

यदि कहा जाय कि केवलदर्शन अव्यक्त है, इसलिए केवलज्ञान केवलदर्शन रूप नहीं हो सकता है, सो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि जो आवरण से रहित है और जो सामान्यःविशेषात्मक अंतरंग पदार्थ के अवलोकन में लगा हुआ है ऐसे केवलदर्शन को अव्यक्तरूप स्वीकार करने में विरोध आता है यदि कहा जाय कि केवलदर्शन को भी व्यक्त रूप स्वीकार करने से केवलज्ञान और केवलदर्शन इन दोनों की समानता, अर्थात् अनेकता नष्ट हो जायेगी सो भी बात नहीं है, क्योंकि परस्पर के भेद से इन दोनों में भेद हैं, इसलिए इसमें असमानता अर्थात् एकता के मानने में विरोध आता है। दूसरे यदि दर्शन का सद्भाव न माना जाय तो दर्शनावरण के लिए सात ही कर्म होंगे, क्योंकि आवरण करने योग्य दर्शन के अभाव मानने पर उसके आवरण का सद्भाव मानने में विरोध आता है।

जुगवं वट्टइ णाणं, केवलणाणिस्स दंसण च तहा।
दिणयरपयासतापं जह वट्टइ तह मुणेयव्वं।। (160)

जैसे सूर्य के प्रकाश और ताप युगपत् रहते हैं वेसे ही जानना चाहिए।

णाणं परप्पयासं दिट्ठी अप्पप्पयासया चेव।
अप्पा सपरपयासो, होदि त्ति हि मण्णसे जदि हि।। (161)

ज्ञान पर प्रकाशी है और दर्शन आत्मप्रकाशी है तथा आत्मा स्व और पर प्रकाशक होता है, यदि तुम ऐसा ही निश्चित मानते हो तो ठीक नहीं है।

णाणं परप्पयासं तइया णाणेण दंसणं भिण्णं।

ण हवदि पदव्वगयं, दंसणमिदि वण्णिदं तम्हा।। (162)

ज्ञान परप्रकाशी है तब तो ज्ञान से दर्शन भिन्न सिद्ध हुआ क्योंकि दर्शन परद्रव्यगत परद्रव्यों का प्रकाशक नहीं होता है ऐसा पूर्व में वर्णन किया है।

अप्पा परप्पयासो तइया अप्पेण दंसणं भिण्णं।

ण हवदि परदव्वगयं दंसणमिदि वण्णिदं तम्हा।। (163)

यदि आत्मा पर प्रकाशी है तब तो आत्मा से दर्शन भिन्न हो जावेगा क्योंकि दर्शन परद्रव्यगत नहीं है। ऐसा पूर्व सूत्र में वर्णन किया गया है।

णाणं परप्पयासं, ववहारणयेण दंसण तम्हा।

अप्प परप्पयासो, ववहारणयेण दंसण तम्हा। (164)

व्यवहार नय से ज्ञान पर प्रकाशी है इसलिए दर्शन भी पर प्रकाशी है, व्यवहारनय से आत्मा पर प्रकाशी है अतः दर्शन भी पर प्रकाशी है।

णाणं अप्पयासं, णिच्छयणयएण दंसणं तम्हा।

अप्पा अप्पयासो, णिच्छयणयएण दंसणं तम्हा।। (165)

निश्चय से ज्ञान आत्म प्रकाशी है, दर्शन भी उसी प्रकार आत्म प्रकाशी है। निश्चय से आत्मा प्रकाशी है, दर्शन भी वैसा ही है।

अप्पसरूवं पेच्छदि, लोयालोयं ण केवली भगवं।

जइ कोइ भणइ एवं, तस्स य किं दूसणं होइ।। (166)

केवली भगवान् आत्मा के स्वरूप को देखते हैं किन्तु लोकालोक को नहीं, ऐसा यदि कोई भी कहता है तो उसके लिए क्या दूषण है ?

मुत्तममुत्तम, दव्वं, चयणमियरं सगं च सव्वं च।

पेच्छंतस्स दु णाणं, पच्चक्खमणिंदियं होइ।।

मूर्तिक अमूर्तिक, चेतन और अचेतन द्रव्यों को अपने को तथा समस्त को देखने वाले का ज्ञान अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष होता है।

पुव्वुत्तसयलदव्वं णाणागुणपज्जएण संजुत्तं।

जो णय पेच्छइ सम्मं, परोक्खदिट्ठी हवे तस्स।। (168)

नाना गुण पर्यायों से संयुक्त पूर्वोक्त समस्त द्रव्यों को जो सम्यक् प्रकार से नहीं देखता है उसके परोक्ष दर्शन होता है।

लोयालोयं जाणइं अप्पाणं णेव केवली भगवं।

जई कोइ भणइ एवं, तस्स य किं दूसणं होइ।। (169)

केवली भगवान् लोकालोक को जानते हैं, किन्तु आत्मा को नहीं, यदि ऐसा कोई भी कहता है तो उसको क्या दूषण होता है।

णाणं जीवसरूवं तम्हा जाणेइ अप्पगं अप्पा।

अप्पाणं ण बि जाणदि, अप्पादो होदि विदिरित्तं।। (170)

ज्ञान जीव का स्वरूप है इसलिए आत्मा आत्मा को जानता है, यदि ज्ञान आत्मा को नहीं जानता है तो वह आत्मा से भिन्न हो जावेगा।

अप्पाणं विणु णाणं, विणु अप्पगोण संदेहो।

तम्हा सपरपयासं णाणं तह दंसण होदि।। (171)

तुम आत्मा को ज्ञान समझो और ज्ञान को आत्मा समझो, इसमें संदेह नहीं है। इसलिए ज्ञान और दर्शन स्वपर प्रकाशी होते हैं।

एक साथ जानने वाला ज्ञान ही केवलज्ञान

तिक्कालणिच्चविसमं सयलं सव्वत्थसंभवं चित्तं।

जुगवं जाणदि जोण्हं अहो हि णाणस्स महाप्पं। (51)

The Omniscience of the jina knows simultaneously the (whole range of) variegated and unequal objectivity possible in all place and present in three tenses indeed greal is the glory of that knowledge.!

अब यह प्रगट करते है कि जो एक समय में सर्व को जान सकता है, उसी ज्ञान से सर्वज्ञ होता है।

(जोण्ह) जिनेन्द्र का ज्ञान अर्थात् जिनशासन में जिस प्रत्यक्षज्ञान को केवलज्ञान कहते हैं वह ज्ञान (जुगवं) एक समय में (सव्वत्थसंभव) सर्व लोकालोक में स्थित तथा (चित्त) नाना जाति भेद से विचित्र (सयलं) सम्पूर्ण (तिक्कालणिच्चविसम) तीन काल सम्बन्धी पदार्थों को सदा काल विषमरूप अर्थात् जैसे उनमें भेद हैं उन भेदों के साथ अथवा (तिक्कालणिच्चविसयं) ऐसा भी पाठ है जिसका अर्थ हैं तीन काल के

सर्व द्रव्य अपेक्षा नित्य पदार्थों को (जाणदि) जानता है। (अहो हि णाणस्स माहप्पं) अहो निश्चय से ज्ञान का माहात्म आश्चर्यकारी है।

विशेष भाव यह कि एक समय में सर्व को ग्रहण करने वाले ज्ञान से ही सर्वज्ञ होता है ऐसा जानकर क्या करना चाहिये ? सो कहते हैं -ज्योतिष, मन्त्र, वाद, रस-सिद्धि आदि के जो खण्डज्ञान हैं तथा जो मूढ़ जीवों के चित्त में चमत्कार करने के कारण हैं और जो परमात्मा भावना का नाश करने वाले हैं उन सर्व ज्ञानो में आग्रह या हठ त्याग करके तीन जगत् व तीन काल की सर्व वस्तुओं को एक समय में प्रकाश करने वाले, अविनाशी तथा अखण्ड और एक रूप से उद्योत रूप तथा सर्वज्ञत्व शब्द से कहने योग्य जो केवलज्ञान है, उसको ही उत्पत्ति का कारण जो सर्व रागद्वेषादि विकल्प-जालों से रहित स्वाभाविक शुद्धात्मा का अभेदज्ञान अर्थात् स्वानुभाव रूप ज्ञान है उसमें भावना करने योग्य है, यह तात्पर्य है।

समीक्षा–इस गाथा में आचार्य श्री ने केवलज्ञान की सर्वज्ञता का विशेष रूप से वर्णन किया है। केवलज्ञान वही है जो समग्रता से त्रिकालवर्ती समस्त ज्ञेयों की समस्त पर्यायों को एक साथ स्पष्ट रूप से जानता है। आचार्य उमास्वामी ने कहा भी है।

सर्वद्रव्यपर्यायेषु केवलस्य।। (29) त.सू. (स्व.सू.)

The subject matter of perfect knowlege is all the substances (and all their) modifications.

केवलज्ञान की प्रवृत्ति सब द्रव्य और उनकी सब पर्यायों में होती है। प्रत्येक जीव में अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्यादि अनन्त गुण हैं। परन्तु जैसे घने बादल के कारण सूर्य उदित रहते हुए भी सूर्य की रश्मि छिप जाती है। उस प्रकार कर्मरूपी घने बादल के कारण ज्ञान रूपी रश्मि छिप जाती है, जिससे जीव अल्पज्ञ हो जाता है। परन्तु जैसे जितने-जितने अंश में बादल हटता है उतने-उतने अंश में ज्ञान रूपी रश्मि प्रगट होती जाती है। उसी प्रकार जितने-जितने अंश में ज्ञानावरणीय कर्म रूपी बादल हटता जात है उतने-उतने अंश में ज्ञान रूपी सूर्य रश्मि प्रगट होती जाती है। जैसे-सम्पूर्ण बादल सूर्य के सामने से हट जाता है तथा सूर्य रश्मि पूर्ण रूप से प्रगट जाती है उसी तरह जब सम्पूर्ण ज्ञानावरणीय कर्म हट जाता है तब सम्पूर्ण ज्ञान रश्मि प्रगट हो जाती है। इसे ही केवलज्ञान कहते हैं। यह केवलज्ञान त्रिकालवर्ती समस्त लोक

अलोक को प्रकाशित करता है।

तज्जयति परं ज्योतिःसमं समस्तैरनन्तपर्यायैः।

दर्पणतल इव सकला प्रतिफलति पदार्थमालिकायत्र।। 1

जिसमें सम्पूर्ण अनंत पर्यायों से सहित पदार्थों की माला अर्थात् समूह दर्पण के तल भाग के समान झलकती है, वह उत्कृष्ट ज्योति अर्थात् केवलज्ञान रूपी प्रकाश जयवंत हो।

संपुण्णं तु समग्गं केवलमसवत्त् सव्वभावगयं।

लोयालोयवितिमिरं, केवलणाणं मुणदेव्वं।। (460) गो. जी.

यह केवलज्ञान, सम्पूर्ण, केवल, प्रतिपक्ष रहित, सर्व पदार्थगत और लोकालोक में अन्धकार रहित होता है।

यह ज्ञान समस्त पदार्थों को विषय करने वाला है और लोकालोक के विषय में आवरण रहित है। तथा जीव द्रव्य के जितने अशं हैं वे यहां पर सम्पूर्ण व्यक्त हो गये हैं, इसलिये उसको (केवलज्ञान) सम्पूर्ण कहते हैं। मोहनीय और वीर्यान्तराय का सर्वथा क्षय हो जाने के कारण वह अप्रतिहत शक्ति युक्त है, और निश्चल है अतएव उसको समग्र कहते हैं। इन्द्रियों की सहायता की अपेक्षा नहीं रखता इसलिए केवल कहते हैं। चारों घातिया कर्मों के सर्वथा क्षय से उत्पन्न होने के कारण वह क्रम करण और व्यवधान से रहित है, फलतः युगपत् और समस्त पदार्थों के ग्रहण करने में उसका कोई बाधक नहीं है, इसलिए उसको असपत्न (प्रतिपक्ष रहित) कहते हैं।

नियमसार में आचार्य कुन्दकुन्द देव ने केवलज्ञान के स्वरूप का वर्णन निम्न प्रकार से किया है-

मुत्तमम्मुत्तं दव्वं, चेयणमियरं सगं च सव्वं च।

पेच्छंतस्स दु णाणं, पच्चक्खमणिदियं होइ।। (167) नियमसार

छहों द्रव्यों में से पुद्गल द्रव्य मूर्तिक है शेष पांचों द्रव्य अमूर्तिक हैं और जीव ही चेतन है शेष पांचों द्रव्य अचेतन हैं। इन तीन काल सम्बन्धी मूर्तिक, अमूर्तिक, चेतन, अचेतन, स्वद्रव्य आदि अशेष को सतत् देखते हुए श्रीमान् अर्हत परमेश्वर भगवान् के क्रम करण और इन्द्रिय के व्यवधान से रहित अतीन्द्रिय ऐसा सकल विमल केवलज्ञान सकल प्रत्यक्ष होता है।

पर परिणति के अभाव से केवली के बन्ध नहीं

ण वि परिणमदि ण गेण्हदि उप्पज्जदि णेव तेसु अट्ठेसु।
जाणण्णवि ते आदा अबंधगो तेण पण्णत्तो।। (52)

The soul (of the coniscient), through kowing all the things, does not transform itself (under their influence), does not receive(any thing extermal) nor does it become one among them;and hence it is said to be eithout kamicbondage.

आगे पहले जो यह कहा था कि पदार्थों का ज्ञान होते हुए भी राग द्वेष मोह का अभाव होने से केवलज्ञानियों का बन्ध नहीं होता हैं, उस ही अर्थ को दूसरी तरह से दृढ़ करते हुए ज्ञान प्रपचं का संकोच करते हैं।

(आदा) आत्मा अर्थात् मुक्त स्वरूप केवलज्ञानी या सिद्ध भगवान् का आत्मा (ते जाणण्णवि) उन ज्ञेय पदार्थों का अपने आत्मा से भिन्न रूप जानते हुए भी (तेसु अट्ठेसु) उन ज्ञेय पदार्थो के स्वरूप (ण वि परिणमदि) न तो परिणमन करता है अर्थात् जैसे अपने आत्मप्रदेशों के द्वारा समतारस से पूर्ण भाव के साथ परिणमन कर रहा है वैसा ज्ञेय पदार्थों के स्वरूप नहीं परिणमन करता है अर्थात् आप अन्य पदार्थ रूप नहीं हो जाता है। (ण गेण्हदि) और न उसको ग्रहण करता है अर्थात् जैसे वह आत्मा अनन्तज्ञान आदि अनन्त चतुष्टय रूप अपने आत्मा के स्वभाव को आत्मा के स्वभाव रूप से ग्रहण करता है वैसे वह ज्ञेय पदार्थो के स्वभााव को ग्रहण नहीं करता है। (ण उप्पज्जदि) और न वह उस रूप पैदा होता है अर्थात् जैसे वह विकार रहित परमानन्दमयी एक सुखरूप अपनी ही सिद्ध पर्याय करके उत्पन्न होता है वैसा वह शुद्ध आत्मा ज्ञेय पदार्थों के स्वभाव में पैदा नहीं होता है। (तेण) इस कारण से (अबंधगो) कर्मों का बंध का कारण नहीं करने वाला (पण्णत्तो) कहा गया है।

भाव यह है कि रागद्वेष रहित ज्ञान बंध का कारण नहीं होता है, ऐसा जानकर शुद्ध आत्मा का प्राप्ति रूप है लक्षण जिसका ऐसा जो मोक्ष उससे उल्टा जो नरक आदि दुःखों की कारणभूत कर्म-बंध की अवस्था, जिस बंध अवस्था के कारण इन्द्रिय एवं मन से उत्पन्न होने वाले एकदेशज्ञान उन सर्व को त्याग कर सर्व प्रकार निर्मल ज्ञान जो कर्मबंध का कारण नहीं है उसका बीजभूत जो विकार रहित स्वंसंवेदनाओं या स्वानुभव उसमें ही भावना करने योग्य है, ऐसा अभिप्राय है।

यहा वास्तव में 'उदयगत्ताः कर्माशाः जिनवर वृषभैः नियत्याः तेषु विमूढ़ रक्तः दुष्टःवा बंध मनुभवति' इस 43 वें गाथा सूत्र में 'उदयगत पुद्गल कर्माशों के विद्यमान रहने पर (उन्हें)' सचेतन करता हुआ (अनुभव करता हुआ) मोह-राग द्वेष रूप परिणमन-स्वरूप क्रिया के साथ युक्त होता हुआ आत्म क्रियाफल-भूत बंध को अनुभव करता है, ज्ञान से नहीं। इस प्रकार प्रथम ही अर्थ-परिणमन-क्रिया के फलरूप से बंध का समर्थन किया गया है तथा 'गृह्णाति नैव न मुचंति न परं परिणमति केवली भगवान्। पश्यति समन्ततः सः जानाति सर्व निर्विशेषं इस 32 वे गाथा सूत्र में शुद्धात्मा के, अर्थ परिणमन आदि क्रियाओं का अभाव निरूपित किया गया है। इसलिये पदार्थ रूप में परिणत नहीं होने वाले, पदार्थों का ग्रहण नहीं करने वाले तथा उन पदार्थों में उत्पन्न नहीं होने वाले (उस)' आत्मा के ज्ञप्तिक्रिया का सद्भाव होने पर भी वास्तव में क्रिया फल-भूत बंध सिद्ध नहीं होता।

समीक्षा-बंध का मूल कारण वैभाविक परिणति है। जहां वैभाविक भाव है वहां बंध है परन्तु बंध वैभाविक भाव के बिना नहीं होता है। क्योंकि बंध के लिए कर्मवर्गणा में स्निग्ध-रूक्षत्व गुण तथा जीव के योग के साथ-साथ रागद्वेषात्मक वैभाविक परिणमन चाहिए। बंध प्रक्रिया का वर्णन इसी शास्त्र में आगे सविस्तार किया जायेगा इसलिए यहाँ नहीं कर रहे हैं। प्रत्येक कार्य अन्तरंग और बहिरंग कारणों से होता है। बंध भी एक कार्य है इसके लिए अन्तरंग कारण-योग-उपयोग एवम् कर्मवर्गणा में स्निग्ध-रूक्षत्व गुण हैं। कर्मवर्गणा में बंध योग्य स्निग्ध-रूक्षत्व गुण होते हुए भी जीव में बंधने योग्य वैभाविक परिणाम नहीं है तो बंध नहीं हो सकता है।

जैसे-चुम्बक में चुम्बकीय शक्ति होते हुए भी जिसमें खींचकर न आने योग्य लकड़ी पत्थर को खींच कर नहीं लाता उसी प्रकार जब केवली भगवान् राग-द्वेषादि रहित होकर वस्तु को जानते हैं परन्तु उस वस्तु में राग-द्वेषादि एवं आकर्षण और विकर्षण नहीं होता तो बन्ध नहीं होता है। केवली भगवान् शुद्ध अभेद रत्नत्रय के धारी होते हैं, और रत्नत्रय आत्मा का शुद्ध-स्व स्वरूप है। स्व-स्वरूप में कभी भी बंध नहीं होता है। पुरुषार्थ सिद्धयुपाय में आचार्य अमृतचन्द्र सूरी ने भी जिज्ञासापरक इसी सिद्धान्त का निरूपण किया है-

योगात् प्रदेशबन्धः स्थितिबन्धः स्थितिबन्धो भवति यः कषायात्तु।
दर्शनबोधचरित्रं न योगरूपं कषायरूपं च।। (215)

अब ज्ञानमार्गणा में जीवों की संख्या

चदुगदिमदिसुदबोहा पल्लासंखेज्जया हु मणपज्जा।
संखेज्जा केवलिणो सिद्धादो होंति अदिरित्त।। 461

चारो गतियों में मतिज्ञानी पल्य के असंख्यातवें भाग हैं और श्रुतज्ञानी भी पल्य के असंख्यातवें भाग हैं। मनःपर्ययज्ञानी संख्यात हैं। और केवलज्ञानी सिद्धराशि में तेरहवें और चौदह वें गुणस्थान के जिनों की संख्या मिलाने पर जो प्रमाण हो, उतने हैं।

अवधिज्ञान से रहित तिर्यंच मतिज्ञानियों की संख्या से असंख्यातवें भाग है। अवधि ज्ञान से रहित मनुष्य संख्यात हैं। मतिज्ञानियों की संख्या ये दोनों राशि घटा देने पर चारों गति के अवधिज्ञानियों का प्रमाण होता है।

पल्लासंखघणंगुलहदसेढितिरिक्खगदिविभंगजुहा।
णरसहिदा किंचूणाचदुगदीवेभंगपरिमाणं।। 463।।

पल्य के असंख्यातवें भाग से गुणित घनांगुल से जगतश्रेणि को गुणा करने पर जितना प्रमाण हो, उतने तिर्यंच, संख्यात मनुष्य तथा घनांगुल के द्वितीय मूल से जगतश्रेणिको गुणा करने पर जितना प्रमाण हो, उतने नारकियों के प्रमाण से सम्यग्दृष्टि नारकियों का प्रमाण घटाने से जो शेष रहे, उतने नारकी तथा ज्योतिषी देवों के परिमाण में भवनवासी, व्यन्तर और वैमानिक देवों का प्रमाण मिलाने पर जो सामान्यदेव राशि का प्रमाण होता है, उसमें सम्यक् दृष्टि देवों का परिमाण घटाने पर जो शेष रहे, उतने देव। इन सब तिर्यंच, मनुष्य, नारकी और देवों के प्रमाण जोड़ने पर चारों गति के विभंगज्ञानियों की संख्या होती है।

सण्णाण्णरासिपंचयपरिहीणो सव्वजीवरासी हु।
मदिसुद अण्णाणीणं पत्तेयं होदि परिमाणं।। 464।।

.मति आदि पाँच सम्यग्ज्ञानियों की संख्या केवलज्ञानियों की संख्या से कुछ अधिक है। इसको सर्वजीवराशि में से घटाने पर मतिअज्ञानी और श्रुतअज्ञानी जीव का परिमाण होता है।

प्रस्तुत कृति का उपसंहार

कुज्ञान-सुज्ञान-अज्ञान (अपूर्ण सुज्ञान) सम्पूर्ण ज्ञान

(कुदृष्टि का ज्ञान कुज्ञान, सुदृष्टि का ज्ञान सुज्ञान, छद्मस्थ का ज्ञान अल्पज्ञान, अपूर्ण ज्ञान/(अज्ञान भी), केवली-सिद्धों का ज्ञान सम्पूर्ण ज्ञान)

(चालः- 1. आत्मशक्ति....2. क्या मिलिए...)

ज्ञान की विभिन्न पर्यायों/(अवस्थाओं) को जानो,
जैन आगम के अनुसार सत्य स्वरूप मानो
कुज्ञान तीन व सुज्ञान पञ्चविध है मानो,
कुदृष्टि के कुज्ञान तो सुदृष्टि के सुज्ञान जानो।।(1)

मिथ्यादृष्टि के होते हैं तीन कुज्ञान,
कुमति कुश्रुत कुअवधिज्ञान कुज्ञान।
सुदृष्टि के होते हैं पाँचों ज्ञान ही सुज्ञान,
सुमति सुश्रुत सुअवधि मनःपर्यय केवलज्ञान।।(2)

तत्त्वार्थ श्रद्धान व आत्मश्रद्धान रिक्त होते कुदृष्टि
एकेन्द्रिय से असंज्ञी तक सभी होते कुदृष्टि।
पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च मानव व देव नारकी,
हो सकते हैं कुदृष्टि अथवा सुदृष्टि।।(3)

सम्यग्दृष्टि होते हैं चतुर्थ गुणस्थानवर्ती,
देव नारकी केवल सुदृष्टि चतुर्थ गुणस्थानवर्ती।
तिर्यञ्च सुदृष्टि हो सकते हैं पञ्चम गुणस्थानवर्ती,
देव नारकी सुदृष्टि के होते सुमतिश्रुत अवधि।।(4)

सुदृष्टि तिर्यञ्च को सुमति श्रुत ज्ञान ही होते,
सुवअधिज्ञान भी किसी को सम्भव होता।
सुदृष्टि मनुष्य को सभी गुणस्थान सम्भव,
अतएव सभी सुज्ञान भी मनुष्य को सम्भव।।(5)

पञ्चम गुणस्थान (सुदृष्टि) मानव को तीन सुज्ञान सम्भव,
षष्ठ सप्तम गुणस्थान में मनःपर्यय सम्भव।
तेरह-चौदह गुणस्थान व सिद्ध में एक ही ज्ञान;
लोकालोक प्रकाशी होता सम्पूर्ण केवलज्ञान।।(6)

चतुर्थ गुणस्थान से लेकर बारहवाँ गुणस्थानों में,
होते हैं सुज्ञान किन्तु अपूर्ण ज्ञान इसमें।(अल्पज्ञ है)
इसे कहते हैं छद्मस्थ अवस्था या क्षायोपशमिक ज्ञान,
केवलज्ञान की अपेक्षा से अपूर्णज्ञान या अज्ञान्।।(7)

सम्पूर्ण ज्ञेयों का अभी न हुआ सम्पूर्ण ज्ञान,
ज्ञानावरणीय कर्म का पूर्ण न हुआ है क्षय।
अतएव यह अवस्था होती छद्मस्थ या अज्ञान;
किन्तु नहीं (है) कुज्ञान किन्तु देश प्रत्यक्षज्ञान।।(8)

केवलज्ञान ही होता है सकल प्रत्यक्षज्ञान,
अवधि मनःपर्यय ज्ञान होते देश प्रत्यक्षज्ञान।
सुमतिश्रुत ज्ञान होते व्यवहार प्रत्यक्ष;
कुमति श्रुत होते हैं कुज्ञान आगम सम्मत।।(9)

स्व शुद्धात्मा श्रद्धान से ही होता सही श्रद्धान,
इस हेतु निमित्त होते देव शास्त्र गुरु श्रद्धान।
सप्त तत्त्व व नव पदार्थों का सही श्रद्धान
इस युक्त जो होता ज्ञान वह है सम्यक् ज्ञान।। (10)

अन्यथा पञ्चेन्द्रिय तथा मन से प्राप्त ज्ञान,
पढ़ना सुनना व स्मरण मनन आदि ज्ञान।
धर्म दर्शन विज्ञान गणित कला संस्कृति ज्ञान,
होता यह जानकारी मात्र कुमतिश्रुत ज्ञान।। (11)

जैनागम के अनुसार यह सभी वर्णन,
आत्महित ग्रहण अहित परिहार ये सुज्ञान।
अन्यथा आगमज्ञान भी नहीं है सम्यग्ज्ञान,
केवलज्ञान सम्पूर्ण ज्ञान हेतु 'कनक' प्रयत्नवान्।। (12)

स्व आत्म वैभव प्राप्ति हेतु.....!?
वन्दे तद्गुण लब्धये.....! ?

(चालः- तेरे प्यार का आसरा....2.क्या मिलिए....)
परम विकास है मेरा परम लक्ष्य,
सभी देवमानवों से भी चरम।(अधिक)।
अनन्तज्ञानदर्शनसुखवीर्य प्राप्त,
आत्मविश्वास ज्ञान चारित्र युक्त।।
तीर्थंकर केवली गणधर सिद्धसम,
मेरा लक्ष्य साधारण मानव से उच्च/(भिन्न)।
इन्द्र चक्री विद्याधर कुबेर से परे,
स्व आत्मवैभव प्राप्त करना ही लक्ष्य।।1।।

तीर्थेश होते राजकुमार से चक्री तक,
तीन-तीन पदवी के थे तीन तीर्थेश।
तथापि उनका न हुआ था परम विकास,
चरम विकास हेतु धारण किये सन्यास।।
साधु बनते ही उत्पन्न हुआ मनःपर्यय ज्ञान,
चौसठ ऋद्धि सम्पन्न भी मौन से ध्यान।
आत्म विकास हेतु ही किये सभी पुरुषार्थ,
संकल्प विकल्प व संक्लेश त्याग।।2।।

ख्याति पूजा लाभ प्रसिद्धि वर्चस्वरिक्त,
राग-द्वेष मोह रहित स्व आत्मा में ही रत।

श्रावक उचित धार्मिक क्रिया भी रहित,
पंचकल्याणक विधान प्रवचनादिरहित।।
असिमसिकृषिवाणिज्य शिल्प सेवा रिक्त,
आरम्भ परिग्रह अनुमति उद्दिष्ट रिक्त।
ये सभी तो त्याग हो जाते हैं व्रती तक,
ये सभी कैसे संभव जो महाव्रत सहित।।3।।
ये सभी अनात्म व पापकारी कार्य,
तन-मन-आत्मा के अस्वास्थ्यकर कार्य।
बुद्धिलब्धि संवेदना व आध्यात्मिक घातक,
समता शान्ति निस्पृहता घातक।(बाधक)।
अतः मैं उक्त सभी भाव-व्यवहार त्यागा,
यथाशक्ति लक्ष्यानुसार अनुभव भी किया।
स्वयं के द्वारा स्वयं को मैं पाता जा रहा हूँ,
स्व आत्म वैभव को कनक 'मैं' पा रहा हूँ।।4।।

आध्यात्म व विज्ञान परक कविता

श्रेष्ठ से श्रेष्ठतर व श्रेष्ठतम बनने हेतु.....!?

(स्वआत्मिक अनन्तगुण प्राप्ति हेतु.....!?)

(चालः- (1) आत्मशक्ति....(2) क्या मिलिए....)
श्रेष्ठ से श्रेष्ठतर श्रेष्ठतम है मेरा लक्ष्य,
अनंत आत्मिक गुण प्राप्त करना है लक्ष्य
अतएव तदनुकूल मैं भाव-व्यवहार में रत,
सामान्यजन से ले अन्यसाधु से उपरत।।(1)

स्वउपलब्धियों को अभी न मान रहा हूँ श्रेष्ठ,
अनन्तवाँ भाग तो मेरा हुआ है अभी विकास,
अभी तो अनन्तवाँ बहुभाग करना है विकास,
विज्ञान के अनुसार दिमाग का एकदशमांश।।(2)

स्वयोग्यता बढ़ाने हेतु मुझे रहना हैं शान्त,
इस हेतु मुझे त्याग करना है संकल्प-विकल्प।
इससे होंगे संक्लेश-चिन्ता आदि का विनाश,
जिससे मेरी समता व क्षमता बढ़ेगी विशेष।।(3)

इस हेतु त्याग रहा हूँ मैं 'अहंकार' व 'ममकार'
इस से नाश हो रहे हैं मेरे रागद्वेषमोह।
इस से नाश हो रहे हैं मेरे ईर्ष्याघृणा तृष्णा;
जिस से दूर हो रही है मेरी सांसारिक आकांक्षा।।(4)

इस से मैं हो रहा हूँ निस्पृह-निर्द्वन्द्व,
ख्याति पूजालाभ प्रसिद्धि वर्चस्व से निर्बन्ध।
जिससे धनजनमान सम्मान से दूर,
एकान्त मौन से स्व विकास कर रहा हूँ भरपूर।।(5)

इस से आत्मविशुद्धि बढ़ रही है तीव्र,
I.Q, E.Q, S.Q बढ़ रही है अतिशीघ्र/(तीव्र)
संतोष तृप्ति से मेरी बढ़ रही है आत्मशक्ति,
जिस से आत्मसाधना में मेरी हो रही वृद्धि।। (6)
इस से 'मैं' स्वयं में स्वयं को पा रहा हूँ,
आत्मानुभव को मैं शीघ्रता से बढ़ा रहा हूँ।
स्वआत्मिक गुणों को भी मैं शीघ्र बढ़ा रहा हूँ
'कनक सूरी' स्वआत्मा में रमण मैं कर रहा हूँ।। (7)